ओ३म्

वेदार्थ-दीपक
निरुक्तभाष्य

भाष्यकार
श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न

卐 ओ३म् 卐

वेदार्थ-दीपक

निरुक्तभाष्य

(पूर्वार्द्ध)

भाष्यकार
श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न

विक्रमसंवत् २०३३] [मूल्य ३०) सजिल्द

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी वर्ष में प्रकाशित

प्रकाशक :
आर्य कन्या गुरुकुल नरेला
दिल्ली-११००४०
दूरभाष : ८६३४०
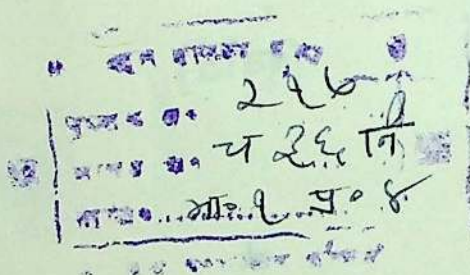
सृष्टिसंवत् १९६०८५३०७७
दयानन्दाब्द १५२
आर्यसमाज स्थापना संवत् १०१

मुद्रक :
जय्यद प्रेस बल्लीमारान, दिल्ली-६

प्रथम चार पृष्ठ, सैनी प्रिंटर्स, दिल्ली में मुद्रित

卐 ओ३म् 卐

प्रकाशक का निवेदन

वेद के षडंगों में इस वैदिक-कोष निघण्टु निरुक्त का चतुर्थ स्थान है। वेदार्थ जानने में निरुक्त परम सहायक है, इसीलिये निरुक्त को महर्षि यास्क ने वेद के तृतीय अंग व्याकरण का पूरक भी कहा है "तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थ-साधकं च"। सृष्टि के आरम्भ से ही वेदार्थ जानने के लिये ऋषि-महर्षि लोग वेद के अनेकार्थक, दुरूह और पर्यायवाची शब्दों (पदों) को निघण्टु के रूप में एकत्र करके उनके भाष्य रूप में निरुक्त ग्रन्थ का लेखन करते आये हैं। जैसे बृहस्पति, काश्यप, औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटीकि, गालव, स्थौलष्ठीवि, क्रौष्टुकि, कात्थक्य, कौत्सव्य, यास्क आदि। यास्कनिरुक्त में स्मृत कौत्स पदकार था। वर्तमान में महर्षि यास्क द्वारा समाम्नात निघण्टु तथा उन्हीं का किया निघण्टुभाष्य-निरुक्त मिलता है।

समय-समय पर अनेक विद्वान् इसका संस्कृत और हिन्दी में भाष्य करते रहे हैं। क्षीर स्वामी, देवराज यज्वा, निरुक्तवार्तिककार, वर्बर स्वामी, दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर, श्रीनिवास, नीलकण्ठ गार्ग्य, वररुचि, पं० अखिलानन्द शर्मा, राजाराम शास्त्री, प० चन्द्रमणि, छाजूराम शास्त्री, उमाशंकर ऋषि, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पं० भगवद्दत्त अनुसन्धानकर्त्ता इत्यादि पुरातन और नूतन विद्वानों ने निघण्टु निरुक्त पर स्वतन्त्र टीकायें, संस्कृत तथा हिन्दी में भाष्य लिखे हैं।

आर्ष पद्धति से अध्ययन करने वाले छात्र छात्राओं के लिये इस समय निरुक्त का कोई अच्छा और वेदानुकूल सुबोध भाष्य नहीं मिल रहा था। यह अभाव अनेक वर्षों से हमें खटक रहा था। पण्डित चन्द्रमणि विरचित निरुक्त का यह हिन्दी भाष्य भी सन् १९२६ में प्रकाशित हुवा था। तभी से इस ग्रन्थ की उपादेयता को देखते हुये इसकी मांग निरन्तर हो रही थी। अब श्रीयुत स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती की बार-बार प्रेरणा और सहायता से हमने इसका पुनः प्रकाशन किया है। हमने तथा हमारे छात्र छात्राओं ने संस्कृत हिन्दी के अनेक निरुक्त भाष्य देखे और पढे हैं, किन्तु इतना सरल, सुगम तथा वैदिक सिद्धान्तानुकूल भाष्य और कोई दृष्टिगोचर नहीं हुवा। अत एव हमने इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करने का व्ययसाध्य कार्य किया है। आशा है संस्कृत के प्रेमी छात्र-छात्रायें और विद्वज्जन इसको अपना कर हमारा उत्साह वर्द्धन करेंगे।

निवेदिका

कुमारी सुमित्रा आचार्या

कन्या गुरुकुल नरेला

दिल्ली-११००४०

* ओ३म् *

पूर्ववचन ।

वेद के विषय में प्राचीन ऋषिओं ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इन शब्दों में अपनी सम्मति प्रकट की है। उसी को तत्पश्चात् शङ्कराचार्य ने "ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्या-स्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म" इन वचनों में प्रदर्शित किया। और फिर ऋषि दयानन्द ने उसी सम्मति को कार्य में परिणत करने के लिए "वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"— यह आदेश किया। एवं, जिस सिद्धान्त का प्राचीन ऋषिओं ने प्रस्ताव किया, वैदिक-विद्या-प्रदीप शङ्कराचार्य ने अनुमोदन किया और महर्षि दयानन्द ने समर्थन किया, उस सर्व-सत्यविद्या-भण्डार वेद का समझना मुझ जैसे अल्पविद्य, अल्पश्रुत तथा साधारण व्यक्ति के लिए अतिदुष्कर है!

'निरुक्त' को वेद-विद्या-निधि की कुञ्जी समझा जाता है। उस कुञ्जी के रहस्य को जतलाते हुए वेद-निधि का उद्घाटन करना मुझ जैसे व्यक्ति के लिए केवल दुस्साहस-मात्र है।

मैं समझता हूं कि सम्भवतः मेरा यह दुष्कर प्रयत्न कालिदास के निम्नलिखित कुछ परिवर्तित शब्दों के अनुसार अत्यन्त उपहास-जनक हो—

> क्व निरुक्तार्थगाम्भीर्यं क्व चाल्पविषया मतिः।
> तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥

अर्थात्, कहां निरुक्त के अर्थ की गम्भीरता, और कहां मेरी अल्पज्ञ बुद्धि। मैं दुस्तर समुद्र को मोहवश होकर छोटी सी डोंगी से तैरने की इच्छा कर रहा हूं। और, जिस प्रकार कोई अत्यन्त छोटे क़द वाला मनुष्य बहुत ऊंचे लगे हुए फल को तोड़ने के लिए लोभवश ऊपर की ओर हाथ उठाता है, उसी प्रकार मैं मन्दमति वेदज्ञ पण्डितों के यश की कामना करता हुआ उपहास-पात्र बनूंगा। परन्तु फिर भी मैंने वैदिक-ज्योति से प्रेरित होकर वेद के स्वाध्याय में पाठकों की रुचि बढ़ाने के लिये यह दुस्साहस- कर्म किया है।

अब तक जितने भी निरुक्त-भाष्य हुए हैं, वे सब निस्सन्देह भाष्यकारों की अपूर्व विद्वत्ता और प्रयत्नशीलता को प्रकटित करते हैं। मैं उनके आगे अपने आप को तुच्छ ही समझता हूँ। परन्तु मेरी अल्प-मति में वे भाष्य यास्काचार्य के आशय के विपरीत ही पड़ते दिखाई देते हैं। उन भाष्यों से वेदार्थ का बोध होना तो दूर रहा, उलटा पाठक लोग बड़े विशाल भ्रम-भंवर में भ्रमित हो जाते हैं। मैंने इस भाष्य में उस भंवर को दूर करने का यत्किञ्चित् प्रयत्न किया है। मैं उस में कहां तक सफल हुआ हूँ, इस का निर्णय पाठक लोग ही कर सकेंगें।

मैंने इस भाष्य में अनेक त्रुटिएं अवश्य की होगीं। परन्तु जैसे नीर-मिश्रित क्षीर में से क्षीर को हंस निकाल लेता है, एवं आप लोग यदि इस ग्रन्थ में कोई अच्छी बात हो, तो उसे ग्रहण कीजिए और बुराई को छोड़ दीजिए।

पाठक गण ! एक बात की ओर आप का ध्यान अवश्य दिलाना है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' अर्थात् सूत्र वेद-मन्त्रों के तुल्य हैं। अतः, जिस प्रकार सूत्र अत्यन्त संक्षेप से वर्णन करते हैं और उनका स्पष्टीकरण बड़े २ अनेक भाष्य-ग्रन्थों से होता है, उसी प्रकार वेद को समझना

चाहिए। इस सिद्धान्त को सामने रखते हुए यदि पाठक लोग वेद का स्वाध्याय करेंगे, तो उन की अनेक शङ्कायें स्वयमेव दूर हो जावेगीं।

इस प्रसङ्ग में प्रातःस्मरणीय पूज्यास्पद अपने आचार्यवर्य श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित किये विना नहीं रह सकता, जिन के असीम प्रयत्न से गुरुकुल-माता की गोद में बैठ कर मैंने वैदिक-शिक्षा ग्रहण की, और इस योग्य बन सका कि आप लोगों की कुछ सेवा कर सकूं।

इस स्थल पर प्रस्तुत निरुक्त-भाष्य के संबन्ध में अघटित घटना का भी कुछ उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है। मैंने पाठकों को विश्वास दिलाया था कि श्रीमद्दयानन्द-जन्मशताब्दी से पूर्व सम्पूर्ण निरुक्त-भाष्य उनकी सेवा में प्रस्तुत करूँगा। परन्तु मैं इस को निबाहने में सफल नहीं हो सका।

१२ आश्विन (२८ सितम्बर) को गुरुकुल-भूमि में बड़ी भयङ्कर बाढ़ आई, २२६ पृ० तक मुद्रित यह पुस्तक और संपूर्ण कागज़ जल-प्रवाह में प्रवाहित हो गया। तीन दिन के पश्चात् कुछ दूरी पर वह सब सामान मिल गया। और, आश्चर्य यह कि उसी अलमारी में एक दूसरी पुस्तक और भी थी, जो सम्पूर्ण छपी पड़ी थी, उस की एक कापी भी नहीं बची, परन्तु यह निरुक्त-भाष्य प्रायः बचा रहा। इस से मुझे परमेश्वर की ओर से बड़ा उत्साह मिला, और पुस्तक छपनी प्रारम्भ हो गई। प्रेस के भी बह जाने से तीन मास कार्य बन्द रहा, अन्यथा दूसरा भाग भी मुद्रित हो जाता। अब यदि पाठकों ने उत्साह दिलाया तो दूसरा भाग भी अतिशीघ्र उनकी सेवा में प्रस्तुत कर सकूंगा।

पाठकों से निवेदन।

१. समालोचनात्मक विस्तृत भूमिका, तथा निघण्टुकोष के शब्दों, और निरुक्त-भाष्य में आये मन्त्रों और विशेष पदों की वर्णानुक्रम से सूचि उत्तरार्ध में दी जावेगी।

२. निरुक्त में मंत्रों के आगे जहां २ तीन अङ्क हों, वे सब मंत्र ऋग्वेद के समझने चाहिएं।

३. नैगम-काण्ड में निघण्टुकोष के शब्दों को कोष्ठों में देते हुए आगे यास्क-भाष्य दिया है। निरुक्त-भाष्य में निरुक्त के किसी स्थल का प्रमाण देने के लिये जो दो अङ्क दिये गये हैं, उन में से पहला अध्याय का और दूसरा खण्ड या शब्द का है।

४. यदि कोई विद्वान् महानुभाव इस पुस्तक को पढ़कर हित की दृष्टि से कोई भूल बतलायेंगें, या किसी नवीन बात का परिचय करावेंगें, तो उन का मैं कृतज्ञ होता हृदय से स्वागत करूँगा और दूसरे संस्करण में संशोधन कर दूंगा। शमित्यो३म्।

गुरुकुल कांगड़ी
१४ माघ १९८९

चन्द्रमणि

* ओ३म् *

वेदार्थदीपक पूर्वार्ध पर

कुछ एक सम्मतियें ।

'निरुक्त' वेद-निधि की कुञ्जी है, यह किम्वदन्ती बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु इस किम्वदन्ती के इतिहास को वेदप्रेमी प्रायः नहीं जानते। महाभारत में लिखा है कि 'निरुक्त' के प्रचार के बिना वैदिक कर्मकाण्ड और वेदप्रचार सर्वथा लुप्त होगया था। इसे देख कर 'यास्क' ऋषि को बड़ा दुःख हुआ और वैदिक कर्मकाण्ड के प्रचार के लिए फिर से निरुक्तशास्त्र का निर्माण किया।

वेद के प्रेमी सज्जनो ! यदि अब फिर वैदिक कर्मकाण्ड और वेद का प्रचार सच्चे अर्थों में करना है, तो आप 'निरुक्त' को अवश्य पढ़िये। इस में विविध विषयों के ७३४ वेदमंत्रों और ३२ शाखा-मंत्रों की व्याख्या भी आगयी है। विषयों, मंत्रों, निघण्टु-निरुक्त-पदों तथा निरुक्तस्थ अन्य विशेष शब्दों आदि की वर्णानुक्रमी से अनेक सूचियें देकर ग्रन्थ को अधिक लाभप्रद बनाया गया है। देखिए प्रसिद्ध विद्वानों ने 'वेदार्थ दीपक' पूर्वार्ध पर क्या सम्मतियें दी हैं—

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज—गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के वेदोपाध्याय श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार पालिरत्न ने मातृभाषा हिन्दी में निरुक्त का अनुवाद और व्याख्या करके आर्यजगत् का बड़ा उपकार किया है। इस में सन्देह नहीं कि निरुक्त की वर्तमान टीकाओं द्वारा वेदार्थ में बहुत से भ्रम उत्पन्न होजाते हैं, उनके दूर करने का यथाशक्ति बहुत उत्तम प्रयत्न किया गया है। मेरी सम्मति में प्रत्येक वैदिकधर्मी के निजू पुस्तकालय में इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिये।

श्रीयुत महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ जी झा एम. ए. पी. एच डी. वाइसचान्सलर इलाहाबाद युनिवर्सिटी—I find that you have devoted much time and attention to the important work. I have all along felt that the Nirukta has not received that attention from us which its importance demands. It is refreshing therefore to older workers like myself to find that among the younger generation we have such highly qualified workers on the Nirukta as yourself. My only hope is that this first part will receive enough support from the leading public to enable you to bring out the rest of the work.

श्रीयुत महामहोपाध्याय श्रीप्रमथनाथ देवशर्मा जी तर्कभूषण, प्रिन्सिपल संस्कृतकालेज हिन्दूविश्वविद्यालय काशी—

अध्यापकश्रीचन्द्रमणिविद्यालंकारपालीरत्नमहोदयैन विरचय्य प्राकाश्यं नीतस्य वेदार्थदीपकनिरुक्तभाष्याख्यग्रन्थस्य पूर्वार्द्धं समधिगम्य पर्यालोचयतो मम समजनि खलु सुमहान् सन्तोषभरः। हिन्दीभाषया साम्प्रतमिमं सुसारं बहुप्रयोजनं ग्रन्थं निर्म्माय प्रका-शयन् विद्यालङ्कारमहोदयः श्रौतसाहित्यतत्त्वबुभुत्सूनां हिन्दीभाषा-विदां सर्वेषां महान्तमुपकारं साधितवानित्यस्मिन् विषये मन्ये न कस्यापि विप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हतीति। यास्काचार्यकृतस्यातिकठिनस्य निरुक्तभाष्यग्रन्थस्यैतादृशं सरलं सुशैलीसन्नद्धं बहुसारं व्याख्यानं हिन्दीभाषया विरचयतोऽस्य विद्यालङ्कारमहोदयस्य गभीरं पाण्डित्यं सूक्ष्मार्थवीक्षणप्रकाशनयोरसाधारणं सामर्थ्यञ्च सर्वैरेव सहृदयै-रवश्यमेव प्रशंसनीयमित्यत्र नास्ति मे संशयलेशस्याप्यवसर इति निःसङ्कोचं विज्ञापयति श्रीप्रमथनाथदेवशर्मा।

श्री पं० गोपीनाथ जी कविराज एम. ए. प्रिन्सिपल गवर्नमैंण्ट संस्कृत कालेज काशी — I have carefully gone through the pages of the Vedartha dipaka Nirukta Bhasya Vol.I

by Professor Chandramani Vidyalankara Paliratna. It is a brilliant attempt in Hindi to illuminate along original lines the text of Yaska. Though the interpretation differs materially from the traditions of the schools, it appears in several places to have a distinct merit of its own and deserves admiration. There is no gainsaying the fact that the production is a monument of close study and laborious research in the field of Vedic exegesis.

श्री पं० घासीराम जी एम. ए. प्रधान आर्यप्रतिनिधिसभा संयुक्तप्रान्त मेरठ—मैंने आपका निरुक्त पूर्वार्द्ध भाष्य पढ़ा। आपने जिस अनुशीलन और परिश्रम से उसे लिखा है और जिस सुबोध और सरल शैली में गूढ़ स्थलों का मर्मोद्घाटन किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। अब तक इस ढङ्ग का भाष्य निरुक्त का नहीं लिखा गया था। मैं आप को इस के लिये हृदय से बधाई देता हूं। आपने इसे लिख कर न केवल अपने यश का विस्तार किया है वरन् गुरुकुल की कीर्त्ति को भी विस्तृत किया है। अब तक गुरुकुल से वेदों के स्वाध्याय के विषय में बहुत कम काम हुआ है, आपने इस अत्युत्तम भाष्य को लिख कर उस लाञ्छन को भी बहुत अंशों तक दूर किया है। समस्त आर्यजनता को आपका उपकृत होना चाहिये। आपके भाष्य से वेदार्थ समझने में अमूल्य सहायता मिलेगी। आपने यह बहुत ही उत्तम किया है कि ग्रन्थ में आए हुए वेदमंत्रों की प्रतीकों का ही अर्थ करके संन्तोष नहीं किया वरन् पूरे मंत्र उद्धृत करके उनका सरल शब्दों में अर्थ कर दिया है। आपका भाष्य न केवल संस्कृतज्ञों के ही काम का है वरन् केवल आर्यभाषा जानने वालों के लिये भी बहुत लाभदायक है। आशा है आप उत्तरार्द्ध भाष्य भी शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

श्री प्रो० रामदेव जी प्रिन्सिपल गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी—The volume before us bears marks of extensive

study and hard work. It deserves to be patronised by all interested in the study of the primeval scripture of humanity. Professor Chandramani's work has placed the study of the vedas within easy reach of those who are not sanskrit scholars. We trust the volume will command a wide sale.

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी संपादक 'वैदिक धर्म'—
श्री पं० चन्द्रमणि जी निरुक्त का परिशीलन आज कई वर्षों से कर रहे हैं। निरुक्तशास्त्र का विशेष रीति से अध्ययन करना उनके लिये विशेष हृदयङ्गम इस लिये हुआ कि उनको संस्कृत हिन्दी अंग्रेजी के अतिरिक्त पाली आदि प्राकृत भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान है। प्राकृत आदि अनेक भाषाओं के ज्ञान के बिना निरुक्त का अध्ययन उतना हृदयङ्गम नहीं हो सकता, यह बात निरुक्त के साथ परिचय रखने वाले स्वयं जान सकते हैं। इस लिये पण्डित जी की योग्यता निरुक्त का अध्ययन करने के लिये जैसी चाहिए वैसी है और इसी लिये वे ऐसा सुयोग्य ग्रन्थ बना सके हैं। केवल हिन्दी जानने वाले भी इस ग्रन्थ से अत्यन्त लाभ प्राप्त कर सकते हैं, इतना सुगम यह ग्रन्थ हुआ है। हर एक वैदिक ज्ञान का प्रेमी इस ग्रन्थ से अवश्य प्रेम करेगा।

श्री मा० आत्माराम जी एज्युकेशनल इन्स्पेक्टर बड़ोदा—
मैंने आपका वेदार्थदीपक निरुक्तभाष्य देखा। इस ग्रन्थ ने एक भारी कमी को पूर्ण किया है। इस अनुसंधान-युग में प्रत्येक समाज, प्रत्येक पुस्तकालय, प्रत्येक गुरुकुल, प्रत्येक विद्यालय तथा प्रत्येक महाविद्यालय में आपके इस उपयोगी ग्रन्थ की एक प्रति होनी चाहिए—ऐसा मेरा दृढ़ मत है। इस के प्रकाशन पर मैं आपको मंगलवाद कहता हूं। आपका श्रम सफल है।

---:०:---

ओ३म्

वेदार्थदीपक--भूमिका ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

इस भूमिका में हम संक्षेप से, निघण्टुकर्ता कौन है ? यास्कीय निरुक्त कितना है ? यास्क की जीवनी क्या है ? और देवराज तथा दुर्गाचार्य का काल कौन सा है ? इन चार विषयों पर कुछ विवेचन करेंगे ।

निघण्टु-कर्ता कौन है

निरुक्त के मूलभूत पञ्चाध्यायी निघण्टु कोष की संपूर्ण शब्दसंख्या १७८३ है, जो कि इस प्रकार है—नैघण्टुककाण्ड = प्रथमाध्याय ४१५, द्वितीयाध्याय ५१६, और तृतीयाध्याय ४१३ । नैगमकाण्ड = चतुर्थाध्याय २७८ । दैवतकाण्ड = पंचमाध्याय १५१ ।

इस 'निघण्टु' का कर्ता कौन है, यह विषय जितने बड़े महत्त्व का है, शोक है कि उतना ही अधिक आधुनिक विचारकों का विवाद-क्षेत्र बना हुआ है ।

कई विद्वान् यास्काचार्य को ही निघण्टु-प्रणेता समझते हैं, और कई इस से सहमत न होकर यास्क-भिन्न किसी अन्य आचार्य का बनाया हुआ बतलाते हैं । हमारी सम्मति में उपर्युक्त दोनों पक्ष किसी सीमा तक सच्चे भी हैं और झूठ भी हैं । यदि यह माना जावे कि 'निघण्टु' का आदिकर्ता यास्क है, तो यह असत्य है । और इसी प्रकार यदि यह कहा जावे कि वर्तमान निघण्टु यास्ककृत नहीं, किसी अन्य आचार्य का है, तो यह भी ठीक नहीं ।

हमारी सम्मति में दोनों पक्षों का समन्वय करते हुए सचाई यह है कि 'निघण्टु' अतिप्राचीन काल से 'वृषाकपि' आचार्य का बनाया हुआ प्रचलित था। यास्काचार्य ने उसका अपनी मति के अनुसार संशोधन करके उसे वर्तमान 'निघण्टु' का स्वरूप दिया, और उसी परिष्कृत 'निघण्टु' पर 'निरुक्त' नामक भाष्य लिखा। अपनी स्थापना की पुष्टि में हम निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) निरुक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यास्काचार्य लिखते हैं—तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते······ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः' अर्थात्, इस 'समाम्नाय' को 'निघण्टु' नाम से पुकारते हैं। और निश्चय पूर्वक वेदार्थ-ज्ञापक होने से यह 'निगन्तु' से निघण्टु' है, ऐसा औपमन्यव आचार्य 'निघण्टु' का निर्वचन करता है। यहां यास्काचार्य ने बतलाया कि जिसे मैं 'समाम्नाय' कहता हूं, उसे ही अन्य निरुक्तकार 'निघण्टु' कहते हैं, और औपमन्यव ने 'निघण्टु' का निर्वचन यह किया है। इस से स्पष्ट है कि 'निघण्टु' यास्क से प्राचीन है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य 'तमिमं समाम्नायं' इत्यादि प्रकरण न लिखते।

(२) आप्री-देवताओं में के 'त्वष्टा' देवता की व्याख्या में यास्काचार्य लिखते हैं—'माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निरिति शाकपूणिः' (५४७ पृ०)। यहां पूर्वपक्ष दर्शाते हुए आचार्य कहते हैं कि मध्यम स्थान में 'त्वष्टा' के परिगणन से, यहां आप्रीसूक्तगत 'त्वष्टा' का अर्थ मध्यमस्थानीय वायु है, ऐसा कई आचार्य मानते हैं, परन्तु शाकपूणि इसका अर्थ पृथिवीस्थानीय अग्नि ही करता है। एवं 'मध्यमे च स्थाने समाम्नातः' इस पूर्वपक्षीय युक्ति से स्पष्ट है कि 'निघण्टु' यास्क से प्राचीन है। यदि 'निघण्टु' यास्ककृत ही होता तो यास्क से पहले निरुक्तकार यह युक्ति कैसे दे सकते थे।

(३) 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः······इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः (८९ पृ०) इत्यादि प्रकरण में यास्काचार्य 'निघण्टु' की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए 'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः' से स्पष्ट-

तथा 'निघण्टु' को अपने से भी अतिप्राचीन बतला रहे हैं । यदि किसी को सन्देह हो कि यहां 'इमं ग्रन्थं' निघण्टु का निर्देश करता है, इस में क्या प्रमाण है, तो आप अगले ही पृष्ठ पर (६० पृ०) देखिये कि यास्काचार्य स्वयं 'निघण्टु' के विभाग प्रदर्शित करते हुए आपके सन्देह को दूर कर रहे हैं ।

(४) 'निघण्टु' के चतुर्थाध्याय के बारे में यास्काचार्य, उसकी व्याख्या के प्रारम्भ में, लिखते हैं 'तदैकपदिकमित्याचक्षते' (२४० पृ०) और इसीप्रकार पंचमाध्याय की व्याख्या के प्रारम्भ में 'तदैवतमित्याचक्षते' (४५७ पृ०) लिखा है। एवं यहां बतलाया गया है कि आचार्य लोग चतुर्थाध्याय को 'ऐकपदिक' और पंचमाध्याय को 'दैवत' के नाम पुकारते हैं । यास्क का यह कथन तभी संगत हो सकता है जब कि 'निघण्टु' उन से पहले ही उपस्थित हो और उन अध्यायों की उपर्युक्त संज्ञायें प्रसिद्ध हों ।

(५) इन के अतिरिक्त पांचवां हेतु यह है कि यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में स्थान २ पर 'इति नैरुक्ताः' लिखते हुए नैरुक्त-संप्रदाय का स्मरण किया है, और साथ ही भिन्न २ स्थलों में चौदह निरुक्तकारों के नामों का भी उल्लेख किया है (८२४ पृ०) । यदि यास्क से पहले 'निघण्टु' नहीं था, तो इन भिन्न २ निरुक्तकारों ने कौन से 'निघण्टु' पर भाष्य किए थे। इन पांच हेतुओं से यह बात असंदिग्ध है कि 'निघण्टु' ग्रन्थ यास्ककृत नहीं, अपितु उनसे पहले ही उपस्थित था ।

(६) दैवतकाण्ड की भूमिका के अन्त में यास्काचार्य लिखते हैं—"तान्यप्येके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नानात् । यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने" इसकी व्याख्या ४६७ पृ० पर देखिए । यहां यास्काचार्य ने अन्य आचार्यों से मतभेद प्रदर्शित करते हुए स्पष्टतया कहा है कि मैं विशेष्यपदों को ही निघण्टु कोष के दैवतकाण्ड में पढ़ता हूं, विशेषण-शब्दों को नहीं । एवं, यास्क के इस कथन से स्पष्ट है कि 'निघण्टु' में समय २ पर आचार्य लोग अपनी मति के अनुसार घटती बढ़ती

करते रहे हैं, और यास्काचार्य ने भी उसमें कुछ परिवर्तन करके उसे वर्तमान निघण्टु का स्वरूप दिया है।

एवं, स्पष्ट है कि यद्यपि 'निघण्टु' यास्काचार्य से बहुत प्राचीन है, परन्तु आचार्य ने उस में कुछ परिवर्तन अवश्य किया है, जैसे कि अन्य आचार्यों ने भी यथामति पहले किया था। अतः, यास्क निघण्टु-कर्ता नहीं, अपितु निघण्टु-परिष्कर्ता है।

अब, यह देखना शेष रह गया कि निघण्टु का कर्ता यदि यास्क नहीं तो कौन है। महाभारत के शान्तिपर्व के ३४२ अध्याय में निम्नलिखित दो श्लोक (८८,८९) पाये जाते हैं—

वृषो हि भगवान्धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥

महाभारत के इस संपूर्ण प्रकरण को पढ़ने से विदित होता है कि यहां 'कृष्ण' अर्जुन के प्रति अपनी महिमा को प्रदर्शित कर रहा है। यहां कृष्ण से अभिप्राय चित्ताकर्षक परमेश्वर है, और अर्जुन (शुक्ल) शुद्ध पवित्र सतोगुणी भगवद्भक्त है। इस प्रकरण में प्रभु-महिमा इस प्रकार बखानी गयी है कि उस के साथ २ प्राचीन इतिहास की झलक भी दृष्टिगोचर होजाती है। उपर्युक्त श्लोकों का शब्दार्थ इसप्रकार है-

हे अर्जुन ! भगवान् 'धर्म' लोकों में 'वृष' के नाम से विख्यात है। निघण्टु-पदों के कथन में तू मुझे उत्तम 'वृष' जान। 'कपि' का अर्थ है वराह और श्रेष्ठ, और धर्म को 'वृष' कहते हैं, इस लिये प्रजापति कश्यप ने मुझे वृषाकपि कहा।

एवं, इस प्रसङ्ग से विदित होता है कि 'धर्म' नाम वाला कोई आचार्य 'वृष' नाम से संपूर्ण पृथिवी पर किसी समय सुविख्यात था। उस ने 'निघण्टु' ग्रन्थ का निर्माण किया था। धर्मश्रेष्ठ होने के कारण इस 'वृष' के गुरु प्रजापति 'कश्यप' ने इस का दूसरा नाम

वृषाकपि' रखा हुआ था। इस 'वृष' ने तो वेदों में से कुछ एक शब्दों को चुनकर एक छोटा सा संग्रह-ग्रन्थ निघण्टु कोष ही बनाया था, परन्तु परमेश्वर ने विश्वकोष 'वेद' बनाया है, अतः परमेश्वर 'उत्तम वृष' है। और इसीप्रकार क्योंकि संसार में परमेश्वर से अधिक या तत्समान कोई धर्मश्रेष्ठ नहीं, अतः वह 'वृषाकपि' भी है।

एवं, इन श्लोकों से पता लगता है कि 'निघण्टु' के कर्ता का नाम वृष या वृषाकपि था, और उस का आचार्य 'प्रजापति कश्यप' था।

यद्यपि महाभारत की इस साक्षी के सिवाय एतद्विषयक अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तथापि यह अकेला ही प्रमाण बड़ा स्पष्ट और पुष्ट है, और इस में कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि महाभारत की इस साक्षी पर पूर्णरूप से विश्वास क्यों न किया जावे।

यास्कीय निरुक्त कितना है

इस के पश्चात् यास्कीय निरुक्त कितना है, यह दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय भी बड़ा विवादास्पद है।

(१) देवराजयज्वा ने निघण्टुटीका की भूमिका में "भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक-नैगम-दैवताकाण्डरूपेण त्रिविधं गवादिदेवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता" ऐसा लिखा है। इसको देख कर सत्यव्रत सामश्रमी ने यह परिणाम निकाला है कि देवराजयज्वा को द्वादशाध्यायी निरुक्त ही यास्कीय अभिप्रेत था। परन्तु यह उनकी भूल है। यज्वा ने तो यहां यह कहा है कि यास्क ने नैघण्टुक नैगम और दैवताकाण्ड, इन तीन विभागों में विभक्त, 'गो' से लेकर देवपत्नी तक के, समाम्नाय (निघण्टु) का व्याख्यान किया है। एवं, जिस प्रकार यज्वा ने अप्रासंगिक होने के कारण 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यादि यास्कभूमिका का विशेषतया निर्देश नहीं किया, उसी प्रकार दैवतकाण्ड के परिशिष्ट का भी निर्देश नहीं हो सकता था। अतः, हम यज्वा के उपर्युक्त लेख से कुछ भी परिणाम नहीं निकाल सकते कि उसे कितना निरुक्त यास्कीय अभीष्ट था।

(२) दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में "अथास्यैवम-खिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थस्य संग्रहः" इत्यादि प्रसंग से "विद्या-पारप्राप्त्युपायोपदेशः, मंत्रार्थनिर्वचनफलं, दैवताताद्भाव्यम्—इत्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः" तक यास्कीय निरुक्त के संक्षेप से ३७ विषय परिगणित किये हैं। उन में से अन्तिम दो विषय १३ वें अध्याय के हैं, और इसी अध्याय तक दुर्ग ने निरुक्तवृत्ति भी लिखी है। इसके अतिरिक्त १३ वें अध्याय की समाप्ति पर निम्न लिखित पाठ पाया जाता है—"इति ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ अष्टा-दशाध्यायस्य (त्रयोदशाध्यायस्य) प्रथमः पादः। जम्बूमार्गाश्रमवासिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ अष्टादशाध्यायः (त्रयोदशाध्यायः) समाप्तः। इति सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्व-र्थानाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता"

दुर्गाचार्य ने निघण्टु के पांच अध्यायों को मिला कर निरुक्त के अध्यायों की गणना की है, पाठक इसे ध्यान में रखें।

भिन्न २ निरुक्तों में अध्याय-गणना भिन्न २ प्रकार से पायी जाती है। कईयों में तो यथामुद्रित चौदह अध्याय मिलते हैं और कईयों में चौदहवां अध्याय तेरहवें अध्याय में सन्निविष्ट करके तेरह अध्याय ही पाये जाते हैं। अतएव दुर्ग ने 'अष्टादशाध्यायः समाप्तः' और 'सपादसप्तदशाध्यायी' ये दोनों ही मत उल्लिखित कर दिये हैं।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी का विचार है कि दुर्गाचार्य को निरुक्त के १३ अध्याय ही ज्ञात थे, चौदहवां अध्याय उस समय तक नहीं बना था। यदि चौदहवां अध्याय भी विद्यमान होता तो, उस पर भी अवश्य वृत्ति लिखता। परन्तु सामश्रमी का यह विचार नितान्त भ्रमपूर्ण है। 'सपादसप्तदशाध्यायी' से स्पष्टतया विदित होता है कि तेरहवें अध्याय के अन्य भी पाद हैं, अन्यथा 'इति अष्टा-दशाध्यायी' ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता, ऐसा लिखना चाहिए था। तेरहवें अध्याय के अवशिष्ट पादों को ही दूसरे लोग चौदहवां अध्याय कहते हैं।

इसके अतिरिक्त १० वें अध्याय के १४ वें देवता 'क' पर वृत्ति करते हुए दुर्गाचार्य लिखते हैं—"उदाहरिष्यति च 'अथैतं महान्तमात्मानम्' इत्यधिकृत्य 'क ईपते तुज्यते' इति।"

यहां पर दुर्गने जिस अग्रिम यास्कीय पाठ का निर्देश किया है वह चौदहवें अध्याय का है। १४ अ० १२ ख० (७८६ पृ०) में उल्लिखित 'अथैतं महान्तमात्मानम्' का अधिकार करके उसी अध्याय के २६ वें खरड (७६४ पृ०) में 'क ईपते तुज्यते' आदि मंत्र दिया गया है। इस चौदहवें अध्याय के कुल ३७ खरड हैं, जिन में से २६ वें खरड का निर्देश दुर्गाचार्य स्वयं कर रहा है। एवं, यह बात सर्वथा असंदिग्ध और निश्चित है कि वृत्तिकार को निरुक्त के १४ वें अध्याय का भी पूर्ण ज्ञान था। इतना होने पर भी जो दुर्ग ने चौदहवें अध्याय पर वृत्ति नहीं लिखी, इसका कारण मुझे तो यही ज्ञात पड़ता है कि उस अध्याय के पाठ अत्यन्त अशुद्ध उपलब्ध होने के कारण उन पर कुछ टीका टिप्पणी करना, विवादग्रस्त समझ कर, उचित नहीं समझा और इसलिये उस पर वृत्ति नहीं लिखी।

दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में "अयञ्च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः। तस्येदमादिवाक्यम् समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः" लिखते हुए निरुक्त के जिन १२ अध्यायों का उल्लेख किया है, उससे पाठक इस भ्रम में न पड़ जावें कि दुर्ग को निरुक्त के १२ अध्याय ही यास्कीय अभीष्ट थे। अपितु यहां दुर्ग पञ्चाध्यायी 'निघण्टु' के निरुक्तभाष्य' की ओर निर्देश कर रहा है, न कि संपूर्ण निरुक्त ग्रन्थ की ओर। 'निघण्टु' का निरुक्तभाष्य १२ वें अध्याय की समाप्ति पर संपूर्ण हो जाता है, अगले दो अध्याय परिशिष्ट रूप से संनिविष्ट हैं, अतः यहां उनका उल्लेख करना उचित न था।

(३) सायणाचार्य ने ऋक्संहिताभाष्य-भूमिका में लिखा है "तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे"। इससे पता लगता है कि सायण १३ वें अध्याय को भी १२ वें अध्याय के अन्तर्गत समझ कर द्वादशाध्यायी निरुक्त को यास्कीय मानता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सायण की सम्मति में निरुक्त

१३ वें अध्याय पर्यन्त यास्कीय है चौदहवां अध्याय यास्कीय नहीं। अतएव उसने ऋग्भाष्य में त्रयोदशाध्यायान्तर्गत वेदमंत्रों की व्याख्या करते हुए दो मंत्रों को छोड़ कर सर्वत्र निरुक्त का प्रमाण उद्धृत किया है। परन्तु 'द्वा सुपर्णा सयुजा' आदि मंत्र-व्याख्या के प्रसङ्ग में "अत्र द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ, इत्यादि निरुक्तगतमस्य मंत्रस्य व्याख्यासमनुसन्धेयम्" लिखते हुए सायण ने निरुक्त के १४ वें अध्याय की ओर भी (७६६ पृ०) निर्देश किया है। इस से तो पता लगता है कि सायण को निरुक्त का चौदहवां अध्याय भी परिज्ञात था।

एवं, इस पूर्वापर-विरोधी विचित्र पहेली को सुलझाने के लिए पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने तर्क किया है कि सम्भवतः यह पाठ सायणभाष्य में किसी पाठक ने टिप्पणी के रूप में लिखा होगा, पीछे लेखक-प्रमाद से सायणभाष्य के अन्तर्गत लिखा गया, वास्तव में यह उद्धरण सायणाचार्य ने नहीं दिया।

यह पहेली की बूझ कुछ सन्तोषजनक नहीं। सायण से पूर्ववर्ती दुर्गाचार्य के समय तो निरुक्त का चौदहवां अध्याय उपस्थित था, जैसे कि हम अभी सिद्ध कर आए हैं, और वह पीछे सायण के समय नष्ट हो गया हो, यह बात अधिक विचारणीय हो जाती है। इस लिये हमारी सम्मति में तो यहां भी वही स्वाभाविक कारण जान पड़ता है, जो कि १४ वें अध्याय पर दुर्गाचार्य की वृत्ति के न उपलब्ध होने का है। मैं समझता हूं कि सायण को यद्यपि निरुक्त के १४ वें अध्याय का भी परिज्ञान था, परन्तु उस में अत्यन्त अशुद्ध पाठों के उपलब्ध होने के कारण उसे निश्चय न था कि यह चौदहवां अध्याय यास्कीय है। अतः, संदिग्ध विषय को छोड़कर उसने १३ वें अध्याय की समाप्ति तक के ग्रन्थ को निर्विवाद समझकर, यास्कीय लिखा है।

(४) श्रीभट्टरत्नाकर के पुत्र भट्टनारायण ने प्रायः सब उपनिषदों पर टीकायें लिखी हैं। उसने गर्भोपनिषद् की टीका करते हुए गर्भवृद्धिक्रम के प्रसङ्ग में "यास्केन तु अन्यथोक्तम्, तद्यथा" यह लिख कर 'रात्रोषितं कललं भवति' से लेकर 'नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो

भवति' तक चतुर्दशाध्यायीय निरुक्त का (७७६ पृ०) संपूर्ण पाठ उद्धृत किया है। इस से स्पष्ट है कि भट्टनारायण भी चतुर्दशाध्यायी निरुक्त को यास्ककृत समझते थे।

(५) इन सब के अतिरिक्त निरुक्त की अन्तःसाक्षि अत्यधिक बल रखती है। निरुक्त के १३ वें अध्याय के अन्तिम भाग में (७६६ पृ०) "पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति, इत्युक्तं पुरस्तात्" ऐसा लिखा है। सो, 'पारोवर्यवित्सु' आदि पाठ प्रथमाध्याय में (७२ पृ०) पाया जाता है। इस से पता लगता है कि निस्सन्देह १३ वां अध्याय यास्कीय ही है।

एवं, इन उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि त्रयोदशाध्याय तक तो निरुक्त का यास्कीय होना असंदिग्ध ही है, और चौदहवें अध्याय को भी विशेषयता दुर्गाचार्य और भट्टनारायण ने यास्कीय माना है। और, अभी तक ऐसा कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जिससे चतुर्दशाध्याय को यास्ककृत मानने में कोई अड़चन पड़ती हो। अतः, मेरी सम्मति में संपूर्ण चतुर्दशाध्यायी निरुक्त को यास्कीय मानने में, विशेष कारण के बिना, कोई संकोच नहीं होना चाहिये।

यास्काचार्य ने अन्तिम दो अध्यायों में परिशिष्ट भाग क्यों लिखा, इसका उत्तर हमने तेरहवें और चौदहवें अध्याय के प्रारम्भ में दिया है, पाठक वहां देखलें। यह परिशिष्ट संपूर्ण निरुक्त का परिशिष्ट नहीं, अपितु दैवतकाण्ड का परिशिष्ट है। दैवतकाण्ड में तो आचार्य ने मंत्रों के आधिदैवत अर्थ किये हैं, परन्तु तेरहवें अध्याय में दिग्दर्शन के तौर पर उनके ईश्वरस्तुति परक अर्थ किए हैं, और चौदहवें अध्याय में उस ईश्वर की प्राप्ति के लिये मुक्ति का उपदेश किया गया है।

यास्क-जीवनी

जैसे कि प्राचीन ऋषि मुनियों के काल और जीवनी के बारे में हमें निश्चय रूप से कुछ पता नहीं लगता, इसीप्रकार यास्क मुनि की जीवनी भी हमारे लिये अन्तर्हित है। लेखक ने 'महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत' नामी पुस्तिका में यास्काचार्य के काल के बारे में कुछ थोड़ा सा विवेचन किया है, उससे अधिक अभी तक और कुछ नहीं पता चलता। हां, देवराजयज्वाकृत निघण्टु-टीका

की भूमिका को देखने से यास्क-गुरु के नाम का ज्ञान और होता है। यज्वा ने भूमिका के प्रारम्भ में अपने अभीष्ट देवता गणेश का स्मरण करके तत्पश्चात् यास्क-गुरु शिपिविष्ट, निरुक्तकर्ता यास्क, अपने पितामह वागीश्वर, और अपने पिता यज्ञेश्वर, इन सब की क्रमशः वन्दना की है। वहां के शब्द इसप्रकार हैं—

नमस्त्रिधाम्ने शिपिविष्टनाम्ने, निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।

अवाप यास्को विविधेषु यागे–ष्वनेन चाम्नायमभिष्टुवानः ॥

प्रणमामि यास्कभास्करं यो हृतमसः प्रकाशितपदार्थः ।

यस्य भुवनत्रयीमिव गावः प्रकटां त्रयीं वितन्वन्ति ॥

वागीश्वरं……वन्दे पितामहं देवराजयज्वाऽहम् ॥

आचार्यं शाब्दिकानां वन्दे……ततं यज्ञेश्वरार्य……।

एवं, इस प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि यास्क के समय निरुक्तविद्या नष्ट हो चुका थी, और उसके नष्ट होने के साथ २ वेदार्थ-ज्ञान की क्लिष्टता के कारण वेद का प्रचार शिथिल पड़ गया और उस से कर्मकाण्ड लुप्तप्राय हो गया । ज्ञात होता है कि संभवतः यही कारण था कि यास्क के समय कौत्स जैसे प्रबल नास्तिक विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ और उनका यास्काचार्य को तीव्र खण्डन करना पड़ा। और वेदविद्याप्रदीप के बुझ जाने पर, ऐसे विकट समय में शिपिविष्ट नामक वेदज्ञ विद्वान् बड़ा विख्यात हुआ। उससे प्रेरित होकर यास्क ने नष्ट हुई निरुक्तविद्या को पुनः प्राप्त किया और विविध यागों की सिद्धि के लिए वेद का स्तवन किया।

इसी आशय की पुष्टि में महाभारत की साक्षि भी दर्शनीय है। शान्तिपर्व ३४३ अ० के ७१—७३ श्लोक इसप्रकार हैं—

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च योऽभवत् ।

तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।

शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।

मत्प्रसादादधीनष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥

यहां भी पूर्ववत् (भू०४ पृ०) परमेश्वर का स्तवन है । 'शिपिविष्ट' आचार्य रोमरहित था, इसलिये शिपि अर्थात् रोमरहित स्वरूप से आविष्ट अर्थात् आस्थित होने के कारण उसका नाम 'शिपिविष्ट' था । खिन्नचित्त यास्क ने उस शिपिविष्ट की अनेक यज्ञों की सिद्धि के लिये स्तुति की, और इस प्रकार स्तुति करके उस उदारबुद्धि यास्क ने शिपिविष्ट की कृपा से अन्तर्हित निरुक्तशास्त्र को उपलब्ध किया ।

एवं, यह शिपिविष्ट तो केवल हीनरोम होने के कारण ही 'शिपिविष्ट' है, परन्तु परमेश्वर रोमादि सर्वावयवों से रहित होकर सर्वत्र व्यापक होने के कारण पूर्णरूपेण 'शिपिविष्ट' है । यास्क ने विविध यागों की सिद्धि के लिए इस गुह्यनामधारी परमेश्वर की भी स्तुति की है (देखिए ३२१ पृ०) । और, बिना परमेश्वर की कृपा के कोई उत्तम कर्म सिद्ध नहीं होता, अतः निरुक्तशास्त्र के पुनरुद्धार में परमेश्वर का भी हाथ था ।

इसप्रकार इन प्रमाणों से स्पष्टतया विदित होता है कि यास्क के गुरु 'शिपिविष्ट' थे, और संभवतः उन्हीं का स्मरण निरुक्तकर्ता ने 'वैश्वानर' देवता के प्रसङ्ग में (५०८ पृ०) 'आचार्याः' इस शब्द से किया है ।

इस प्रसङ्ग से यदि मैं एक आवश्यक बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करदूं तो कुछ अनुचित न होगा । आपने अभी देखा है कि यास्क से पहले वैदिक कर्मकाण्ड के नष्ट होने का एकमात्र मुख्य कारण यह था कि निरुक्तविद्या के नष्ट हो जाने पर वेद का प्रचार लुप्त होगया था । तब यास्क ने निरुक्तविद्या का पुनरुद्धार करके फिर से वैदिक कर्मकाण्ड का मार्ग साफ किया । आजकल की अवस्था उससमय से अधिक निकृष्ट है । अतः वैदिक कर्मकाण्ड और वेद का प्रचार करने के लिए निरुक्तशास्त्र का प्रचार अत्यावश्यक है ।

देवराज-दुर्गाचार्य-काल

निघण्टु-टीकाकार देवराजयज्वा की टीका-भूमिका को देखने से यह भी विदित होता है कि उससमय तक निरुक्त

पर दुर्गाचार्य की वृत्ति नहीं बनी थी, प्रत्युत 'दुर्गाचार्य' देवराज से बहुत पीछे हुआ है। 'देवराज' के समय 'स्कन्दस्वामी' की टीका विद्यमान थी, जोकि, आजकल उपलब्ध नहीं होती। इस के अतिरिक्त उस भूमिका से यह भी ज्ञात होता है कि स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटभट्ट, भास्करमिश्र और भरतस्वामी, इन के बनाए हुए वेदभाष्य भी 'देवराज' के समय प्रचलित थे। इन में से एक 'उवटभट्ट' का ही यजुर्वेद पर भाष्य उपलब्ध होता है, अन्य किसी का नहीं।

'देवराज' ने अपनी भूमिका और निघण्टु-टीका में बारबार जिस वेदभाष्यकार 'माधव' के प्रमाण दिये हैं, वह सायणाचार्य से पूर्वकालवर्ती कोई अन्य ही 'माधव' है, सायण नहीं, और सायण ने भी अपने ऋग्भाष्य में (१०.८६.१) 'माधवभट्टास्तु' लिखते हुए उस माधव के मत का प्रदर्शन किया है।

सायण ने ऋग्भाष्य में 'ऋध्याम स्तोमं सनुयाम' आदि मंत्र (ऋ०१०.१०६.११) की व्याख्या में अक्षरशः दुर्गाचार्य की व्याख्या (निरु०१२अ०२७श०) का ही उल्लेख किया है। और, इसीप्रकार 'हिनोता नो अध्वरं' मंत्र (१०.३०.११) की व्याख्या अक्षरशः दुर्गानुसारी (निरु०६ अ०१४श०) देते हुए अन्त में सायण ने स्पष्ट ही लिख दिया है कि "एतस्या ऋचो व्याख्यानं निरुक्तटीकायां उद्धृतम्" एवं, इस से स्पष्ट है कि 'दुर्गाचार्य' सायण से पहले हुआ है।

इन के अतिरिक्त अन्य समालोचनीय विषयों पर विवेचन यथास्थान 'वेदार्थ-दीपक' में किया हुआ है, अतः पिष्टपेषण के भय से इस भूमिका को यहीं समाप्त किया जाता है, और अन्त में वेदाभिमानी विज्ञवर पाठकों से इतना अनुरोध अवश्य है कि वे यास्कीय निरुक्त की ऐतिहासिक घटना को सामने रखते हुए वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुद्धार के लिये तथा ईश्वरीय ज्ञान वेद के प्रसार के लिए निरुक्तशास्त्र का मनन अवश्य करें। इस विद्या के ज्ञान के बिना सच्चे अर्थों में वेद का स्वाध्याय करना या वेद का प्रचार करना निरा स्वप्नदर्शन ही होगा। इत्योम् शम्।

ॐ

निघण्टुकोशः

प्रथमोऽध्यायः ।

गौः । ग्मा । ज्मा । क्ष्मा । क्षा । क्षमा । क्षोणिः । क्षितिः । अवनिः । उर्वी । पृथ्वी । मही । रिपः । अदितिः । इळा । निर्ऋतिः । भूः । भूमिः । पूषा । गातुः । गोत्रा—इत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

---

(१) क्षमः, क्षामः, क्षामा, क्षाम—यह चार पाठ भेद हैं ।

(२) क्षोणी—कृदिकारादक्तिनः से ङीष् ।

(३) निघण्टु-टीकाकार देवराज यज्वा ने गोत्रा शब्द के बारे में लिखा है कि इसका वेदमंत्र अन्वेषणीय है । सायणादि वेदभाष्यकारों ने भी गोत्रा का अर्थ पृथिवी कहीं नहीं दिया परन्तु मेघादि अर्थ ही दर्शाये हैं । जब निघण्टु में गोत्रा शब्द पृथिवीवाची भी बतलाया गया है तब अवश्य इन्हीं वेदमन्त्रों में कहीं २ गोत्रा का अर्थ पृथिवी भी मानना ही होगा । एवं, सायण महीधरादिकों के वेद-व्याख्यान दोषपूर्ण समझने चाहियें । परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में गोत्रा का अर्थ कहीं २ पृथिवी भी किया है, जैसे ऋ० ३. ४३.७ । इस प्रकार यह दोष स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में नहीं पाया जाता । आगे भी अन्य स्थलों पर सायण आदिकों के वेद-व्याख्यान में यह त्रुटि पाई गई है, यहां केवल दिग्दर्शन के तौर पर लिख दिया है, जिस से इस दिशा में पाठकों को खोज करने का अवसर मिल सके ।

हेम । चन्द्रम् । रुक्मम् । अयः । हिरण्यम् । पेशः । कृशनम् । लोहम् । कनकम् । काञ्चनम् । भर्म्म । अमृतम् । मरुत् । दत्रम् । जातरूपमिति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्वः । पृश्निः । नाकः । गौः । विष्टप् । नभः—इति षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

खेदयः । किरणाः । गावः । रश्मयः । अभीशवः । दीधितयः । गभस्तयः । वनम् । उस्राः । वसवः । मरीचिपाः । मयूखाः । सप्तऋषयः । साध्याः । सुपर्णाः—इति पंचदश रश्मिनामानि ॥५ ॥

आताः । आशाः । उपराः । आष्टाः । काष्ठाः । व्योम । ककुभः । हरितः—इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

श्यावी । क्षपा । शर्वरी । अक्तुः । ऊर्म्या । राम्या । यम्या । नम्या । दोषा । नक्ता । तमः । रजः । असिक्नी । पय-

---

(४) सगरम् (५) रश्मिवाची खेदा शब्द है न कि खेदयः । वेद में तृतीयैकवचन खेदया, और खेदां का प्रयोग आता है खेदयः का नहीं । देवराजयज्वा ने भी निर्वाचन द्वारा खेदा शब्द सिद्ध करते हुए खेदया को तृतीयैकवचन वतलाया है, और खेदया का ही मंत्र दिया है । केवल ऋग्वेद में दो जगह (८. ७२.८ तथा ८.७७.३) **खेदया,** और एक जगह **खेदां** (१०. ११६.४) का प्रयोग आता है अन्य वेदों में नहीं । अतः संभवतः खेदया की जगह खेदयः पाठ लेखक प्रमाद से लिखा गया हो । (६) रश्म्यः—ङीप् प्रत्ययान्त । (७) रम्या ।

स्वती । तमस्वती । घृताची । शिरिणा[1] । मोकी । शोकी । ऊधः । पयः । हिमा[2] । वस्वी[3]—इति त्रयोविंशती रात्रिनामानि ॥ ७ ॥

विभावरी । सूनरी । भास्वती । ओदती । चित्रामघा । अर्जुनी । वाजिनी । वाजिनीवती । सुम्नावरी । अहना । द्योतना । श्वेत्या । अरुषी । सूनृता । सूनृतावती । सूनृतावरी । इति षोडशोषोनामानि ॥ ८ ॥

वस्तोः । द्युः[4] । भानुः । वासरम् । स्वसराणि । घ्रंसः । घर्मः । घृणः[5] । दिनम् । दिवा । दिवेदिवे । द्यविद्यवि—इति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

अद्रिः । ग्रावा । गोत्रः । वलः । अश्नः । पुरुभोजाः । वलिशानः[6] । अश्मा । पर्वतः । गिरिः । व्रजः । चरुः । वराहः । शम्बरः । रौहिणः । रैवतः । फलिगः । उपरः । उपलः । चमसः । अहिः । अभ्रम्[7] । वलाहकः । मेघः । दृतिः[8] । ओदनः[9] । वृषन्धिः[10] । वृत्रः । असुरः । कोशः—इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

श्लोकः । धारा । इळा । गौः । गौरी । गान्धर्वी । गभीरा । गम्भीरा । मन्द्रा । मन्द्राजनी । वाशी । वाणी । वाणीची । वाणः । पविः । भारती । धमनिः । नाळीः[11] । मेळिः । मेना । सूर्या । सरस्वती । निवित् । स्वाहा । वग्नुः[12] । उपब्दिः । मायुः । काकुत्[13] । जिह्वा । घोषः । स्वरः । शब्दः । स्वनः । ऋक् । होत्रा । गीः ।

---

(१) श्रीणा (२) हिम (३) वसु । वस्वा । वसी । (४) द्यौः (५) घृणिः । (६) पर्शानः । पर्णानः—यह भी पाठ कहीं २ पाये जाते हैं । (७) अभ्रम् । (८) दत्तिः । (९) ओदनम् (१०) विषन्धिः (११) नालिः, नालिः (१२) गग्नुः, (१३) काकुप् ।

गाथा । गणः । धेना । ग्नाः । विपा । नना । कशा । धिषणा । नौः । अक्षरम् । मही । अदितिः । शची । वाक् । अनुष्टुप् । धेनुः । वल्गुः । गल्दा । सरः । सुपर्णी । बेकुरा । इति सप्तपंचाशद् वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

अर्णः । क्षोदः । क्षद्म । नभः । अम्भः । कबन्धम् । सलिलम् । वाः । वनम् । घृतम् । मधु । पुरीषम् । पिप्पलम् । क्षीरम् । विषम् । रेतः । कशः । जन्म । बृबूकम् । बुसम् । तुग्र्या । बर्बुरम् । सुक्षेम । धरुणम् । सिरा । अररिन्दानि । ध्वस्मन्वत् । जामि । आयुधानि । क्षपः । अहिः । अक्षरम् । स्रोतः । तृप्तिः । रसः । उदकम् । पयः । सरः । भेषजम् । सहः । शवः । यहः । ओजः । सुखम् । क्षत्रम् । आवयाः । शुभम् । यादुः । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । महत् । आपः । व्योम । यशः । महः । सर्णीकम् । स्वृतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गम्भरम् । ईम् । अन्नम् । हविः । सद्म । सदनम् । ऋतम् । योनिः । ऋतस्ययोनिः । सत्यम् । नीरम् । रयिः । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । बर्हिः । नाम । सर्पिः । अपः ।

(१) गणा (२) नग्ना (३) वग्नुः (४) गल्दः, मलदः (५) रसः, रासः (६) सुपर्णा (७) वेकु (८) क्षद्मा, क्षद्मः, क्षन्मः (९) कवन्धम् (१०) शकम् (११) ब्रह्म, जह्म (१२) बुर्बुरम्, बुर्बुरः (१३) सुक्षेमा, सुक्षोम । (१४) सुरा, सूरा (१५) अररिंदानि (१६) जामिः, जामिवत् (१७) अक्षरः, अक्षराः (१८) पयः (१९) यादः (२०) स्वर्णीकम् (२१) सतीकम्, स्मृतीकम् (२२) सातिनम् (२३) गम्भीरम् (२४) गह्वरम् (२५) कम्—यह अधिक पाठ पाया जाता है ।

पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेमं । स्वः । सर्गाः । शम्बरम् । अभ्वम् । वपुः । अम्बु । तोयम् । तूयम् । कृपीटम् । शुक्रम् । तेजः । स्वधा । वारि । जलम् । जलाषम् । इदम् --इत्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

अवनयः । यव्याः । खाः । सीराः । स्रोत्याः । एन्यः । धुनयः । रुजानाः । वक्षणाः । खादोअर्णाः । रोधचक्राः । हरितः । सरितः । अग्रुवः । नभन्वः । वध्वः । हिरण्यवर्णाः । रोहितः । सस्रुतः । अर्णाः । सिन्धवः । कुल्याः । वर्यः । उर्व्यः । इरावत्यः । पार्वत्यः । स्रवन्त्यः । ऊर्जस्वत्यः । पयस्वत्यः । सरस्वत्यः । तरस्वत्यः । हरस्वत्यः । रोधस्वत्यः । भास्वत्यः । अजिराः । मातरः । नद्यः—इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥ १३ ॥

अत्यः । हयः । अर्वा । वाजी । सप्तिः । वह्निः । दधिक्राः । दधिक्रावा । एतग्वः । एतशः । पैद्वः । दौर्गहः । औच्चैश्रवसः । तार्क्ष्यः । आशुः । ब्रध्नः । अरुषः । मांश्चत्वः । अव्यथयः । श्येनासः । सुपर्णाः । पतङ्गाः । नरः । ह्वार्याणाम् । हंसासः । अश्वाः । इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

हरी इन्द्रस्य । रोहितोऽग्नेः । हरित आदित्यस्य । रासभावश्विनोः । अजाः पूष्णः । पृषत्यो मरुताम् । अरुण्यो गाव उषसाम् । श्यावाः सवितुः । विश्वरूपा बृहस्पतेः । नियुतो वायोः । इति दशाऽऽदिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

---

(१) हेमा (२) अम्बुः (३) तृपीटम्, तृपीटम् (४) यह्वयः (५) नभन्वाः (६) ऋतावर्य्यः (७) ऊर्व्यः (८) रेवत्यः (९) एतग्वा (१०) उच्चैःश्रवसः (११) मंश्चतुः (१२) व्यथ्ययः (१३) वार्याणाम् ।

भ्राजते । भ्राशते । भ्राश्यति । दीदयति । शोचति । मन्दते । भन्दते । रोचते । द्योतते । ज्योतते । द्युमत्—इत्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥ १६ ॥

जमत् । कल्मलीकिनम् । जञ्जणाभवन् । मल्मलाभवन् । अर्चिः । शोचिः । तपः । तेजः[2] । हरः । घृणिः[3] । शृङ्गाणि । शृङ्गाणि—इत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

* * *

गौ हेमा स्वरं स्वः खेदय आताः श्यावी विभावरी वस्तो रंह्रिः श्लोको ऽर्णो ऽधनयो ऽत्यो हरीइन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

अपः । अप्नः । दंसः । वेषः । वेपः[5] । विष्टी[6] । व्रतम् । कर्वरम् । शक्म[7] । क्रतुः । करणम् । करणानि । करांसि । करन्ती[8] । करिक्रत् । चक्रत्[9] । कर्त्त्वम्[10] । कर्त्तोः । कर्त्तवै । कृत्वी । धीः । शची । शमी । शिमी । शक्तिः । शिल्पम् । इति षड्विंशतिः कर्मनामानि ॥ १ ॥

तुक् । तोकम् । तनयः[11] । तोक्म । तक्म । शेषः । अप्नः । गयः । जाः । अपत्यम् । यहुः । सूनुः । नपात् । प्रजा । बीजम् । इति पंचदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

मनुष्याः । नरः[12] । धवाः । जन्तवः । विशः । क्षितयः ।

---

(१) भ्लाश्यति, भ्लाशते, भ्लाश्यते (२) पयः (३) घृणिः (४) अध्यायसमाप्ति पर शृङ्गाणि दुबारा पढ़ा गया है । (५) वेशः (६) विष्टी (७) शग्म, शक्मम् (८) करन्ति (९) चक्रतुः (१०) कर्त्तुम् (११) तनयम् (१२) नराः ।

कृष्टयः । चर्षणयः । नहुषः[1] । हरयः । मर्याः । मर्त्याः । मर्त्ताः । व्राताः । तुर्वशाः । द्रुह्यवः । आयवः[2] । यदवः । अनवः । पूरवः । जगतः । तस्थुषः । पञ्चजनाः । विवस्वन्तः । पृतनाः । इति पंचविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

आयती । च्यवाना । अभीशू । अप्नवाना । विनङ्गृसौ । गभस्ती । करस्नौ । बाहू । भुरिजौ । क्षिपस्ती[3] । शक्वरी । भरित्रे--इति द्वादश बाहुनामानि ॥ ४ ॥

अग्रुवः । अण्व्यः । विशः[4] । क्षिपः । शर्याः । रशनाः । धीतयः । अथर्यः[6] । विपः । कक्ष्याः । अवनयः । हरितः । स्वसारः । जामयः । सनाभयः । योक्त्राणि । योजनानि । धुरः । शाखाः । अभीशवः । दीधितयः । गभस्तयः-- इति द्वाविंशति-रङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

वश्मि[9] । उश्मसि । वेति । वेनति । वेसति[10] । वाञ्छति । वष्टि[11] । वनोति । जुषते । हर्यति[12] । आचके । उशिक् । मन्यते । छन्त्सत्[13] । चाकनत् । चकमानः । कनति । कानिषत् । इत्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥ ६ ॥

अन्धः । वाजः[14] । पयः । प्रयः[15] । पृक्षः । पितुः । सुतः[16] ।

---

(१) नहुषाः (२) अयवः (३) क्षिपती, क्षिपन्ती ।

(४) विभ्राः--यह अधिक पाठ है । (५) वृशः (६) अथर्यवः, अथर्याः (७) रोहितः (८) सुहस्त्याः सस्रुतः (९) अयव--यह अधिक पाठ है । (१०) विसति, पेशति (११) वेष्टि (१२) ईयर्त्ति, उशत्--यह अधिक पाठ है । (१३) शसनत् (१४) पाजः--यह अधिक पाठ है । (१५) अधः (१६) सुतम् ।

सिनम्[1] । अन्धः । क्षु[2] । धासिः । इरा । इळा । इषम् । ऊर्क् । रसः । स्वधा । अर्कः । क्षद्म[3] । नेमः । ससम् । नमः । आयुः । सूनृता । ब्रह्म । वर्चः । कीलालम् । यशः—इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥ ७ ॥

आघयति । भर्वति । बभस्ति । वेति । वेवेष्टि । अविष्यन् । बप्सति । भसथः । बब्धाम् । ह्वरति[4] । इति दशात्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

ओजः । पाजः[5] । शवः । तरः । तवः । त्वक्षः[6] । शर्द्धः । बाधः । नृम्णम् । तविषी । शुष्मम् । शुष्णम् । शूषम् । दक्षः । वीळु[7] । च्यौत्नम् । सहः । यहः । बधः । वर्गः । वृजनम् । वृक् । मज्मना । पौंस्यानि । धर्णसिः[8] । द्रविणम् । स्यन्द्रासः । शम्बरम्—इत्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥ ९ ॥

मघम् । रेक्णः । रिक्थम् । वेदः । वरिवः । श्वात्रम् । रत्नम् । रयिः । क्षत्रम् । भगः । मीढुम्[9] । गयः । नृम्णम् । द्युम्नम् । तना । वन्धुः । इन्द्रियम् । वसु[10] । रायः । राधः । भोजनम् । मेधा । यशः । ब्रह्म । द्रविणम् । श्रवः । वृत्रम् । ऋतम्[11]—इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

अघ्न्या । उस्रा । उस्रिया । अही । मही । अदितिः । इळा । जगती । शक्करी—इति नव गोनामानि ॥ ११ ॥

रेळते । हेळते । भामते । भृणीयते[12] । भ्रीणाति । भ्रेषति । दोधति । वनुष्यति । कम्पते । भोजते—इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

---

(१) सीनम् (२) क्षुमत्, क्षुत् (३) क्षद्मः (४) ह्वयति । (५) वाजः—यह अधिक पाठ है । (६) तृक्षः (७) विट् (८) धर्णसि (९) मील्हम् (१०) शवः—यह अधिक पाठ है । (११) ऋतम्, वित्तम् (१२) हृणीयते ।

हेळः । हरः । हृणिः । त्यजः । भामः । एहः । ह्वरः । तपुषी । जूर्णिः । मन्युः । व्यथिः —इत्येकादश क्रोधनामानि॥ १३॥

वर्त्तते । अयते । लोटते । लोठते । स्यन्दते । कसति । सर्पति । स्यमति । स्रवति । स्रंसते । अवति । श्चोतति । ध्वंसति । वेनति । मार्ष्टि । भुरण्यति । शवति । कालयति । पेलयति । कण्टति । पिस्यति । विस्यति । भिस्यति । प्रवते । स्रवते । च्यवते । कवते । गवते । नवते । क्षोदति । नक्षति । सक्षति । म्यक्षति । सश्चति । ऋच्छति । तुरीयति । चतति । अतति । गाति । इयक्षति । सश्चति । त्सरति । रंहति । यतते । भ्रमति । ध्रजति । रजति । लजति । क्षियति । धमति । मिनाति । ऋण्वति । ऋणोति । स्वरति । सिसर्त्ति । विपिष्टि । योपिष्टि । रिणाति । रीयते । रेजति । दभ्यति । दभ्नोति । युध्यति । धन्वति । अरुपति । आर्यति । सीयते । तकति । दीयति । ईषति । फणति । हन्नति । अर्दति । मर्दति । ससृते । नसते । हर्यति । इयर्ति । ईर्त्ते । ईङ्खते । जयति । श्वात्रति ।

---

(१) घृणिः (२) वरः (३) स्यन्दति ।
(४) स्रंसते । (५) अवते (६) मियक्षति (७) अचति
(८) मिनाति, क्षिणोति । (९) रिण्वति (१०) वेशिष्टि । वेविष्टि
(११) योशिष्टि (१२) ऋणाति । ऋणर्ति । ऋणक्ति-यह पाठ भेद है ।
(१३) दध्यति—यह पाठ भेद है, और नख्यति—यह अधिक पाठ है । (१४) दघ्नोति (१५) युध्यते (१६) अरुष्यति । अरर्षति
(१७) अलर्यति । अलर्षति (१८) डीयते (१९) दीयते (२०) कणति (२१) सस्नाति । सिस्नाति । धवति । धावति । हम्मति । हम्याति । हयति—यह अधिक पाठ है ।

गन्ति । आगनीगन्ति । जङ्गन्ति । जिन्वति । जसति । गमति । ध्रति । ध्राति । ध्रयति । वहते । रथर्यति । जेहते । ष्वःकति । स्तुम्पति । प्साति । वाति । याति । इषति । द्राति । द्रूळति । एजति । जमति । जवति । वञ्चति । अनिति । पवते । हन्ति । सेधति । अगन् । अजगन् । जिगाति । पतति । इन्वति । द्रमति । द्रवति । वेति । हयन्तात् । एति । जगायात् । अयथुः । इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥ १४ ॥

नु । मक्षु । द्रवत् । ओषम् । जीराः । जूर्णिः । शूर्त्ताः । शूघनासः । शीभम् । तृषु । तूयम् । तूर्णिः । अजिरम् । भुरण्युः । शु । आशु । प्राशुः । तूतुजिः । तूतुजानः । तुज्यमानासः । अज्राः । साचिवित् । द्युमत् । ताजत् । तरणिः । वातरंहाः । इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

तळित् । आसात् । अम्बरम् । तुर्वशे । अस्तमीके । आके । उपाके । अर्वाके । अन्तमानाम् । अवमे । उपमे । इत्येकादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

---

(१) जगान्ति । (२) जगाति जगति (३) ध्रुवति (४) वल्गूयति । अथर्यति यह अधिक पाठ है । (५) षःकति । ष्वष्कति (६) क्षिम्पति (७) जायति—यह अधिक पाठ है (८) पतयति—अधिक पाठ है । (९) प्जवति (१०) व्रजति—अधिक पाठ है । (११) द्रूवति । द्रुम्मति (१२) हन्तात् (१३) अयुथुः । अयुधुः (१४) जिरा (१५) जूर्णीः (१६) शुघनसाः । शूघना । शूत्रनाशः (१७) त्रिषु (१८) तोयम् (१९) तूर्णि (२०) प्राशुचित् । प्राशुवित् (२१) तूतुजित् (२२) तूतुजानासः । (२३) अज़राः (२४) साचीवित्, (२५) युमत् (२६) तलित् (२७) आसा (२८) तुर्वशः (२९) अर्वाकः

रणः । विवाक् । विखादः । नदनुः । भरे । आक्रन्दे । आहवे । आजौ । पृतनाज्यम् । अभीके । समीके । ममसत्यम् । नेमधिता[1] । सङ्काः । समितिः । समनम् । मीळ्हे । पृतनाः । स्पृधः । मृधः । पृत्सु । समत्सु । समर्ये । समरणे । संमोहे[2] । समिथे । सङ्ख्ये । सङ्गे । सङ्युगे । सङ्गथे । सङ्गमे । वृत्रतूर्ये । पृक्षे । आणौ । शूरसातौ । वाजसातौ । समनीके । खले । खजे । पौंस्ये । महाधने । वाजे । अज्म । सद्म । संयत्[3] । संवतः[6] । इति षट्चत्वारिंशत्संग्रामनामानि ॥ १७ ॥

इन्वति । नक्षति[7] । आक्षाणः । आनट् । आष्ट[8] । आपानः । अशत् । नशत् । आनशे । अश्नुते । इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

दभ्नोति । श्नथति[9] । ध्वरति । धूर्वति । वृणक्ति । वृश्चति । कृणवति[10] । कृन्तति । श्वसिति[11] । नभते[12] । अर्दयति । स्तृणाति । स्नेहयति[13] । यातयति[14] । स्फुरति । स्फुलति । निवपन्तु । अवतिरति । वियातः । आतिरत् । तळित् । आखण्डल । दूणाति । रम्णाति । शृणाति । शम्नाति । तृणेढि । ताढि । नितोशते[15] ।

---

(१) नेमधितिः (२) सम्मोहे, (३) संयत्-यह अधिक पाठ है । (४) प्रधने अधिक पाठ है । (५) अग्मन् । सग्मन् । स्वग्मन्—अधिक पाठ है । (६) संवतम् (७) ननक्षे (८) आष्ठ, आष्टः । आष्टः । (९) श्लथति या श्रथति—यह अधिक पाठ है (१०) कृणत्ति ऋणत्ति । (११) श्वसति (१२) नभति (१३) स्नेहति—पाठ भेद है अर्दति । मर्दति—अधिक पाठ है । (१४) याचति । यात्यति (१५) नितोषते । नितोशयति

निवर्हयति । मिनाति । मिनोति । धमति । इति त्रयस्त्रिंशद्वध-कर्माणः ॥ १६ ॥

दिद्युत् । नेमिः । हेतिः । नमः । पविः । सृकः । वृकः । वधः । वज्रः । अर्कः । कुत्सः । कुलिशः । तुजः । तिग्मम् । मेनिः । स्वधितिः । सायकः । परशुः । इत्यष्टादशवज्रनामानि ॥ २० ॥

इरज्यति । पत्यते । क्षयति । राजति । इति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

राष्ट्री । अर्यः । नियुत्वान् । इनः । इनः । इति चत्वारीश्वरनामानि ॥ २२ ॥

* * *

अप स्तुक् मनुष्या आयत्य ऋवो वश्रुयन्ध आवदत्योजो मघ-मघन्या रेळते हेळो वर्त्तते नु तळिद् रण इन्वति दभ्नोति दिद्युद् इरज्यति राष्ट्री—इति द्वाविंशतिः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

उरु । तुवि । पुरु । भूरि । शश्वत् । विश्वम् । परीणसा । व्यानशिः । शतम् । सहस्रम् । सलिलम् । कुवित् । इति द्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

अर्हन् । ह्रस्वः । निघृष्वः । मायुकः । प्रतिष्ठा । कृधु ।

(१) वर्हयति (२) जूर्वति–अधिक पाठ है । (३) अत्कः । (४) तुञ्जः (५) तिग्मः (६) क्षियति । (७) सरिरम् (८) रिहम् । अहम । अहत् (९) तृषमः, त्रिषमः–अधिक पाठ है । (१०) कधुकः । अधुकः ।

वम्रकः । दभ्रम् । अर्भकः । क्षुल्लकः । अल्पः । इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

महत् । ब्रध्नः । ऋष्वः । बृहत् । उक्षितः । तवसः । तविषः । महिषः । अभ्वः । ऋभुक्षाः । उक्षाः । विहायाः । यह्वः । ववक्षिथ । विवक्षसे । अम्भृणः । माहिनः । गभीरः । ककुहः । रभसः । व्राधन् । विरप्शी । अद्भुतम् । बंहिष्ठः । बर्हिषत् । इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥ ३ ॥

गयः । कृदरः । गर्त्तः । हर्म्यम् । अस्तम् । पस्त्यम् । दुरोणे । नीळम् । दुर्याः । स्वसराणि । अमा । दमे । कृत्तिः । योनिः । सद्म । शरणम् । वरूथम् । छर्दिः । छदिः । छाया । शर्म्म[10] । अज्म । इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

इरज्यति[11] । विधेम । सपर्यति । नमस्यति । दुवस्यति । ऋध्नोति । ऋणद्धि । ऋच्छति । सपति[12] । विवासति । इति दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

शिम्बाता । शतरा । शातपन्ता । शर्म[13] । स्यूमकम् । शेवृधम् । मयः । सुग्म्यम् । सुदिनम् । शूषम् । शुनम् । शग्मम्[14] । भेषजम् । जलाषम् । स्योनम् । सुम्नम् । शेवम् । शिवम् । शम् । कम् । इति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

---

(१) दहरकः । देहरकः - अधिक पाठ है । (२) अल्पकम् (३) महः (४) तुक्षः—अधिक पाठ है । (५) ककुहस्तिना (६) व्राधम् । व्राधत् (७) अद्भुतः (८) बर्हिष्ठः (९) बर्हिषि (१०) वर्म ; (११) इरध्यति (१२) शवति (१३) शिल्गुः (१४) शग्म्यम् ।

निर्णिक् । वव्रिः । वर्पः । वपुः । अमतिः । अप्सः । प्सुः । अप्नः । पिष्टम् । पेशः । कृशनम् । मरुत् । अर्जुनम् । ताम्रम् । अरुषम् । शिल्पम् । इति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

अस्रेमाः । अनेमाः । अनेद्यः । अनवद्यः । अनभिशस्ताः उक्थ्यः । सुनीथः । पाकः । वामः । वयुनम् । इति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

केतः । केतुः । चेतः । चित्तम् । क्रतुः । असुः । धीः । शचीः । माया । वयुनम् । अभिख्या । इत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥ ९ ॥

बट् । श्रत् । सत्रा । अद्धा । इत्था । ऋतम् । इति षट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

चिक्यत् । चाकनत् । आचक्ष्म । चष्टे । विचष्टे । विचर्षणिः । विश्वचर्षणिः । अवचाकशत् । इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

हिकम् । नुकम् । सुकम् । आहिकम् । आकीम् । नकिः । माकिः । नकीम् । आकृतम् । इति नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय ॥ १२ ॥

इदमिव । इदंयथा । अग्निर्न ये । चतुरश्चिद्ददमानात् । ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । जार आ भगम् । मेषो भूतो ऽभियन्नयः । तद्रूपः । तद्वर्णः । तद्वत् । तथा । इत्युपमाः ॥ १३ ॥

---

(१) अपुः—अधिक पाठ है । (२) वप्सः (३) प्सरः (४) शष्यम् । शिष्यम् (५) अनिन्द्यः—अधिक पाठ है । (६) अनभिशस्तिः (७) कुतुः (८) चिक्यम् (९) चना (१०) चाक्ष्म । अचक्ष्म । (११) आकिम् ।

अर्चति । गायति । रेभति । स्तोभति । गूर्द्धयति । गृणाति । जरते[1] । ह्वयते[2] । नदति । पृच्छति । रिहति । भमति । कृपायति[3] । कृपण्यति । पनस्यति । पनायते । वल्गूयति । मन्दते । भन्दते । छन्दति । छदयते[4] । शशमानः । रञ्जयति । रजयति । शंसति । स्तौति । यौति । रौति । नौति । भनति[5] । पणायति[6] । पणते । सपति[7] । पपृक्षाः[8] । महयति । वाजयति । पूजयति । मन्यते[9] । मदति । रसति । स्वरति । वेनति[10] । मन्द्रयते[11] । जल्पति । इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ ॥ १४ ॥

विप्रः । विग्रः । गृत्सः । धीरः । वेनः । वेधाः[12] । कण्वः । ऋभुः । नवेदाः । कविः । मनीषी । मन्धाता । विधाता । विपः । मनश्चित् । विपश्चित् । विपन्यवः[13] । आकेनिपः[14] । उशिजः । कीस्तासः । अद्धातयः । मतयः । मतुथाः[15] । वाघतः[16] । इति चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

रेभः । जरिता । कारुः । नदः । स्तामुः[17] । कीरिः । गौः । सूरिः । नादः । छन्दः । स्तुप्[18] । रुद्रः । कृपण्युः । इति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

---

(१) जरति (२) ह्वयति । (३) कृपा (४) छदयति (५) भणति (६) भणायते (७) स्वपिति (८) विपृत्ताः (९) स्वदति—अधिक पाठ है (१०) कल्पते—अधिक पाठ है (११) मन्त्रयते । वन्दते—अधिक पाठ हैं ।
(१२) मेधः—अधिक पाठ है । (१३) विपन्युः (१४) केनिपः अधिक पाठ है । (१५) मनुष्याः (१६) मेधाविनः अधिक पाठ है ।
(१७) तामुः (१८) सुत् ।

यज्ञः । वेनः । अध्वरः । मेधः । विदथः । नार्यः[१९] । सवनम् । होत्रा । इष्टिः । देवताता । मखः । विष्णुः । इन्दुः । प्रजापतिः । घर्म । इति पंचदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

भरताः[२०] । कुरवः । वाघतः । वृक्तबर्हिषः । यतस्रुचः । मरुतः । सबाधः । देवयवः । इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

ईमहे । यामि । मन्महे । दद्धि । शग्धि । पूर्द्धि[३] । मिमिड्ढि । मिमीहि । रिरिड्ढि । रिरीहि । पीपरत् । यन्तारः । यन्धि[२] । इषुध्यति । मदेमहि । मनामहे । मायते । इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

दाति । दाशति । दासति । राति । रासति । पृणक्ति[४] पृणाति । शिक्षति । तुञ्जति । मंहते । इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

परिस्रव[५] । पवस्व । अभ्यर्ष । आशिषः । इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २१ ॥

स्वपिति । सस्ति[६] । इति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः । कातुः । कर्त्तः । वव्रः । काटः । खातः । अवतः[७] । क्रिविः[८] । सूदः । उत्सः । ऋश्यदात् । कारोतरात्[९] । कुशयः । केवटः । इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ २३ ॥

तृपुः[१०] । तक्वा[११] । रिम्भ्वा[१२] । रिपुः । रिक्वा । रिहायाः । तायुः ।

---

(१९) नारी—अधिक पाठ है। (२०) भारताः (१) दग्धि (२) यन्ति। (३) पृणक्ति (४) वृश्चति—अधिक पाठ है। (५) परिश्रव (६) स्वस्ति (७) अवटः—अधिक पाठ है (८) कृविः (९) कारोतरः (१०) त्रिपुः (११) रितक्वा। त्रिक्वा। तृक्त्वा (१२) ग्रिह्वा

तस्करः । वनर्गुः । हुरश्चित् । मुषीवान् । मलिम्लुचः । अघशंसः । वृकः । इति चतुर्दशैव स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निण्यम् । सस्वः । सन्नुतः । हिरुक् । प्रतीच्यम्[1] । अपीच्यम् । इति षण् निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

आके । पराके । पराचैः । आरे । परावतः । इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् । प्रदिवः । प्रवयाः । सनेमि । पूर्व्यम्[2] । अह्नाय । इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

नवम् । नूत्नम् । नूतनम् । नव्यम् । इदा । इदानीम् । इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे । अभीके । दभ्रम् । अर्भकम् । तिरः । सतः । त्वः । नेमः । ऋक्षाः । स्तृभिः । वम्रीभिः । उपजिह्विका । ऊर्दरम् । कृदरम् । रम्भः । पिनाकम् । मेना । ग्नाः । शेपः । वैतसः । अया । एना । सिषक्तु[3] । सचते । भ्यसते[4] । रेजते । इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

स्वेधे[5] । पुरन्धी । धिषणे । रोदसी[6] । क्षोणी । अम्भसी । नभसी । रजसी । सदसी । सद्मनी । घृतवती । बहुले । गभीरे । गम्भीरे । ओण्यौ[7] । चम्वौ[8] । पार्श्वौ[9] । मही । उर्वी । पृथ्वी[10] । अदिती । अही । दूरेअन्ते । अपारे । अपारे । इतिचतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि ॥ ३० ॥

---

(१) प्रतीच्यम् । (२) पूर्व्या (३) सिषक्ति (४) नंसते—अधिक पाठ है । (५) सधे (६) रोधसी (७) नप्त्रौ—अधिक पाठ है । (८) चम्व्यौ (९) पारव्यौं (१०) बृहती—अधिक पाठ है ।

उर्व्यं हन् महद् गय इरज्यति शिम्याता निर्णिग् अस्मेमा केतुर्वेद् चिक्य छिकम् इदमिवा चर्षति विप्रो रेभो यज्ञो भरता ईमहे दाति परिस्रव स्वपिति कूप स्तृपु-र्निरयम् शाके प्रत्न-नवम् प्रपित्वे स्वधे—त्रिंशत् ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

जहा । निधा । शिताम । मेहना । दमूनाः । मूषः । इषिरेण[1] । कुरुतन । जठरे । तितउ । शिप्रे । मध्या । मन्दू । ईर्मान्तासः । कायमानः । लोधम् । शीरम् । विद्रधे । द्रुपदे । तुग्वनि नंसन्ते । नसन्त[2] । आहनसः । अश्नसत् । इष्मिणः । वाहः । परितक्म्या । सुविते । दयते । नूचित् । नूच । दावने । अकूपारस्य । शिशीते । सुतुकः । सुप्रायणाः । अप्रायुवः । च्यवनः । रजः । हरः । जुहुरे । व्यन्तः । क्राणाः । वाशी । त्रिधुणः । जामि । पिता । शंयोः । अदितिः । एरिरे । जसुरिः । जरते । मन्दिने । गौः । गातुः । दंसयः । तूताव । चयसे । वियुते । ऋधक् । अस्याः । अस्य । इति द्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

सस्निम् । वाहिष्ठः । दूतः । वावशानः । वार्यम् । अन्धः । असश्चन्ती । वनुष्यति । तरुष्यति । भन्दनाः । आहनः । नदः । सोमो अक्षाः । श्वात्रम् । ऊतिः । हासमाने । पड्भिः । ससम् । द्विता । व्राः । वराहः । स्वसराणि । शर्याः । अर्कः । पविः । वक्षः धन्व । सिनम् । इत्था । सचा । चित् । आ । द्युम्नम् । पवित्रम् तोदः । स्वञ्चाः । शिपिविष्टः । विष्णुः । आघृणिः । पृथुज्रयाः । अश्वयुम् । काणुका । अध्रिगुः । आङ्गूषः । आपान्तमन्युः । श्मशा

---

(१) इषिरः (२) नसन्तः ।

उर्वशी । वयुनम् । वाजपस्त्यम् । वाजगन्ध्यम् । गध्यम्[3] । गधिता कौरयाणः । तौरयाणः । अह्रयाणः । हरयाणः । आरितः । व्रन्दी । निष्षपी । तूर्णाशम् । क्षुम्पम् । निचुम्पुणः । पदिम् । पादुः । वृकः । जोषवाकम् । कृत्तिः । श्वघ्नी । समस्य । कुटस्य । चर्षणिः । शम्बः । केपयः । तूतुमाकृषे । अंसत्रम् । काकुदम् । बीरिटे । अच्छ । परि । ईम् । सीम् । एनम् । एनाम् । सृणिः । इति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः । आशाभ्यः । काशिः । कुणारुम् । अलातृणः । सललूकम् । कत्पयम् । विस्रुहः । वीरुधः । नक्षद्दाभम् । अस्कृधोयुः । निशृम्भाः । बृबदुक्थम् । ऋदूदरः । ऋदूपे । पुलुकामः । असिन्वती । कपना । भाऋजीकः । रुजानाः । जूर्णिः । ओमना । उपलप्रक्षिणी । उपसि । प्रकलवित् । अभ्यर्धयज्वा । ईक्षे । क्षोणस्य । अस्मे । पाथः । सवीमनि । सप्रथाः । विदथानि । आयन्तः । आशीः । अजीगः । अमूरः । शशमानः । देवो देवाच्या कृपा । विजामातुः । ओमासः । सोमानम् । अनवायम् । किमीदिने । अमवान् । अमीवा । दुरितम् । अप्वा । अमतिः । श्रुष्टिः । पुरन्धिः । रुशत् । रिशादसः । सुदत्रः । सुविदत्रः । आनुषक् । तुर्वणिः । गिर्वणः । असूर्त्ते सूर्त्ते । अम्यक् । यादृश्मिन् । जारयायि । अग्रिया । चनः । पचता । शुरुधः । अमिनः । जज्झतीः अप्रतिष्कुतः । शाशदानः । सृप्रः । सुशिप्रः । रंसु । द्विबर्हाः । अक्रः । उराणः । स्तियानाम् । स्तिपाः । जबारु । जरूथम् ।

---

(३) गन्ध्यम्

कुलिशः । तुञ्जः । बर्हणा । तनुष्टिम् । इलीविशः । कियेधाः । भृमिः । विष्पितः । तुरीपम् । रास्पिनः । ऋञ्जतिः । ऋजुनीती । प्रतद्वसू । हिनोत । चोष्कूयमाण । चोष्कूयते । सुमत् । दिविष्टिषु । दूतः । जिन्वति । अमत्रः । ऋचीषमः । अनर्शरातिम् । अनवो । असामि । गल्दया । जल्हवः । बकुरः । बेकनाटान् । अभिधेतन । अंहुरः । बतः । वाताप्यम् । चाकन् । रथर्येति । असश्चाम् । आधवः । अनवब्रवः । सदान्वे । शिरिम्बिठः । पराशरः । क्रिविर्दती । करूळती । दनः । शरारुः । इदंयुः । कीकटेषु । बुन्दः । वृन्दम् । किः । उल्बम् । ऋबीसम् । ऋबीसम् । इति द्वात्रिंशच्छतं पदानि ॥ ३ ॥

जहा सस्मि माशुशुत्तणि स्त्रीणि ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

अग्निः । जातवेदाः । वैश्वानरः । इति त्रीणि पदानि ॥१॥

द्रविणोदाः । इध्मः । तनूनपात् । नराशंसः । इळः । बर्हिः । द्वारः । उषासानक्ता । दैव्याहोतारा । तिस्रो देवीः । त्वष्टा । वनस्पतिः । स्वाहाकृतयः । इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥

अश्वः । शकुनिः । मण्डूकाः । अक्षाः । ग्रावाणः । नाराशंसः । रथः । दुन्दुभिः । इषुधिः । हस्तघ्नः । अभीशवः । धनुः । ज्या । इषुः । अश्वाजनी । उलूखलम् । वृषभः । द्रुघणः । पितुः नद्यः । आपः । ओषधयः । रात्रिः । अरण्यानी । श्रद्धा । पृथिवी । अप्वा । अग्नायी । उलूखलमुसले । हविर्धाने । द्यावापृथिवी । विपाट्छुतुद्री । आर्त्नी । शुनासीरौ । देवीजोष्ट्री । देवीऊर्जाहुती । इति षट्त्रिंशत्पदानि ॥ ३ ॥

वायुः । वरुणः । रुद्रः । इन्द्रः । पर्जन्यः । बृहस्पतिः । ब्रह्मणस्पतिः । क्षेत्रस्यपतिः । वास्तोष्पतिः । वाचस्पतिः । अपांनपात् । यमः । मित्रः । कः । सरस्वान् । विश्वकर्म्मा । तार्च्यः । मन्युः । दधिक्राः । सविता । त्वष्टा । वातः । अग्निः । वेनः । असुनीतिः । ऋतः । इन्दुः । प्रजापतिः । अहिः । अहिर्बुध्न्यः । सुपर्णः । पुरुरवाः । इति द्वात्रिंशत्पदानि ॥ ४ ॥

श्येनः । सोमः । चन्द्रमाः । मृत्युः । विश्वानरः । धाता । विधाता । मरुताः । रुद्राः । ऋभवः । अङ्गिरसः । पितरः । अथर्वाणः । भृगवः । आप्त्याः । अदितिः । सरमा । सरस्वती । वाक् । अनुमतिः । राका । सिनीवाली । कुहूः । यमी । उर्वशी । पृथिवी । इन्द्राणी । गौरी । गौः । धेनुः । अघ्न्या । पथ्या । स्वस्तिः । उषाः । इळा । रोदसी । इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥५॥

अश्विनौ । उषाः । सूर्या । वृषाकपायी । सरण्यूः । त्वष्टा । सविता । भगः । सूर्यः । पूषा । विष्णुः । विश्वानरः । वरुणः । केशी । केशिनः । वृषाकपिः । यमः । अजएकपात् । पृथिवी । समुद्रः । दध्यङ् । अथर्वा । मनुः । आदित्याः । सप्तऋषयः । देवाः । विश्वेदेवाः । साध्याः । वसवः । वाजिनः । देवपत्न्यः । देवपत्न्यः । इत्येकत्रिंशत्पदनि ॥ ६ ॥

अग्नि र्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनोऽश्विनौ षट् ॥ ६ ॥
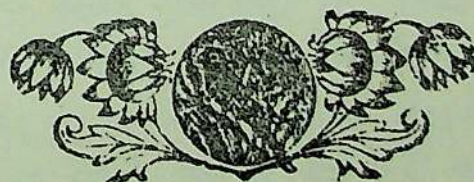
निरुक्त का पूर्वार्द्ध ।

* ओ३म् *

वेदार्थ-दीपक निरुक्त-भाष्य

यास्क-भूमिका ।

प्रथमाध्यायः।

प्रथमपादः।

समाम्नायः समाम्नातः,स व्याख्यातव्यः । तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते । निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति । छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ।

वैदिककोष का उल्लेख किया गया, अब उसकी व्याख्या करनी है । इस वैदिककोष को "निघण्टु" नाम से पुकारते हैं । इस कोष को निघण्टु क्यों कहा जाता है ? क्योंकि कोषवर्ती ये सब शब्द निश्चय करके वेद मंत्रों के अर्थों को जतलाते हैं अतः इसे

निघण्टु कहा गया। इन शब्दों के परिज्ञान से वेद मंत्रार्थों का परिज्ञान निश्चय करके इसलिये होता है कि ये शब्द वेदों से चुन चुन कर संगृहीत किये गये हैं।

निघण्टु पद के निर्वचन

ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वाऽऽहननादेव स्युः समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति।

(१) निश्चय पूर्वक वेदमंत्रार्थ-ज्ञापक होने से वे निगन्तु होते हुए निघण्टु कहे जाते हैं-ऐसा औपमन्यव आचार्य का मत है। निश्चयेन गमयन्ति ज्ञापयन्ति वेदार्थान् इति निगमाः, निघण्टवो वा। निगन्तु-निघण्टु। नि पूर्वक गम् धातु से (उणा १. ६९) तुन् प्रत्यय। (२) अथवा मर्यादा पूर्वक पठित होने से वे शब्द निघण्टु हैं, क्योंकि वे संग्रहरूप में पठित हैं। निर् सम् उपसर्ग समानार्थक हैं। जैसा कि "निरित्येष समित्येतस्य स्थाने युज्यते" (निरु १२. ७) इस स्थल पर यास्क ने दर्शाया है। अतः 'निर्' उपसर्ग का अर्थ हुआ संग्रह। 'हन्' धातु पाठार्थक बहुधा प्रयुक्त होती है जैसे कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है "प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः-ब्राह्मणे इदमाहतं, सूत्रे इदमाहतम्। निर्हन्तु—निघण्टु। वैदिक शब्द एक संग्रहरूप में--कोषाकार में पठित होने के कारण इस वैदिक कोष को निघण्टु कहते हैं। दुर्गाचार्य ने १२. ७ का उपर्युक्त उदाहरण देते हुए नि सम् को समानार्थक जतलाया है और निहन्तु से निघण्टु की रचना की है, परन्तु यह अशुद्ध है, क्योंकि निर् सम् समानार्थक हैं; नि, सम् नहीं।

(३) अथवा ये शब्द सम्यक्तया वेदों से चुने हुए हैं अतः इन्हें निघण्टु कहा जाता है। बड़ी निपुणता से कुछ एक कठिन शब्दों को वेदों में से चुन २ कर यह संग्रह तय्यार किया गया है, अतः इस वदिककोष का नाम निघण्टु है। 'सम्' अर्थ में प्रयुक्त 'निर्' उपसर्ग पूर्वक 'हृ' धातु से 'तुन्' प्रत्यय। निर्हर्तु—निघण्टु।

इस प्रकार पता लगा कि समाम्नायापर-पर्याय वैदिक-कोष को (क) निश्चय पूर्वक वेदार्थ-ज्ञापक होने से (ख) संग्रह रूप में पठित होने से (ग) और सम्यक्तया वेदों से चुन चुन कर शब्दों के संग्रहण से, निघण्टु नाम से पुकारा जाता है।

यहां पर समाम्नाय का अर्थ है किन्हीं विशेष शब्दों का किसी विशेष क्रम से संग्रह। इसी लिये इस का अनुवाद मैंने वैदिक-कोष किया है। सम्+आ+म्ना=सम्यक्तया मर्यादा पूर्वक उक्त। म्ना धातु का प्रयोग 'कथन' अर्थ में बहुधा आता है, जैसे—"समौ हि शिष्टै राम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च" (माघ २.१०) अर्थात् साधुजनों ने बढ़ते हुए रोग और शत्रु को समान कहा है। संग्रह अर्थ में समाम्नाय का प्रयोग अन्यत्र भी दीख पड़ता है, जैसे "अघोरामः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कृकवाकुः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते" (निरु. १२. १३) "सोऽयमक्षरसमाम्नायः" (महाभाष्य १.१.२ आन्हिक के अन्त में) इत्यादि।

निघण्टु पठित शब्दों के ४ भेद, और उन के लक्षण।

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति। तत्रैतन्नामाख्यातयो र्लक्षणं प्रदिशन्ति—भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि।

सो, जो ये चार पदसमूह हैं (१) नाम (२) आख्यात (३)

उपसर्ग (४) और निपात, ये ये पदसमूह निघण्टु संज्ञक होते हैं।

यास्काचार्य ने संपूर्ण शब्द-समुदाय के ४ विभाग किये हैं। इन्द्र-सम्प्रदाय के वैयाकरणों के अनुसार 'अर्थः पदम्' से एक पद, सुबन्त तिङन्त भेद से दो पद, निपात तथा उपसर्ग को एक मानकर तीन पद, गति और कर्मप्रवचनीय के भेद से पांच या छै पदसमूह नही माने। परन्तु (१) स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिंग के विभाग से एक नाम-पद समूह (२) कर्तृवचन, भाववचन, कर्मवचन, के विभाग से दूसरा आख्यात-पद समूह (३) तीसरा 'आङ्' आदि उपसर्ग-पद समूह (४) और चौथा 'इव' आदि निपात-पद समूह माना है।

उन में से नाम और आख्यात का यह लक्षण बतलाते हैं—

क्रिया-प्रधान आख्यात है, और द्रव्य-प्रधान नाम है।

भाव, क्रिया, कर्म यह सब समानार्थक हैं। "आख्यायते प्रधान भावेन क्रिया, गौणत्वेन द्रव्यं च यत्र तदाख्यातम्" यह आख्यात शब्द की निरुक्ति है। पचति=पकाता है—इस मे क्रिया (पकाना) का भी बोध होता है, और द्रव्य (देवदत, यज्ञदत्त, आदि किसी विशेष व्यक्ति) का भी बोध होता है। परन्तु प्रधानतया क्रिया का ही बोध होता है, क्योंकि "पचति" कहने से क्रिया की निश्चिति होजाती है कि पकाने का काम हो रहा है, परन्तु द्रव्य का कोई निश्चय नहीं होता कि कौन व्यक्ति पका रहा है। इसी प्रकार 'देवदत्तः' इस से द्रव्य (देवदत्त) का भी बोध होता है, और क्रिया (पचति, गच्छ-ति, अधीते, शेते आदि किसी विशेष क्रिया) का भी बोध होता है। परन्तु प्रधानतया द्रव्य का ही बोध होता है, क्योंकि 'देवदत्तः' कहने से द्रव्य का तो निश्चय हो जाता है कि देवदत्त है, यज्ञदत्त, प्रभुदत्त नही, परन्तु क्रिया का निश्चय नहीं होता कि पकाता है, पढ़ाता है,

सोता है, या चलता है इत्यादि। अतः स्पष्ट हुआ कि आख्यात क्रिया प्रधान होते हैं, और नाम द्रव्य-प्रधान।

अन्यच्च, 'देवदत्तः किं करोति' इस प्रकार क्रिया के प्रश्न में आख्यात से उत्तर दिया जाता है 'पचति'। और 'कः पचति' यहां द्रव्य के प्रश्न में नाम से उत्तर दिया जाता है '**देवदत्तः**'। इस से भी स्पष्ट है कि आख्यात क्रिया-प्रधान होते हैं, और नाम द्रव्य-प्रधान।

आख्यात चार प्रकार का होता है—कर्ता में, भाव में, कर्म में, और कर्मकर्त्ता में। 'पचति देवदत्तः' कर्ता में है, 'भूयते देवदत्तेन' भाव में है, 'पच्यते ओदनः देवदत्तेन'-कर्म में है, और पच्यते ओदनः 'स्वयमेव'—कर्मकर्ता में है। इन सब अख्यात-पदों में सर्वत्र क्रिया की ही प्रधानता है। इसी से आख्यात को भाव-प्रधान कहते हैं; और यह भाव-प्रधानता ही उस का लक्षण या पहिचान है। अर्थात् जहां इस प्रकार से भाव--प्रधानता होगी वह आख्यात होगा। **"लिङ्गसंख्ययोःसद्भावः सत्वम्" "लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यं सत्वमित्यभिधीयते"** —इन वचनों के अनुसार लिंग तथा संख्या से युक्त द्रव्य को सत्व नाम से कहा जाता है। पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, और नपुंसकलिंग इन तीन लिंगों में नाम प्रयुक्त होते हैं, उपर्युक्त लेख के अनुसार ये सर्वत्र द्रव्य-प्रधान ही होते हैं। आख्यात-पद में लिंग का कोई चिन्ह नहीं होता, अतः वे द्रव्य-प्रधान नही होते। इस द्रव्य-प्रधानता के खण्डन से भी परिशेष से आख्यात में क्रिया की प्रधानता ही आती है। इसी अभिप्राय से किसी प्राचीन आचार्य ने कहा है—

क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते।
त्रीनत्र पुरुषान्विद्यात्कालतस्तु विशिष्यते॥

अर्थात् आख्यात क्रिया-प्रधान है द्रव्य प्रधान नहीं, क्योंकि वह

लिंग से विशिष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त तीन पुरुषों और काल का योग भी आख्यात के क्रिया-प्रधान होने का मूल है। अर्थात् द्रव्य-वाचक नाम-पदों में प्रथम, मध्यम, और उत्तम पुरुष तथा भूत भविष्यत् और वर्तमान काल की विशेषणता नहीं देखी जाती। यह विलक्षणता भी आख्यात के क्रिया-प्रधान होने में कारण है।

किसी आचार्य ने श्लोकों में नाम का लक्षण इस प्रकार किया है, विद्यार्थियों के लाभार्थ उस का यहां उल्लेख किया जाता है—

१. शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः॥
२. अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहु र्भेदे वचनलिङ्गयोः॥
३. निर्देशः कर्म करणं प्रदान मपकर्षणम्।
स्वाम्यर्थोऽप्यधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः॥

प्रथम लक्षण—जिस शब्द के उच्चारण करने से द्रव्य की प्रतीति हो, मनीषी लोग उसको शब्द-शास्त्र में नाम कहते हैं।

द्वितीय लक्षण—जिस शब्द में भिन्न २ अर्थों में आठ बिभक्तियें प्रयुक्त होती हों, और वचन तथा लिंग का भेद हो, कवि लोग उसको नाम कहते हैं।

विभक्तियों के अर्थ—प्रथमा-शब्दनिर्देश, द्वितीया-कर्म, तृतीया करण, चतुर्थी—संप्रदान, पंचमी—अपकर्षण अर्थात् अपादान, षष्ठी— स्व-स्वामि-भाव आदि संबन्ध, सप्तमी—अधिकरण, और आठवीं विभक्ति का अर्थ संबोधन माना जाता है। तृतीया विभक्ति का कारक कर्ता भी होता है।

नाम तथा आख्यात के उपर्युक्त लक्षण में यास्काचार्य ने क्रम-भंग करते हुए जो नाम से पहले आख्यात का लक्षण किया है उसका

अभिप्राय यह है कि यतः सब नाम भी आख्यातज हैं, और वाक्य में भी आख्यात की प्रधानता मानी गई है, अतः आख्यात के मुख्य होने से उसी का पहले लक्षण किया गया। **"नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च"** यहां पर नाम और आख्यात के समास में आख्यात की अपेक्षा नाम में अचों की अल्पता से उसका **"अल्पाच्तरम्"** (पाणि० २. २. १४) से पूर्व-निपात होगया है।

वाक्य में भाव की प्रधानता | **तद्यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः।**

वहां, जहां नाम और आख्यात दोनों विद्यमान हों, तब क्रिया-प्रधान होते हैं। अर्थात्, जहां पर नाम और आख्यात दोनों इकट्ठे होजाते हैं, वहां भाव की ही प्रधानता रहती है। यद्यपि पृथक् अवस्था में एक द्रव्य–प्रधान और दूसरा क्रिया–प्रधान होता है, तथापि वह प्रधानता एक पद के विचार तक ही सीमित है। वेद तथा लोक में जब इन से कार्य निकलता है तो दोनों के मेल से ही निकलता है। व्यवहार–स्थल में इन में से एक के विना दूसरा नहीं रहता। अतः, दोनों को परस्पर की अत्यन्त अपेक्षा बनी रहती है। जैसे, व्यवहार में 'ब्रह्मचारी' से भी कुछ प्रयोजन नहीं मालूम पड़ता, और इसी तरह अकेले 'अधीते' पद से भी कुछ आशय नहीं निकलता। इससे ये नाम और आख्यात दोनों इकट्ठे जहां रहेंगे वहां "ब्रह्मचारी अधीते" आदि वाक्य में क्रिया की प्रधानता, और द्रव्य की गौणता रहेगी, क्योंकि क्रिया साध्य होती है, और कारक, जो द्रव्य हैं वे उसके साधन के लिये होते हैं।

आख्यात में भाव की अवस्था | **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्ट व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।**

आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त अगली पिछली सब क्रियायों को व्रजति=जाता है, पचति=पकाता है-इत्यादि आख्यात से लोक कहता है। भाव की दो अवस्थायें होती हैं। एक साध्यावस्था, जो उसके बनते हुए की असंपूर्ण अवस्था कही जा सकती है, और दूसरी सिद्धावस्था, जिसे भाव की संपूर्ण अवस्था कह सकते हैं। इन में से भाव की पहली साध्यावस्था आख्यात से प्रतीत होती है।

'आख्यात' नाम पचति, व्रजति, पठति, आदि तिङन्त पदों का है। भाषा में इनकी जगह हम पकाता है, जाता है, पढ़ता है इत्यादि धर सकते हैं। इन आख्यात-पदों का यह स्वभाव है कि जब से क्रिया का आरम्भ होता है तब से लेकर उसकी समाप्ति पर्यन्त जो अवस्था है उस सब को प्रकट करते हैं। उदाहरण के तौर पर देखिये, मैं जालन्धर नगर से रेल पर सवार हुआ कोई मित्र मेरे से पूछता है तुम कहां जाते हो ? मैं उत्तर देता हूं गुरुकुल जाता हूं। यहां 'जाता हूं' से जो क्रिया मालूम पड़ती है उसको 'गमन' कहते हैं। इस गमन क्रिया का प्रारम्भ रेल पर सवार होने से होता है। अर्थात् रेल पर सवार होना, असबाब रखना, बैठना, यात्रियों से वार्तालाप करना, भोजन करना, लेटना, सोना, स्टेशनों पर उतर कर टहलना आदि क्रियाओं में गमन ही व्याप्त हुआ २ दिखलाई देता है जबतक कि मैं गुरुकुल-भूमि में नहीं पहुंच जाता। अर्थात् उठते, बैठते, सब अवस्थाओं में पूछा जा सकता है, कहां जाते हो ? और उसका उत्तर भी यही होगा, गुरुकुल जाता हूं। अतः स्पष्ट है कि रेलपर सवार होने से लेकर गुरुकुल पहुंचने तक मैं जितनी भी क्रियायें करता हूं उन सब में गमन-क्रिया व्यापक है। और जब मैं गुरुकुल पहुंच जाता हूं तब वह गमन-क्रिया संपूर्ण हो जाती है। अतः स्पष्ट हुआ

कि आख्यात-पद क्रिया की साध्यावस्था को ही प्रकट करता है सिद्धावस्था को नहीं। इसी आशय को सामने रखते हुए एक आचार्य ने आख्यात के बारे में यह कहा है—

क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव ।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यात शब्देन तमर्थमाहुः ॥

जो अनेक क्रियायों में आश्रित रहता है, जिस में पूर्व अपर जैसे भाग प्रतीत तो होते हैं परन्तु वास्तव में एक ही हैं, और जो अनेक क्रियायों की सिद्धि के आधीन सिद्ध होता है—इस को विद्वान् लोग आख्यात शब्द से कहते हैं।

नाम से साध्य-क्रिया का कथन

मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभि र्व्रज्या पक्तिरिति। यास्क के प्रथम वाक्य से मिलाकर पढ़ने से यह वाक्य संपूर्णरूप में इस प्रकार होगा:—**मूर्त्तं सत्त्वभूतं भावं सत्त्वनामभिराचष्टे व्रज्या पक्तिरिति ।** एकरूप बनी हुई-द्रव्यरूप हुई हुई-क्रिया को लोक द्रव्य से, नामों से, कहता है, जैसे व्रज्या, पक्तिः इत्यादि ।

जिस प्रकार आख्यात से साध्य-क्रिया कही जाती है उसी प्रकार नाम से भी कहीं २ उस क्रिया का कथन होता है। भेद केवल इतना है कि आख्यात-क्रिया सदा अमूर्त्त होती है मूर्त कभी नहीं होती, परन्तु नाम-क्रिया मूर्त्त होती है। यह नाम कृदन्त होते हैं, जिन में पूर्व अपर सब क्रियायों को एकरूप बनाकर मूर्त्त-स्वरूप में कहा जाता है, और इसी से उन भावों को भी लिङ्ग तथा संख्या से युक्त नाम-शब्दों से प्रयुक्त किया जाता है, जैसे व्रज्या=गति, पक्तिः= पाक इत्यादि। इसी आशय को विद्वान् लोग '**कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्-वति**' इस वचन से समझाते हैं कि कृत् प्रत्यय से कही हुई क्रिया

द्रव्य के समान होती है। एक दूसरे आचार्य ने इसको निम्नलिखित श्लोक से विस्पष्ट किया है:—

क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्याविभक्तिव्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥

अर्थात्, अनेक क्रियायों की सिद्धि के आधीन उत्पन्न हुआ २ भाव जब कृदन्त शब्द से उक्त होता है, तब संख्या और विभक्ति के परिवर्तन, तथा लिङ्ग से युक्त द्रव्य के समान उपलक्षित होता है।

नाम तथा आख्यात के सामान्य, विशेष रूप

अद इति सत्त्वानामुपदेशः, गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। भवतीति भावस्यास्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति।

अदः=अमुक—इत्यादि नामों का सामान्यरूप से उपदेश है; और गौः=गाय अश्वः=घोड़ा, पुरुषः=पुरुष, हस्ती=हाथी—इत्यादि विशेष रूप से।

जिस नाम से द्रव्य मात्र का बोध हो सकता हो उसको सर्वनाम या सामान्य-नाम कहते हैं, जैसे अदः, यत्, तत्, एतत्—इत्यादि। और जिन शब्दों की विशेष २ द्रव्यों के बोधन में शक्ति है वे विशेष-नाम कहलाते हैं—जैसे गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी, स्त्री, बकरी, भेड़ इत्यादि।

भवति=है, इत्यादि क्रिया का सामान्य रूप से उपदेश है, और आस्ते=बैठता है, शेते=सोता है, व्रजति=जाता है, तिष्ठति=ठहरता है इत्यादि विशेष रूप से।

जो आख्यात-पद अस्तित्व को कहते हैं वे सामान्य-आख्यात हैं, क्योंकि अस्तित्व क्रिया सब क्रियायों में सामान्यरूप से विद्यमान है, जैसे भवति, अस्ति, विद्यते, वर्तते इत्यादि।

२

शब्दानित्यत्व दोष

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। तत्र

चतुष्ट्वं नोपपद्यते, ऽयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च ।

वचन इन्द्रिय में नित्य है—ऐसा उदुम्बर का पौत्र औदुम्बरायण आचार्य मानता है ।

अर्थात् वचन—पद, या वाक्य—जब तक वक्ता की वाणी, या श्रोता के कान में विद्यमान है तभीतक नित्य है । बोलने के पहले नहीं था, और उसके पीछे भी नहीं रहेगा ।

ऐसा मानने पर औदुम्बरायण के मत में यह तीन दोष आते हैं—(१) पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात—यह चार विभाग नहीं बन सकते (२) अलग २ समय में उत्पन्न हुए शब्दों का परस्पर में गौणता तथा प्रधानता का उपदेश नहीं बनसकता । और, (३) शास्त्रकृत संबन्ध भी नहीं बन सकता ।

(क) यदि शब्द वाणी द्वारा उत्पन्न होते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि कोई भी दो अक्षर एक समय में इकट्ठे नहीं हो सकते क्योंकि वाणी एक २ अक्षर को अलग २ करके बोलती है इकट्ठा नहीं । जैसे **ओ३म्** का उच्चारण करने में वाणी पहले प्लुत **ओ** को बोलती है, फिर **म्** को । वाणी ने जब **ओ३** का उच्चारण किया तब **म्** नहीं बोला, और जब **म्** बोला गया तब **ओ३** नहीं रहा । इस प्रकार जब दो अक्षर भी इकट्ठे नहीं रह सकते, तब चार पद किस प्रकार इकट्ठे रह सकेंगे । एवं जब पद कभी इकट्ठे ही नहीं होते तब उन के चार विभाग कैसे बन सकते हैं ।

(ख) औदुम्बरायण के मत में दूसरा दोष यह आता है कि नाम और आख्यात का गौणप्रधान-भाव नहीं सिद्ध हो सकता ।

'ब्रह्मचारी अधीते' आदि वाक्यों में जो नाम की गौणता, और आख्यात की प्रधानता बतलाई गई है—वह तभी सिद्ध हो सकती है जब संपूर्ण वाक्य को इकट्ठा उच्चारण किया जावे। औदुम्बरायण के मत में तो जब नामोच्चारण किया गया तब आख्यात नहीं, और जब आख्यात का उच्चारण किया गया तब नाम नहीं। गौण प्रधान–भाव प्रतियोग में हुआ करता है जब कोई प्रतियोगी ही नही तो गौणता, प्रधानता कैसी ? (ग) औदुम्बरायण के मत में तीसरा दोष यह आता है कि व्याकरण–शास्त्र में जो उपसर्ग का धातु से, और धातु का प्रत्यय से योग बतलाया गया है—वह भी नहीं बन सकता, क्योंकि उपसर्ग के समय धातु नहीं, और धातु के समय उपसर्ग नही; एवं धातु के समय प्रत्यय नहीं, और प्रत्यय के समय धातु नहीं। इस प्रकार दोनों का संबन्ध कैसे हो, और संबन्ध हुए बिना अर्थ–परिज्ञान कैसे हो।

उत्तर पक्ष, शब्द नित्य हैं | **व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य ।**

किन्तु शब्द के व्यापक होने से उपर्युक्त तीनों दोष नहीं रहते, अतः शब्द व्यापक हैं।

संस्कृत–भाषा के सब शब्द वैदिक–भाषा के ही हैं, और ये वैदिक–शब्द नित्य हैं। जिसप्रकार प्रलय–काल में सब कार्य–जगत् अपने कारण में लीन हो जाता है, इसीप्रकार ये शब्द भी लीन हो जाते हैं; हां ! अक्षरों की बनावट नित्य नहीं। शब्द आकाश की न्याई सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जबतक उच्चारण–क्रिया नहीं होती तब तक प्रकटित नहीं होते। जब वायु और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तभी प्रकटित होते हैं। हां ! वाणी की क्रिया या ध्वनि उत्पन्न और नष्ट होती है अतः वह अनित्य है,

शब्द नहीं। शब्द तो आकाश में सर्वत्र एकरस भरे रहने से नित्य ही हैं। वाणी की क्रिया एक मात्र शब्द की व्यञ्जक है, उसके बिना शब्द अभिव्यक्त नहीं होसकता। एवं शब्दों को नित्य मानने पर उपर्युक्त तीनों दोष नहीं रहते।

व्यवहार के लिये शब्द प्रयोग ही आवश्यक है

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अधिक छोटा होने से शब्द द्वारा संकेत करना लोक में व्यवहार के लिये है। (प्रश्न) शब्द में पूर्वोक्त दोष हों या न हों, किन्तु शब्द द्वारा अर्थ जतलाने की आवश्यकता ही क्या है? हाथ, आंख, वा सिर आदि अंगों के इशारों से अर्थ की प्रतीति होसकती है। (उत्तर) ठीक है, इशारे भी अर्थ-प्रतीति के साधन हैं, परन्तु इन दोनों साधनों में से शब्द बहुत छोटा और सुगम साधन है। इस के द्वारा थोड़ी देर में बहुत कुछ समझाया जा सकता है, इशारों में समय बहुत लगता है, और अर्थ-प्रतीति कम होती है। फिर, शब्द असंदिग्ध प्रतीति कराते हैं, परन्तु इशारे बहुधा संदेह में डाल देते हैं। इस लिये लोक में व्यवहार के लिये शब्द द्वारा ही संकेत किया गया है।

यही वैदिक-भाषा है

तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।

इन शब्दों की यह व्यवस्था मंत्रों में भी है कि उन से मनुष्य-भाषा की न्याईं मंत्र-भाषा का कथन होता है।

नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात विभाग से जैसे ये चारों पद लौकिक-भाषा में प्रयुक्त होते हैं, वही शब्द वैदिक-भाषा में भी आते हैं, अर्थात् इन दोनों भाषाओं में शब्द समान हैं।

देवता' शब्द वेद-मंत्र वाची है।

उपर्युक्त वाक्य में देवता शब्द वेद--मंत्र का बोधक है, क्योंकि मंत्रों से ही सत्यज्ञान-प्रकाशित होता है। इस की पुष्टि यास्काचार्य स्वयं इस प्रकार करते हैं—

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।

पुरुष की विद्या के अनित्य होने से कर्म-सिद्धि कराने हारा वेद में पठित मंत्र 'देवता' है।

मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः उसका ज्ञान अपरिपूर्ण तथा परिवर्तन शील होने के कारण अनित्य है। ऐसे संदिग्ध और अपूर्ण ज्ञान से कभी भी सत्कर्मों की सिद्धि नहीं होसकती। वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होने से पूर्ण और नित्य हैं। इसका ज्ञान तीनों कालों में एकरस रहता है, और यह वेद सब सत्यविद्यायों के भण्डार हैं। अतः वेद-मंत्र अश्वमेध से लेकर शिल्पपर्यन्त सब कर्मों, और मोक्ष तक की संपत्ति या सिद्धि कराने हारे हैं, इस लिये यही वेद-मंत्र देवता हैं।

उत्पन्न पदार्थों की छै अवस्थायें

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते,ऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते,ऽपक्षीयते, विनश्यतीति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्। वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं, सांयोगिकानां वाऽर्थानां, वर्धते विजयेनेति वा, वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे, न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनमभ्यूहितव्याः।

१—'क' की जगह 'म' पाठ चाहिये।

किसी उत्पन्न पदार्थ में ६ प्रकार के क्रिया-विकार होते हैं—ऐसा वार्ष्यायणि आचार्य मानता है। जैसे-पैदा होता है, है, बदलता है, बढ़ता है, घटता है, और नष्ट होता है।

(१) इन में से जायते=उत्पन्न होता है—यह वचन पहली-क्रिया का प्रारम्भ बतलाता है, अगली क्रिया-अस्तित्व को न बतलाता है, न निषेध करता है।

(२) अस्ति=है—यह वचन उत्पन्न पदार्थ के आत्म-धारण को कहता है, अगली क्रिया-विपरिणाम-को न बतलाता है, और न निषेध करता है। (३) विपरिणमते=बदलता है-यह वचन स्वरूप से न गिरे हुए के विकार, अर्थात् तबदीली मात्र को बतलाता है, अगली क्रिया-वृद्धि-को न बतलाता है, और न उसका निषेध करता है।

(४) वर्धते=बढ़ता है—यह वचन अपने अंगों की पुष्टि, अथवा अपने से संयुक्त पदार्थों की पुष्टि को कहता है, अगली क्रिया-घटने-को न कहता है, और न उसका निषेध करता है; जैसे,-वर्धते विजयेन=विजय से बढ़ता है, यहां अपने से संबद्ध विजय से वृद्धि बतलाई गई। एवं, वर्धते शरीरेण=शरीर से बढ़ता है, यहा अपने अंगों की बढ़ती कही गई।

(५) अपक्षीयते=घटता है—यह वृद्धि का उलटा रूप इसी वर्धते से व्याख्यात होगया। अर्थात् घटता है— यह वचन अपने अंगों की क्षीणता, या अपने से संयुक्त पदार्थों की क्षीणता को कहता है, अगली क्रिया-नाश-को न कहता है, और न उसका निषेध करता है; जैसे, अपक्षीयते पराजयेन=पराजय से क्षीण होता है, यहां अपने से संबद्ध पराजय से क्षीणता बतलाई गई

एवं, अपक्षीयते शरीरेण=शरीर से क्षीण होता है—यहां अपने अंगों की क्षीणता कही गई। (६) विनश्यति=नष्ट होता है—यह वचन अन्तिम क्रिया के प्रारम्भ को बतलाता है, पहली क्रिया—क्षीणता—को न कहता है, और न उसका निषेध करता है।

प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय, और विनाश—इन ६ अवस्थाओं में से गुजरता है। इन सभी अवस्थायों का यह स्वभाव है कि वे अपने से पहली अवस्था में अल्प मात्रा में बनने लगती हैं, और उस अवस्था के वीत जाने पर अपना पूर्ण प्रकाश करती हैं। ध्यान से देखने पर विदित होगा कि अंकुर के फूटने के समय वृक्ष की जन्मावस्था होती है, उस समय उस को **'पैदा होता है'** यह कहा जाता है, **'वृक्ष है'** ऐसा नहीं कहा जाता। परन्तु यह भी नहीं कि वृक्ष का अस्तित्व बिलकुल ही नहीं होता, यदि ऐसा हो तो **'वृक्ष उगता है'** यह किस आधार पर कहा जा सकता है, इस लिये मानना पड़ेगा कि अस्तित्व की कोई अव्यक्त या अधूरी अवस्था है, जिसे पूर्ण न होने के कारण **'है'** से नहीं कह सकते और नाहीं उसका निषेध कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक भाव विकार में उस से अगला भाव-विकार किंचिन्मात्रा में प्रारम्भ हो जाता है, जिसे हम कह भी नही सकते, और निषेध भी नही कर सकते।

'अस्ति' पद उत्पन्न पदार्थ के आत्म-धारण को बतलाता है। निरुक्त में इस स्थल पर **'अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्वस्यावधारणम्'** ऐसा पाठ है। अवधारण का अर्थ होता है निश्चय। अतः, **'अस्ति' पद वचन उत्पन्न पदार्थ के निश्चय को कहता है**—इस से कोई आशय

स्पष्ट नहीं होता। मैं समझता हूं लेखक-प्रमाद से यह पाठ अशुद्ध रह गया है, '**सत्त्वस्यावधारणम्**' की जगह '**सत्त्वस्यात्मधारणम्**' चाहिए। 'अस्ति' का लक्षण अन्य सब आचार्य ऐसा ही करते हैं। भूवादयो धातवः (पाणि० १.३.१) सूत्र पर महाभाष्य की टीका करते हुए कैयट ने लिखा है '**आत्मभरणवचनः भवतिः**' इसी प्रकार वाक्यपदीय में भर्तृहरि लिखते हैं—**आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते**। अतः स्पष्ट है कि 'सत्त्वस्यावधारणम्' की जगह 'सत्त्वस्यात्मधारणम्' पाठ चाहिए। लेखक-प्रमाद से '**त्म**' की जगह '**व**' लिखा गया है।

विनश्यति=नष्ट होता है—यह भाव-विकार की अन्तिम अवस्था है, अतः यह उस अन्तिम अवस्था के प्रारम्भ को बतलाता है। जब वृक्षावयवों का ह्रास, या अपक्षय पूर्णरीति से हो चुकता है, तो उसके पश्चात् इसी विनाश का काल है। चूंकि वृक्ष का अपक्षय पूर्णतया हो चुका है, अतः विनाश-भाव-विकार अपक्षय को नहीं कहता। और यदि वृक्ष का अपक्षय बिलकुल नहीं, तो 'नष्ट होता है' यह किस आधार पर कहा जा सकता है, अतः यह विनाश अपने से पूर्व भाव-विकार 'अपक्षय' का निषेध भी नहीं करता।

(अतोऽन्ये भाव विकाराः०) इन उपर्युक्त छहों से भिन्न अन्य क्रिया-विकार इन्हीं के अवान्तर भेद हैं—ऐसा निश्चय पूर्वक वार्ष्यायणि ने कहा है। वे अवान्तर क्रिया-भेद वचन के अनुसार मंत्रों में खोज लेने चाहिए। इन ६ क्रिया-विकारों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक क्रिया-विकार हैं, और वे परस्पर में अत्यन्त भिन्न भी हैं, परन्तु उन सब की उत्पत्ति पूर्वोक्त जन्म आदि ६ क्रियाओं से ही होती है, इससे उनका अन्तर्भाव इन्हीं छहों में

होता है। इस कारण उपर्युक्त भाव-विकारों की गणना ही ठीक है, उन से न्यून या अधिक नहीं हो सकती। निष्पद्यते, अभिव्यज्यते, उत्तिष्ठति आदि उत्पत्ति के ही भेद हैं। इसी तरह भवति, विद्यते, वर्त्तते आदि अस्ति के; जीर्यति आदि विपरिणाम के; पुष्यति, उपचीयते, अर्धायते आदि वृद्धि के; ध्वस्यति, भ्रश्यति आदि अपक्षय के; और म्रियते, विलीयते आदि विनाश के अवान्तर भेद हैं। ये सब भाव--विकार जिस प्रकार जिस मंत्र-वचन में अवस्थित हों प्रकरण तथा तर्क से मंत्रार्थ-निश्चय के लिये वैसे ही जान लेने चाहियें।

३

उपसर्ग-निरूपण। **न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहु-रिति शाकटायनो, नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।**

वाक्य में अलग करके बांधे हुए-धरे हुए-उपसर्ग अर्थों को निश्चय करके नहीं कहते, किन्तु नाम तथा आख्यात के अर्थ-विशेष के-उस नाम या आख्यात से जुड़ कर-द्योतक होते हैं, ऐसा शाकटायन वैयाकरण मानता है। कर्मणोऽर्थविशेषस्य (नामाख्याताभ्यां) उपसंयोगे सति द्योतकाः भवन्ति—इस प्रकार "कर्मोपसंयोगद्योतकाः भवन्ति" का शब्दार्थ होगा। शाकटायन का यह मत है कि उपसर्गों का स्वयं कोई अर्थ नहीं। वे नाम, या आख्यात से जुड़ कर उसी के अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं। जैसे-ब्राह्मण शब्द सामान्यतः अच्छे ब्राह्मण, या बुरे ब्राह्मण दोनों के लिये प्रयुक्त होता है, सुब्राह्मण कहने से अच्छे ब्राह्मण का बोध होता है। यहां 'सु' उपसर्ग ने ब्राह्मण के अच्छे और बुरे दोनों अर्थों में से केवल अच्छे ब्राह्मण के अर्थ को द्योतित कर दिया, किसी अन्य नवीन अर्थ को नहीं जतलाया। अतः उपसर्गों का स्वयं कोई अर्थ नहीं। परन्तु गार्ग्य निरुक्तकार

इस मत से सहमत नहीं । वह कहता है—

उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः । तद्य एषु पदार्थः प्राहु रिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् ।

उपसर्ग-पदों के अर्थ अनेक प्रकार के होते हैं-ऐमा गार्ग्य मानता है । इन उपसर्ग-पदों का जो अर्थ है उस—नाम, या आख्यात के अर्थ-भेद—को ये उपसर्ग कहते हैं ।

गार्ग्य कहता है कि 'उपसर्गों का स्वयं कोई अर्थ नहीं' यह ठीक नहीं । उपसर्गों के अपने अर्थ अनेक हैं। नाम, या आख्यात के अर्थ में, किसी उपसर्ग के संयोग से जो अर्थ-भेद आगया है वही उस उपसर्ग का अर्थ है । जैसे-यदि 'सु' उपसर्ग का कोई अर्थ नहीं तो **सुब्राह्मण** का सर्वत्र "अच्छा ब्राह्मण" हो अर्थ क्यों होता है, बुरा ब्राह्मण क्यों नहीं होता । एवं, रोगी ब्राह्मण, स्वस्थ ब्राह्मण, हृष्ट पुष्ट ब्राह्मण इत्यादि अर्थ क्यों नहीं होते । शाकटायन की युक्ति के अनुसार तो ये सब ब्राह्मण ही हैं । अतः मानना पड़ेगा कि **सु** उपसर्ग का अपना अर्थ है, और वह अर्थ **अच्छा** है, जो कि 'ब्राह्मण' नाम के साथ संयुक्त होने से अर्थ-भेद पड़ गया है । हां ! यह ठीक है कि उपसर्गों का यह स्वभाव है कि वे नाम या आख्यात से जुड़ कर ही अपने को प्रकाशित करते हैं, अन्यथा नहीं। इससे यह परिणाम नहीं निकाला जासकता कि इन उपसर्गों का अपना कोई अर्थ ही नही । मैं इस बात को स्पष्टतया समझाने के लिये एक उदाहरण देता हूं । आप उपसर्गों की तुलना गणित के शून्य अंक से कीजिए । यह शून्य का अंक जबतक अन्य अंकों के आगे नहीं जोड़ा जाता, तब तक इसका अर्थ नहीं होता । और जब किसी अंक के आगे जोड़ दिया जावे तो यह शून्य का अंक

उस पहले अंक को दश गुणा कर देता है। जैसे, १५६७ की संख्या में यदि शून्य १ के आगे धर दिया जावे तो एक सहस्र को १० सहस्र बनादेगा, ५ के आगे शून्य रक्खा जावे तो ५०० की जगह ५००० होजावेगा, ६ के आगे शून्य रक्खा जावे तो ६० की जगह ६०० होजायेगा, एवं ८ के आगे शून्य धरा जावे तो ८ की जगह ८० बन जावेगा। अतः मानना पड़ेगा कि शून्य अंक का अर्थ दश गुणा है, परन्तु यह अर्थ होता तभी है जब इसे किसी अन्य अंक के आगे जोड़ा जावे। इसी प्रकार उपसर्गों को समझिये।

अब निदर्शन के तौर पर यास्काचार्य प्रत्येक उपसर्ग का एक एक अर्थ देते हैं।

आ इत्यर्वागर्थे, प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्, प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु इत्यभिपूजितार्थे, निर् दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। न्यवेति विनिग्रहार्थीयो, उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम्, व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अन्विति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उपेत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुस्त उपेक्षितव्याः।

(१) आ-यह इधर अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे आ पर्वतात् गुरुकुलम्=गुरुकुल पर्वत से इधर इधर है। (२,३) प्र, परा-यह दोनों आ के उलट अर्थ को कहते हैं। इधर का उलटा अर्थ उधर है, जैसे प्रगतः, परागतः=उधर चला गया। (४) अभि-यह सन्मुखता को कहता है, जैसे अभिगतः=सामने गया। (५) प्रति यह अभि के उलट अर्थ को कहता है। सामने का उलटा अर्थ

हैं मुड़ना, लौटना, जैसे प्रतिगतः=लौट गया । (६,७) **अति, सु**-यह दोनों सम्मान अर्थ में आते हैं, जैसे अतिपण्डितः=महान् पण्डित, सुब्राह्मणः=उत्तम ब्राह्मण (८,९) **निर्, दुर्**—यह दोनों पूर्वोक्त उन दोनों के उलटे अर्थ को कहते हैं । सन्मान का उलटा अर्थ अपमान है, जैसे निर्वीर्यः= वीर्यशून्य । दुर्भाषी-बुरे वचन बोलने हारा । (१०,११) **नि, अव**-यह दोनों नीचे करना या दबाने अर्थ वाले हैं, जैसे निगृह्णाति, अवगृह्णाति,=दबाता है (१२) **उत्**—यह उपर्युक्त उन दोनों के उलटे अर्थ को कहता है । नीचे करने का उलटा अर्थ उंचा करना है, जैसे उद्गृह्णाति=उंचा उठता है । (१३) **सम्**-यह एकता को कहता है, जैसे संगच्छध्वम्-एक हो जावो । (१४,१५) **वि, अप**-यह दोनों इस **सम्** के उलटे अर्थ को कहते हैं । एकता का उलटा अर्थ है विभिन्नता । जैसे वियोग=बिछुड़ना, अपगम=जुदाई । (१६) **अनु**-यह सदृशता तथा पीछे होने को कहता है, जैसे पुत्र पिता के **अनुरूप** है, अर्थात् पिता के समान है, शिष्य गुरु का **अनुसरण** करता है, अर्थात् गुरु के पीछे २ चलता है । (१७) **अपि**-यह संसर्ग को कहता है,, जैसे महावीरोऽपि गच्छति= महावीर भी जाता है । यहां महावीर से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का संसर्ग बतलाया गया । (१८) **उप**-यह आधिक्य को कहता है, जैसे उप परार्धे हरेर्गुणः=परमेश्वर के गुण परार्ध से भी अधिक हैं । (१९) **परि**-यह सब ओर होने को कहता है, जैसे स पर्यगात्=वह परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है । (२०) **अधि**-यह ऊपर होने या ऐश्वर्य को कहता है, जैसे यश्चाधितिष्ठति=जो परमेश्वर सब के ऊपर स्थित है, अधिपति=सब का मालिक ।

इस प्रकार ये उपसर्ग बहुविध अर्थों को कहते हैं, उनकी भली-

भान्ति आलोचना करनी चाहिए। उपसृजन्ति, अनेकविधान् अर्थान् उत्पादयन्ति इति उपसर्गाः-यहां 'उप' आधिक्य-द्योतक है।

आ, प्र, परा, अभि, प्रति, अति सु, निर्, दुर्, नि, अव, उत्, सम्, वि, अप, अनु, अपि, उप, परि, अधि—यह २० उपसर्ग हैं। कई आचार्य निस्, दुस्, यह दो उपसर्ग और मान कर इनकी गणना २२ करते हैं। परन्तु निस्, दुस् उपसर्ग निर्, दुर्, से ही गतार्थ हो जाने पर यास्काचार्य ने २० ही उपसर्ग माने हैं।

* द्वितीयपाद *

४

अथ निपाताः।

अथ निपातों का वर्णन करते हैं।

निपात का लक्षण | उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति।

ये अनेकविध अर्थों में गिरते हैं, अर्थात् बहुविध अर्थों को प्रकट करने वाले होते हैं। एवं, निपतन्ति इति निपाताः—इस निर्वचन से निपात शब्द सिद्ध किया गया है।

निपातों के तीन विभाग | अप्युपमार्थे, ऽपि कर्मोपसंग्रहार्थे, ऽपि पदपूरणाः।

कोई उपमा अर्थ में, कोई अर्थोपसंग्रह अर्थ में, और कोई पद-पूरक होते हैं। **निरुक्त में "कर्म" पद अर्थवाची बहुधा प्रयुक्त हुआ है, पाठकों को इसे ध्यान में रखना चाहिए।** इसी खण्ड में आगे 'अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वम्' आदि वाक्य में यास्क ने 'कर्मोपसंग्रह' का लक्षण करते हुए "अर्थपृथक्त्वम्" में जो अर्थ का प्रयोग

किया है, उस से स्पष्टतया परिज्ञात होता है कि उसे 'कर्म' शब्द अर्थवाची अभिप्रेत है।

I. उपमार्थक ४ निपात। **तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति।**

उन में यह चार निपात उपमा अर्थ में प्रयुक्त होते हैं—

१. इव। **इवेति भाषायाञ्च, अन्वध्यायञ्च। अग्निरिव, इन्द्र इवेति।**

इव यह निपात भाषा (संस्कृत भाषा जो कि बोलचाल की भाषा थी, उस में) और वेद, दोनों में उपमार्थक प्रयुक्त होता है। जैसे, निम्न-लिखित दो वेद-मंत्रों में इव उपमार्थक है—

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हुतएधि। हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व॥ १०. ८४. २

देवता —मन्युः। (सहुरे मन्यो ! हूतः नः सेनानीः एधि) सहन शील मन्युयुक्त राजन्! निवेदन किये जाने पर आप हमारे सेनापति हूजिए, (अग्निः इव त्विषितः सहस्व) और आग की न्याईं तेजस्वी आप शत्रुओं का पराभव करें। (शत्रून् हत्वाय वेदः विभजस्व) शत्रुओं को मार कर उनका धन हम सैनिकों में बांटें। (ओजः मिमानः मृधः विनुदस्व) और पराक्रम पैदा करते हुए आप युद्ध करने हारे दुश्मनों को दूर भगावें।

इहैवेधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुव स्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ १०. १७३. २

देवता—राज्ञः स्तुतिः (इह एव एधि, मा अपच्योष्ठाः) राजन्! इसी राष्ट्र में रहो, राष्ट्रोन्नति से अपच्युत मत होवो। (पर्वतः इव अविचाचलिः, इन्द्रः इव इह ध्रुवः तिष्ठ) पर्वत की न्याईं निश्चल, और सूर्य की न्याईं ध्रुव, इस राष्ट्र में ठहरो, (उ इह राष्ट्रं धारय) और, इस राज-धर्म में रहते हुए राष्ट्र का धारण पोषण करो।

निरुक्त में आये 'अन्वध्यायम्' पद का अर्थ इस प्रकार है— अध्यायम् अनु इति अन्वध्यायम् अध्याये इत्यर्थः । यहां वेद को अध्याय नाम से पुकारा गया है।

२. न | **नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम् । 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति । 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीयः । उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमिते ।**

'न' यह निपात भाषा में निषेधार्थक, और वेद में निषेध तथा उपमा इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

(क) निषेधार्थक इस मंत्र में है—

वि हि सोतो रसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत । यत्रामदद्वृषाकपि-र्यर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ऋ० १०. ८६. १

देवता—इन्द्रः । (सोतोः हि व्यसृक्षत) हे गृहस्थ स्त्री पुरुषो! तुम यज्ञ करने के लिये ही रचे गये हो, (इन्द्रं देवं न अमंसत) इसके बिना तुम जीवात्म-देव को नहीं जान सकते (यत्र पुष्टेषु अर्यः, मत्सखा, वृषाकपिः अमदत्) जिस के जानने पर पराक्रमियों में स्वामी, तथा परमेश्वर का मित्र, धर्म-श्रेष्ठ मनुष्य आनंदित रहता है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) यह जीवात्मा संपूर्ण प्राकृतिक जगत् से श्रेष्ठ है। वृषाकपि=धर्मश्रेष्ठ (निरुक्त ११. ३९)। प्रकृति उत्, जीवात्मा उत्तर, तथा परमात्मा उत्तम है। यह क्रम हमें निम्न मंत्र से पूर्णतया स्पष्ट होता है—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ऋ० १. ५०. १०

देवता—सूर्यः । (वयं उत् तमसः परि उत्तरं ज्योतिः पश्यन्तः)

हम उत्कृष्ट प्रकृति से परे उत्कृष्टतर जीवात्मा को देखते हुए (देवत्रा देवं, उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म) देवाधिदेव, उत्कृष्टतम ज्योति सर्व-प्रेरक परमेश्वर को प्राप्त करें।

'नि हि सोतोः' इस उपर्युक्त मंत्र में '**न**' निषेधार्थक है। जब नि-षेधार्थक होता है तब उस 'न' का उच्चारण आदि में आता है।

(ख) उपमार्थक 'न' निम्नलिखित मंत्र में है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ ऋ० ८. २. १२

देवता—इन्द्रः। (हृत्सु पीतासः) दिलभर के इच्छा पूर्वक दधि, अन्न, सोम ओषधि, तथा दुग्ध आदि सात्विक पदार्थों का पान करने हारे मनुष्य (सुरायां दुर्मदासः न युध्यन्ते) शराब पीने पर जिस प्रकार उन्मत्त मनुष्य अपने शरीर की परवाह न करते हुए युद्ध करते हैं, एवं ये आसुरी भावों से खूब युद्ध करते हैं। अर्थात् सात्विक पदार्थों के सेवन से बड़ा बल बढ़ता है। (ऊधः न नग्नाः जरन्ते) और जैसे गाय का ऊध दुग्ध से भर पूर होता है, एवं वै-दिक-धर्म से भरपूर ये वेदवेत्ता लोग इन्द्र, अर्थात् जीवात्मा की स्तुति करते हैं।

पहले मंत्र 'ताँ आशिरं पुरोडाश मिन्द्रेमं सोमं श्रीणीहि' (८.२.११) में (इन्द्र! आशिरं, पुरोडाशं, इमं सोमं तान् श्रीणीहि) हे ऐश्वर्यवान् मनुष्य! दधि, अन्न, और इस सोम ओषधि या दूध, इन सात्विक पदार्थों को पका—यह कहा है, अतः 'हृत्सु पीतासः' का उपर्युक्त अर्थ किया गया है। '**नग्ना**' शब्द निघण्टु में वाक्वाची पठित है, तथा सायणाचार्य ने भी 'ग्नाः छन्दांसि तानि न जहतीति नग्नाः' ऐसा लिखा है। अतः प्रस्तुत मंत्र में 'नग्नाः' का अर्थ 'वेदवेत्ता लोग' किया है। एव उपर्युक्त मंत्र में दोनों 'न' उपमावाची हैं। जिस से उपमा दी जाती

है उस के पीछे उपमावाची 'न' का उच्चारण होता है। जैसे, 'हंसु पीतासः' मंत्र में सात्विक अन्न सेवियों के लिये दुर्मदासः तथा नग्नों के लिये ऊधः की उपमा दी गई है, अतः दोनों स्थलों पर उपमावाची 'न' इन के पीछे प्रयुक्त है। **एवं प्रतिषेध अर्थ में प्रतिषेध्य से पूर्व, तथा उपमा अर्थ में उपमान के पीछे 'न' प्रयुक्त हुआ करता है। पाठकों को यह दोनों नियम सर्वदा ध्यान में रखने चाहियें, जिस से मंत्रार्थ में अशुद्धि न कर सकें।**

३ चित् | **चिदित्येषो ऽनेककर्मा । आचार्य्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम् । आचार्य्यः कस्मात् ? आचार्य्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा। दधिच्चिदित्युपमार्थे । कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते । कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति ।**

चित् यह निपात अनेकार्थक है। (क) आचार्य्य ही यह कह सकता है अन्य नहीं—यहां 'चित्' पूजा के भाव को प्रकाशित करता है। आचार्य्य कैसे है ? (१) आचार्य्य वह है जो शिष्य को सदाचार ग्रहण करावे (२) जो पदार्थों का सञ्चय करे (३) तथा जो शिष्य की बुद्धि का संचय करे। शिक्षा के मुख्यतया तीन उद्देश्य हैं। पहला, विद्यार्थी को सदाचारी बनाना। दूसरा, विद्यार्थी के मन में पदार्थों के बोध का संचय करना। और तीसरा, उसकी बुद्धि को विकासित करना। परन्तु आधुनिक सब शिक्षा-पद्धतियें अधूरी होने से सर्वथा दोष-पूर्ण हैं। उन पद्धतियों में विद्यार्थियों को किताबी शिक्षा देते हुए यत्किंचित् दूसरे ही उद्देश्य को पूरा किया जाता है, अन्य दो को बिलकुल भुला दिया जाता है। यास्क के उपर्युक्त लेख से यह भी भलीभान्ति प्रकट होता है कि वह यजुर्वेद के छठे अध्याय के १४, १५, १७ मंत्रों में आज्ञप्त वेद की आज्ञानुसार सदाचार निर्माण का

ही शिक्षा का पहला उद्देश्य समझता है, तत्पश्चात् क्रमशः अन्य दो उद्देश्य हैं । (ख) दधिचित्=दधि की न्याई, यहां 'चित्' उपमार्थक है । इस स्थल पर यास्क ने वेद-मंत्र इस लिये नहीं दिया कि निरुक्त ३. १६ में वह दिया जावेगा । उसी स्थान पर मंत्र तथा उस की व्याख्या पाठक देख सकते हैं । (ग) कुल्माषान् चित् आहर=कुल्माषों को ही तू ले आ और क्या लावेगा, यहां 'चित्' निन्दा के भाव को द्योतित करता है । कुल्माष का अर्थ शब्दार्थ-चिन्तामणि कोष में अधपके गेहूं या चने आदि किया है, जो पानी में उबाले गये हों । इस में वह कहीं का यह वचन उद्धृत करता है—

अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः ।
कुल्माषा इति ख्यायन्ते शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः ॥

कुल्माष का अर्थ जौ भी किया गया है । इन्हें कुल्माष इस लिये कहा जाता है कि कम से कम यह खाद्य-पदार्थ तो कुलों में रहते ही हैं । कुल सद्-कुल्दस-कुल्माष ।

४. नु । नु इत्येषोऽनेककर्मा । इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे । कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे । नन्वेतदकार्षीदिति च । अथाप्युपमार्थे भवति—"वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः" वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः । वयाः शाखाः वेते वातायनाः भवन्ति । शाखाः खशयाः, शक्नोतेर्वा ।

नु यह निपात अनेकार्थक है । (क) इदं नु करिष्यति=इस काम को करेगा । यहां 'नु' हेतु-वचन में है, इस में हेतु दर्शाया गया है कि यह काम इस हेतु से करेगा । (ख) कथं नु करिष्यति=हैं ! कैसे करेगा ? यहां 'नु' दुबारा प्रश्न में है । इस स्थल पर 'कथं' का प्रयोग

संभ्रम (आश्चर्य) में है। किसी ने किसी से पूछा क्या तू यह काम करेगा ? उसने उत्तर दिया कि हां, करूगा। तब फिर दुबारा वह पूछता है, हैं ! कैसे करेगा ? एवं, 'नु' दुबारा प्रश्न में प्रयुक्त है। इसी प्रकार दुबारा प्रश्न में 'ननु' का भी प्रयोग होता है। किसी ने पूछा हैं ! कैसे करेगा ? दूसरा उसका उत्तर देता है 'ननु एतत् अकार्षीत्' अर्थात्, उसने यह काम किया है ! फिर कैसा आश्चर्य कि हैं ! कैसे करेगा ? यहां 'ननु' दुबारा प्रश्न करने पर ही प्रयुक्त हुआ है। (ग) 'नु' उपमा अर्थ में भी आता है, जैसे निम्न लिखित मंत्र में प्रयुक्त है—

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन् प्र ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूतयो रुरुहु रिन्द्र पूर्वीः ॥ऋ० ६.२४.३

देवता—इन्द्रः। (शूर पुरुहूत इन्द्र !) शूरवीर सर्वपूज्य परमेश्वर ! (चक्र्योः अक्षः न ते बृहन् मह्ना रोदस्योः प्ररिरिचे) चक्रों की धुरी के समान तेरी महान् महिमा द्यावापृथिवी में अधिक है। अर्थात् जिस प्रकार धुरी रथ के दोनों चक्रों को स्थिर रखती है, इसी प्रकार तुम भी द्यावापृथिवी रूपी दोनों चक्रों को नियम में रखते हो, अतः तुम्हारी महिमा-धुरी अपूर्व है। (वृक्षस्य वया नु ते पूर्वीः ऊतयः विरुरुहुः) और वृक्ष की शाखायों की न्याईं चहुं ओर फैली हुईं तुम्हारी पूर्ण रक्षायें विविध प्रकार से प्रादुर्भूत हैं।

चक्री=चक्र। मह्ना=महिमा। वयाः=शाखाः, क्योंकि ये (वात+अयन) वायु से हिलने वाली होती हैं। गत्यर्थक वा धातु से अच् प्रत्यय। खशया—खशा—शाख—शाखा। अन्तरिक्ष में लटकी रहने से इसे शाखा कहते हैं। अथवा, 'शक्' धातु से शाखा सिद्ध किया जासकता है, क्योंकि ये वायु-मण्डल में से अपना भोजन लेने में शक्त हैं।

५

अर्थोपसङ्ग्रहनिपात | अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते, नत्वौद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः ।

जिस निपात के आगम से अर्थ की पृथक्ता तो विज्ञात होती है, परन्तु वह उद्दिष्ट अर्थ की न्याईं नहीं होती, क्योंकि वहां विग्रह द्वारा–विस्तार द्वारा–पृथक्ता होती है––उसे कर्मोपसंग्रह निपात कहते हैं ।

कर्मोपसंग्रह का शब्दार्थ अर्थोपसंग्रह है । अर्थोपसंग्रह वह निपात कहलाते हैं, जो किसी दूसरे अर्थ का संग्रह करें । इन निपातों के आगम से उक्त अर्थ के सिवाय भिन्न अर्थ का भी बोधन होता है । परन्तु इस भिन्न अर्थ का बोधन उद्दिष्ट अर्थ की न्याईं नहीं होता । उद्दिष्ट अर्थ में अर्थ--परिज्ञान विग्रह द्वारा–विस्तार द्वारा–होता है, परन्तु इन निपातों से वह अर्थ स्वयं ही संगृहीत हो जाता है । जैसे 'देवदत्तश्च' कहने से 'च' निपात द्वारा यज्ञदत्त आदि अनुद्दिष्ट अर्थ का परिज्ञान होता है । 'नरो वा' यहां पर 'वा' निपात 'नर' के सिवाय किसी भिन्न वस्तु का भान कराता है । "वेदाः परमेश्वरेणैव रचिताः" यहां पर 'एव' निपात, वेद अन्य किसी मनुष्य के रचित नहीं–इस अनुक्त अर्थ को जतलाता है ।

विग्रह शब्द विस्तार वाची अमर कोश में पठित है ।

१ च | च इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यत अहं च त्वं च वृत्रहन्निति ।

'च' निपात समुच्चयार्थक है । यह कभी २ अलग २ दो पदों के साथ संयुक्त किया जाता है, जैसे निम्नलिखित मंत्र में अहं, और त्वं दोनों के साथ संप्रयुक्त है ।

अहं च त्वं च वृत्रहन्त्संयुज्याव सनिभ्य आ। अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ ऋ० ८. ६२. ११

देवता—इन्द्रः। (वृत्रहन् अद्रिवः शूर) अवनाशक, आदरणीय, शूरवीर परमेश्वर ! (आ सनिभ्यः अहं च त्वं च संयुज्याव) मोक्षजन्य सुखभोगों की अवधि तक मैं और तू संयुक्त हों (नौ अरातीवा चित् अनुमंसते) हमारे योग की अवस्था में सुखाभाव भी मेरे लिये अनुकूल होता है (इन्द्रस्य रातयः भद्राः) क्योंकि हे परमेश्वर ! तुम्हारे दान कल्याण प्रद हैं।

२. आ। एतस्मिन्नेवार्थे देवेभ्यश्च पितृभ्य आ इत्याकारः।

इसी समुच्चय अर्थ में "देवेभ्यश्च पितृभ्य आ" यहां आकार प्रयुक्त है। मंत्र इस प्रकार है—

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचाति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥ ऋ० १०. १६. ११

देवता—अग्निः। (यः कव्यवाहनः अग्निः) जो कवियों के लिये हितकारी सुखों को पहुंचाने वाला, तेजस्वी ब्रह्मचारी (ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्) वेद-विद्या से वृद्ध गुरुजनों का सत्कार करता है (इत् उ देवेभ्यः च पितृभ्यः आ हव्यानि प्रवोचाति) वह ही विद्वान्, और गुरुजनों की विद्याओं का भली प्रकार प्रवचन कर सकता है। देवेभ्यः, पितृभ्यः, यह दोनों षष्ठ्यर्थ में हैं।

३. वा। वेति विचारणार्थे "हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा" इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इति।

'वा' निपात विचारने अर्थ में इस मंत्र में प्रयुक्त है—

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ ऋ० १०. ११९. ९

देवता––आत्मस्तुतिः। (हन्त अहं इमां पृथिवीं इह वा निदधानि इह वा, इति कुवित् सोमस्य अपाम्) 'हन्त' निपात हर्ष में प्रयुक्त है। सन्यासाश्रम में प्रवेशेच्छुक परमात्म–भक्त सर्वमेध–यज्ञ करते समय प्रसन्नता प्रकट करता है कि मैं इस सांसारिक विभूति को यहां छोड़ता हूं, यहां छोड़ता हूं, क्योंकि मैंने बहुविध योगैश्वर्य का पान कर लिया है। इति=यस्मात्। निम्नलिखित मंत्र में 'वा' समुच्चयार्थक हैं––

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
ते अग्रे अश्वमयुञ्जँस्ते अस्मिञ्जवमादधुः ॥ यजु० ९. ७

यास्क ने "वायु र्वा त्वा मनु र्वा त्वा" ऐसा पाठ दिया है। पता नहीं यह किस शाखा का पाठ है। दुर्गाचार्य ने भी अपनी व्याख्या में यही पाठ दिया है। उपर्युक्त पाठ–भेद से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि **मनु का अर्थ मन** है। (वातः वा मनः वा सप्तविंशतिः गन्धर्वाः) वायु और मन इत्यादि २७ गन्धर्व पृथिवी को धारण करने हारे हैं। (ते अग्रे अश्वं अयुञ्जन्) उन्हों ने सृष्ट्युत्पत्ति के समय इस महान् संसार को संयुक्त किया (ते अस्मिन् जवं आदधुः) और उन्हों ने इस जगत् में गति को धारण किया।

२७ पदार्थ यह हैं––समष्टिवायु, प्राण अपान व्यान उदान समान नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जय–यह १० वायुयें, मन, १० इन्द्रियें, इन्द्रियों के कारण ५ सूक्ष्म भूत।

४. अह, ५. ह। अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। अयमहेदं करोत्वयमिदम्, इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति।

अह और **ह** निपात अलग करने अर्थ में हैं। यह प्रस्तुत दो वाक्यों में से पहले वाक्य के साथ संयुक्त हुआ करते हैं। जैसे, अयम्

अह इदं करोतु, अयम् इदम्=यह मनुष्य यह कार्य करे, यह मनुष्य यह करे। इदं ह करिष्यति, इदं न करिष्यति=अमुक व्यक्ति यह कार्य करेगा, यह कार्य नहीं करेगा। इन दोनों स्थलों में 'अह' तथा 'ह' पहले वाक्य के साथ संयुक्त हैं।

६. उ। अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण। मृषेमे वदन्ति सत्य मु ते वदन्तीति। अथापि पदपूरणः 'इदमु' 'तदु'।

(क) इसी अलग करने अर्थ में उ निपात आता है। यह प्रस्तुत दो वाक्यों में से दूसरे वाक्य के साथ संयुक्त हुआ करता है। जैसे मृषा इमे वदन्ति, सत्यम् उ ते वदन्ति=ये झूठ बोलते हैं, वे सच बोलते हैं। (ख) 'उ' निपात पदपूर्ति के लिए भी आता है, जैसे निम्नलिखित मंत्रों में स्पष्ट है—

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योति स्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभाती र्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय॥ ऋ०४.५१.१

देवता—उषसः। (त्यत् इदं तमसः पुरुतमं ज्योतिः पुरस्तात् वयुनावत् अस्थात्) वह यह अन्धकार का पूर्णतया नाश करने वाली ज्योति पूर्व दिशा में प्रज्ञान के सदृश उठती है। (नून दिवः दुहितरः विभातीः उषसः जनाय गातुं कृणवन्) निश्चय से ये सूर्य की कन्यायें, देदीप्यमान उषायें मनुष्य के लिये गमन कर रही हैं।

तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतम मस्ति दंसः।
उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः॥ ऋ० १.६२.६

देवता—इन्द्रः। (अस्य दस्मस्य तत् प्रयक्षतमं चारुतमं दंसः कर्म अस्ति) इस दुःख नाशक राजा का वह पूजा के योग्य, चारुतम, और दर्शनीय कर्म है (यत् उपह्वरे) जो हमारे समीप रहता हुआ (मध्वर्णसः नद्यः चतस्रः उपराः अपिन्वत्) जैसे मधुर जल

वाली नदियें चारों दिशाओं को सींचता है, वैसे राष्ट्र की चारों दिशाओं को सुख से सींचता है। 'उपह्वर' शब्द अन्तिक, तथा एकान्त अर्थ में अमर कोश में पठित है।

७. हि। हीत्येषोऽनेककर्मेदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे, कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे, कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्।

'हि' यह निपात अनेकार्थक है। (क) इदं हि करिष्यति=इस काम को करेगा—यह हेतु-वचन में है। (ख) कथं हि करिष्यति, हैं ! कैसे करेगा ?—यह दुबारा प्रश्न में है। (ग) कथं हि व्याकरिष्यति=ऐं ! कैसे बतलायेगा ?—यह असूया में है। 'असूया' कहते हैं गुणों में दोषारोपण, अर्थात् झूठी निन्दा। यहां किसी विद्वान के बारे में कहा गया कि इसे आता जाता तो कुछ नहीं अमुक प्रसङ्ग की व्याख्या कैसे कर सकेगा। 'हि' हेत्वपदेश, तथा अनुपृष्ट में 'नु' की न्याईं समानार्थक है।

८. किल। किलेति विद्याप्रकर्षे एवं किलेति। अथापि न, ननु इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। न किलैवम्, ननु किलैवम्।

i 'किल' यह निपात ज्ञानातिशय में आता है। जैसे, एवं किल, यह इस प्रकार है। यहां वक्ता को उस बात का पूर्ण ज्ञान है जिसे वह कह रहा है। ii दुबारा प्रश्न में 'न' 'ननु' के साथ 'किल' का प्रयोग होता है। जैसे, न किल एवम्=क्या ऐसा नहीं है ? ननु किल एवम्=क्या ऐसा है ? किसी ने किसी को कहा कि यह ऐसा नहीं है, पर श्रोता को उस पर विश्वास नहीं हुआ. अतः वह फिर दुबारा पूछता कि क्या ऐसा नहीं है ?

९. मा, १० खलु | **मेति प्रतिषेधे, माकार्षी र्मा हार्षीरिति च । खल्विति च, खलु कृत्वा. खलु कृतम् । अथापि पदपूरण एवं खलु तद्बभूवेति ।**

'मा' यह निपात निषेध में प्रयुक्त होता है । जैसे, माकार्षीः=मत कर । मा हार्षीः=मत हरण कर ।

'खलु' यह निपात भी निषेधार्थक है । जैसे, खलु कृत्वा=न करके । खलु कृतम्=नहीं किया । 'खलु' पदपूर्ति के लिये भी प्रयुक्त होता है । जैसे, एवं खलु तत् बभूव=वह इस प्रकार हुआ ।

११. शश्वत् | **शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायां, शश्वदेवमित्यनुपृष्टे, एवं शश्वदित्यस्वयंपृष्टे ।**

(क) 'शश्वत्' यह निपात संशय अर्थ में भाषा में प्रयुक्त होता है । (ख) शश्वदेवम् ?=क्या ऐसे है ? यहां 'शश्वत्' दुवारा प्रश्न में प्रयुक्त हुआ है । (ग) एवं शश्वत्=हां, ऐसे है–यहां अस्वयंपृष्ट में, अर्थात् दूसरे के पूछने पर आया है । यहां अर्थ–भेद से शश्वत के प्रयोग में भेद है । जब 'शश्वत्' अनुपृष्ट में आता है तब उसका प्रयोग 'एवं' से पहले आता है, और जब दूसरे के पूछने पर उत्तर में प्रयुक्त किया जावे तब 'एवं' के पीछे आना चाहिये ।

* तृतीय पाद *

६

१२. नूनम् | **नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च । अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्पदित्साञ्चकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे— न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम् ।**

अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्य मुताधीतं विनश्यति॥ १. १७०.१

न नूनमस्त्यद्यतनं, नो एव श्वस्तनम्। अद्यास्मिन्द्यवि। द्युरित्यह्नो नामधेयं, द्योतत इति सतः। श्व उपाशंसनीयः कालः। ह्यो हीनः कालः। (कस्तद्वेद यदद्भुतम्) कस्तद्वेद यदभूतम्। इदमपीतरदद्भुतमभूतमिव। (अन्यस्य चित्तम् अभिसञ्चरेण्यम्) अभिसञ्चारि। अन्यः नानेयः। चित्तं चेततेः। (उताधीतं विनश्यति–इति) अप्याध्यातं विनश्यति। आध्यातमभिप्रेतम्।

'नूनम्' यह निपात संदेहार्थक भाषा में आता है। परन्तु वेद में संदेह तथा पदपूर्ति दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। संदेहार्थक 'नूनम्' "न नून मस्ति" आदि मंत्र में है। परन्तु मंत्र देने से पूर्व यास्काचार्य उस मंत्र का प्रतिपाद्य विषय दर्शाते हैं कि (अगस्त्यः) विज्ञानवान् पुरुष ने (इन्द्राय=जीवात्मा के लिये) अपने लिये भोग्य-सामग्री तैयार कर के अन्य मनुष्यों को देनी चाही, तब उस का आत्मा आकर विलाप करने लगा। (न नूनम् अस्ति, नो श्वः, तत् कः वेद यत् अद्भुतम्) जो वस्तु आज की नहीं है, वह कल की भी नहीं है, उसे कौन जानता है जो भविष्यत् की है (अन्यस्य चित्तं अभिसञ्चरेण्यम्) नाना–विचारों वाले या अस्थिरमति, सज्जनों में लाने के अयोग्य नीच का चित्त चलायमान होता है (उत आधीतं विनश्यति) उसका अभिप्रेत पदार्थ भी नष्ट होजाता है। ज्ञानी–मनुष्य के हृदय में सदा देवासुर–संग्राम होता रहता है। आसुरी–भाव अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं, परन्तु दैवी–भाव उन्हें दबा देते हैं। उपर्युक्त मंत्र में दर्शाया गया है कि किसप्रकार आसुरी–भाव दैवी भावों को दबाने की चेष्टा कर रहे हैं। ज्ञानी अन्न–दान के उत्तम भाव को कार्य में परिणत करना चाहता है कि आसुरी–भाव उसे

आ दबाते हैं। परन्तु साथ ही 'अन्य' शब्द से यह भी प्रकट कर दिया कि यह चित्त की चंचलता उन्हीं में होती है जो नाना-विचारों वाले होते हैं। जिन के विचार परिपक्व हो जाते हैं जैसे योगिजनों के, उन का चित्त चंचल नहीं होता। मंत्र के उपर्युक्त भाव को स्पष्ट करने के लिये सूक्त के दो मंत्र और यहां पर दिये जाते हैं। इस सूक्त में सारे ५ मंत्र हैं, जिनका देवता इन्द्र है। वे दो मंत्र इस प्रकार हैं।

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥ ऋ० १. १७०. २

(इन्द्र ! नः किं जिघांससि, मरुतः तव भ्रातरः) हे मनुष्य ! हमें तू क्यों मारने की इच्छा रखता है, हम मनुष्य तुम्हारे भाई हैं। (तेभिः साधुया कल्पस्व) उन हमारे साथ मिल कर साधु-कर्मों से सामर्थ्यवान् बनो। (नः समरणे मा वधीः) हमें संसार-संग्राम में मत मारो। एवं, इस मंत्र में ज्ञानी के चित्त में दैवी-भावों का उदय होता है कि सब मनुष्य परस्पर भाई २ हैं, उन के सुख में ही सुख है, उन के साथ मिल कर ही श्रेष्ठ-कर्मों द्वारा मनुष्य सामर्थ्य लाभ कर सकता है अन्यथा नहीं, अतः बांट कर अन्न-भोग करना चाहिए। 'केवलाघो भवति केवलादी' अकेला खाने वाला पापी होता है।

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः ।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः संवदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि । ऋ०१.१७०.५

हे धनपते ! तुम धन के मालिक हो, हे मित्रपते ! तुम मित्रों के पोषक हो, हे मनुष्य ! तू मनुष्यों के साथ अच्छी वाणी बोल, और उन के साथ मिलकर ऋतु-अनुकूल अन्नों को खा। एवं, इस मंत्र में भी दैवी-भाव ही विजय पाये हुए हैं। एवं, प्रकरण को दिखलाने के पश्चात् यास्क-व्याख्यान की ओर आते हैं।

मंत्र में 'श्वः' शब्द के प्रयोग से यास्क ने 'न नूनं अस्ति' यहां 'अद्यतनं' का अध्याहार करते हुए 'न नूनं अस्ति अद्यतनं' ऐसा अर्थ किया है। अद्य=अद्यतनं=आज का। श्वः=श्वस्तनं=कल का। अस्मिन् द्यवि-अ...द्य। 'द्यु' यह दिन का नाम है, द्योतते इति द्युः, द्युत् दीप्तौ धातु से कर्ता में 'डु' प्रत्यय। (द्योतते इति सतः) द्योतते इति कर्तृकारकात्। **एवं, निरुक्त में 'सतः' का अर्थ सर्वत्र कर्तृकारकात् समझना चाहिए।** श्वः=उपाशंसनीयः कालः, जो काल आशा किये जाने वाला है, अर्थात् अगला दिन। मनुष्यों की आशायें सदा अगले दिन में बनी रहती हैं। आङ् पूर्वक शास् धातु से 'श्वः' सिद्ध किया गया है। ह्यः=हीनः कालः=बीता हुआ समय, अर्थात् पिछला दिन। 'श्वः' के संबन्ध से यहां यास्क ने 'ह्यः' का भी निर्वचन देदिया, यद्यपि मंत्र में 'ह्यः' शब्द नहीं। **यह यास्काचार्य की शैली आगे सर्वत्र पाई जावेगी।** अभूत=अद्भुत-जो भूत न हो, अर्थात् भविष्यत्। आश्चर्य-वाची अद्भुत शब्द भी इसी अभूत से बनता है क्योंकि वह अन-हुआ जैसा होता है। अन्यः-नानेयः, नाना-रूपों वाला-नाना-विचारों वाला। नानेय-अ...न्...य-अन्य। ii न आनेयः-सज्जनों में न लाने के योग्य, अर्थात् नीच। न का अ, और आनेय का न् य लेकर 'अन्य' सिद्ध किया गया है।

चित्तम्= दिल, चिती संज्ञाने धातु से। उत=अपि। आधीतं=अध्यातम्=अभिप्रेतम्, आङ पूर्वक ध्यै चिन्तायाम्।

अथापिपदपूरणाः—

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी। शिक्षा स्तोतृभ्यो मातिधग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः। २.११.२१.

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरि-

ता गरिता । (दक्षिणा मघोनी) मघवती । मघमिति धन-नामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः । दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयति कर्मणो, व्यृद्धं समर्द्धयतीति, अपिवा प्रदक्षिणागमनाद्दिशमभिप्रेत्य । दिग्घस्तप्रकृतिः । दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः, दाशतेर्वा स्याद्दानकर्मणः । हस्तो हन्तेः, प्राशुर्हनने । देहि स्तोतृभ्यः कामान् । मास्मानतिदंहीः=मास्मानतिहाय दाः । भगो नो अस्तु बृहद्वदेम स्वे वेदने । भगो भजतेः । बृहदिति महतो नामधेयं परिवृल्हं भवति । वीरवन्तः कल्याणवीरा वा । वीरो वीरय-त्यमित्रान्, वेतेर्वास्याद्गतिकर्मणः, वीरयतेर्वा ।

'नूनम्' निपात पद पूर्ति के लिये 'नूनं सा ते' आदि मंत्र में है । मंत्र का देवता इन्द्र है । (इन्द्र ! ते सा ते मघोनी दक्षिणा जरित्रे वरं प्रतिदुहीयत्) हे परमेश्वर ! आप का वह धनैश्वर्य-दान आप के भक्त के लिये श्रेष्ठ सुख को दोहे (स्तोतृभ्यः शिक्ष) स्व-भक्तों को वाञ्छित कामनायें प्रदान करो । (मा अतिधक्) उस दान में हमें मत छोड़ो । (नः भगः) हमारा ऐश्वर्य हो । (सुवीराः विदथे बृहत् वदेम) सुवीर सन्तान वाले होते हुए हम अपने निवेदन में बड़े वचन बोलें ।

'वर' उसे कहते हैं जो वरयितव्य हो-स्वीकर्तव्य हो । वृञ् वरणे, वृङ् संभक्तौ—दोनों धातुओं से वर सिद्ध हो सकता है । जरिता गरिता=स्तोता—जॄ, तथा गॄ दोनों धातुयें स्तुत्यर्थक हैं । मघोनी मघवती, मघवन् ङीप्—'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (पाणि. ६.४.१३३) यद्यपि 'अतद्धित' में संप्रसारण करता है, परन्तु वेद में 'तद्धित' में भी 'व' को 'उ' संप्रसारण होकर मघोनी बना । मघ=धन, इसकी सिद्धि दानार्थक मंह (महि) धातु से होती है, जिस का

दान किया जावे वह मघ । i दक्षिणा=दान (क) समृद्ध्यर्थक 'दक्ष' धातु से 'इनन्' प्रत्यय (उणा० २.५०) यह दक्षिणा (व्यृद्धं) विगत ऋद्धि वाले निर्धन को समृद्ध बना देती है, अथवा अपूर्ण यज्ञ को पूर्ण बना देती है, क्योंकि बिना दक्षिणा के यज्ञ अधूरा है। (ख) अथवा अपने से प्रतिगृहीता को दाहिनी ओर रखकर दक्षिणा दी जाती है, अतः दक्षिण ओर आने से इसे दक्षिणा कहा गया है। ii दक्षिण दिशा को 'दक्षिणा' कहे जाने का कारण दक्षिण हाथ है। अर्थात् पूर्वाभिमुख बैठने से जिस ओर हमारा दाहिना हाथ रहता है, उसे दाक्षिण दिशा कहते हैं। iii दाहिने हाथ के लिये दक्षिण शब्द उत्साहार्थक 'दक्ष' धातु से अथवा दानार्थक 'दाशृ' धातु से सिद्ध होता है। इसी हाथ से उत्साह युक्त सब कर्म किये जाते हैं, और इसी से दान दिया जाता है। **उत्साहार्थक दक्ष धातु, धातु-पाठ में पठित नहीं, यास्क ने इस अर्थ में प्रयुक्त की है।** 'हस्त' शब्द 'हन्' धातु से सिद्ध होता है, यतः हाथ हनन में—मारने में, अथवा गति में तेज़ है। शिक्ष=देहि, दानार्थक शिक्ष धातु निघण्टु-पठित है। आतिभक्=अतिदंहीः=अतिहाय दाः=अतिहाय देहि, यहां दानार्थक 'दह' धातु मानी गई है। विदथे=वेदने, विद ज्ञाने धातु से 'अथ' प्रत्यय (उणा० ३.११५)। भज सेवायाम् धातु से भग शब्द बनता है। वह भग ६ प्रकार का होता है, जैसे निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है,—

> **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, श्रियः।**
> **ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान, और वैराग्य, इन ६ का भग नाम है।

बृहत्-महान्, क्योंकि वह सब ओर से बढ़ा हुआ होता है। 'बृह्' धातु से 'अति' प्रत्यय (उणा० २.८४) सुवीराः=वीरवन्तः बहुत वीरों वाले, अथवा कल्याण वीराः=कल्याण युक्त वीरों वाले। एवं, सुवीर में 'सु' उपसर्ग अधिक, तथा शोभन, दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। वीर के तीन निर्वचन हैं i वीरयति अमित्रान्—शत्रुओं को कंपाने वाला, वि पूर्वक 'ईर' गतौ कम्पने च धातु से ii गत्यर्थक 'वी' धातु से, वीर=पुरुषार्थी iii वीर विक्रान्तौ चुरादिगणी धातु से, पराक्रमी।

१३ सीम् सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा। "प्रसीमादित्यो असृजत्" प्रासृजदिति वा, प्रासृजत् सर्वत इति वा। "विसीमतः सुरुचो वेन आवः" इति च। व्यवृणोत् सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्यरश्मयः सुरोचनात्। अपिवा सीमेत्येतदनर्थक मुपबन्ध माददीत पञ्चमीकर्माणम्—सीम्नः=सीमतः=मर्यादातः। सीमा मर्यादा, विसीव्यति देशाविति।

'सीम' यह निपात परितो-ग्रहण अर्थात् सर्वतः अर्थ में, और पद पूर्ति में प्रयुक्त होता है। निम्नलिखित मंत्र में ये दोनों अर्थ संगत हो सकते हैं—

प्रसीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न विमुञ्चन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन्॥ २.२८.४

देवता—वरुणः (विधर्ता आदित्यः सीम् प्रासृजत्) सब को धारण करने वाले अविनाशी प्रभु ने सृष्टि के सत्य-नियम को पैदा किया, अथवा उसने सर्वत्र सृष्टि के सत्य-नियम को पैदा किया। (वरुणस्य सिन्धवः परियन्ति) सर्वश्रेष्ठ जगदीश्वर के सृष्टि-नियम सर्वत्र विचरते हैं। (एते न श्राम्यन्ति न विमुञ्चन्ति) ये सृष्टि नियम नाही थकते हैं, और नाही किसी को छोड़ते हैं। (परिज्मन्

वयः न रघुया पप्तुः) ये नियम संसार में पक्षियों की न्याईं शीघ्र गति से उड़ते हैं।

रघुया=रघुणा=गत्या, गत्यर्थक 'रघि' धातु से 'कु' प्रत्यय (उणा. १.२९)
(ख) 'सीम्' के अर्थ में ही 'सीमतः' निपात प्रयुक्त होता है। जिसका वेदमंत्र यह है—

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः। यजु० १३.३

देवता—आदित्यः। (जज्ञानं, प्रथम, ब्रह्म, वेनः) जो सर्व-जनक, सर्व-श्रेष्ठ, धर्ता, तथा मनुष्यों से वाञ्छनीय आदित्य परमेश्वर है, (अस्य विष्ठाः बुध्न्याः उपमा) जिसके विविधस्थलों में स्थित अन्तरिक्षस्थ लोक लोकान्तर उपमाभूत हैं, (सः सीमतः पुरस्तात् सुरुचः व्यावः) उसने सर्वत्र, अथवा मर्यादा पूर्वक सृष्ट्युत्पत्ति के समय अपने तेज को फैलाया है, (सतः च, असतः च योनिं विवः) और, स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् को कारणभूत प्रकृति को विविधप्रकार से विस्तृत किया।

व्यावः=व्यवृणोत्। सुरुच्=आदित्य रश्मि, मंत्र का देवता आदित्य होने के कारण आदित्य रश्मि कहा गया है, अर्थात् आदित्य परमेश्वर का तेज, यतः वह सुदीप्त होता है। 'सु' पूर्वक 'रुच दीप्तौ' धातु से क्विप्। सीमतः=सर्वतः। अथवा सीमतः को 'सीम्' का स्थानापन्न मानते हुए जो 'अतः' अनुबन्ध निरर्थक समझा गया है वह अनर्थक नहीं, वह पञ्चम्यर्थ 'तसिल्' प्रत्यय का तस् है, और यह तसिल् प्रत्यय सीमन् शब्द से किया गया है जिसका अर्थ है सीमा=मर्यादा, **सीमतः** निपात का दूसरा अर्थ 'मर्यादा से' यह भी होगा। सो यास्क ने उपर्युक्त मंत्र में 'सीमतः' के सर्वतः तथा मर्यादापूर्वक–यह दोनों

अर्थ संघटित किये हैं। सीमन् और सीमा दोनों शब्द संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं, और प्रथमा विभक्ति के एकवचन में सीमन् का भी सीमा ही रूप बनता है। (अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्) अथवा 'सीमन्' यह पद अनर्थक (तसिल्=तः) प्रत्यय को ग्रहण करे, जोकि पञ्चमी के अर्थ वाला है। सीमा=मर्यादा, यह दो देशों को अलग करती है। 'सिव्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय (उणा० ४, १५१)। षिवु तन्तुसन्ताने धातु यद्यपि कपड़े के सीने में प्रयुक्त है, परन्तु यहां दो पदार्थों के जोड़ने में मान कर, पुनः दो पदार्थों के अलग करने में मानी गई है। सीवन=सीना। विसीवन-फाड़ना।

७

१४. त्वः त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्। अर्धनामेत्येके। ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥ १०.७१.११

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान्, होता। ऋग् अर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्वरीषु, उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य ऋचः, शक्नोतेः। तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा=सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः, ब्रह्म परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः, अध्वर्युः। अध्वर्युः-अध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा। अपिवाऽधीयाने युरुपबन्धः। अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।

'त्वः' शब्द यद्यपि नाम है निपात नहीं, तथापि यास्क ने इस

का यहां निपातों में पारिगणन इस लिये कर दिया है कि कुछ विद्वान् 'त्वः' को निपात मानते हैं। इस पक्ष का आगे खण्डन भी किया जावेगा। 'त्व' यह पृथक्करणार्थक सर्ववाची, और अनुदात्त-स्वरवाला है। कई आचार्य मानते हैं कि 'त्व' आधे का वाचक है। अर्थात् 'त्व' का अर्थ सारा अथवा आधा है, और वह 'त्व' अनुदात्त है, तथा पृथक् करने के भाव को प्रकट करता है, अन्यों से पृथक् करता है, जैसा कि मंत्र व्याख्या से स्पष्ट हो जावेगा। 'ऋचां त्वः' आदि मंत्र का देवता ब्रह्म-ज्ञान (वेद-ज्ञान) है। यह मंत्र वेदज्ञ ऋत्वि-जों के काम का विनियोग दर्शाता है कि यज्ञ में मुख्यतया चार वेद ज्ञाता ऋत्विज होने चाहिएं, और उन चारों के अमुक काम हैं।

(त्वः ऋचां पोषं पुपुष्वान् आस्ते) एक, होता नामी ऋत्विज् ऋक् मंत्रों की पुष्टि करता हुआ बैठता है, अर्थात् वह मंत्रों का ठीक २ अन्वयन करता है, (त्वः शक्करीषु गायत्रं गायति) दूसरा, उद्गाता ऋत्विज् ऋचाओं में सामगान करता है, (त्वः ब्रह्मा जातविद्यां वदति) तीसरा, ब्रह्मा नामी ऋत्विज् यज्ञ में किसी त्रुटि के आने पर त्रुटि-ज्ञापक वाणी बोलता है, (उ त्वः यज्ञस्य मात्रां विमिमीते) और चौथा, अध्वर्यु ऋत्विज् यज्ञ की संपूर्ण इति-कर्तव्यता को करता है। यज्ञ में आहुति डालना, और जलप्रक्षेपणादि जितना भी क्रियाकलाप है वह सब अध्वर्यु करता है।

ऋक्-अर्चनी, पदार्थों के गुणों को बताने हारी। ऋच् तथा ऋचा ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं, और 'ऋच स्तुतौ' से क्विप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होते हैं (उणा० २. ५७)। गायत्र शब्द स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से सिद्ध होता है (उणा. ३ १०५) बहुल ग्रहण से

'अत्रन्' प्रत्यय। शक्वर्यः=ऋचः, शक्वरी ऋचा वाची है, जो 'शक्लृ शक्तौ' से 'वनिप्' प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है (उणा. ४. ११३)। तत्=तत्र। 'शक्वरी' के इस निर्वचन में 'यदाभिः' आदि ब्राह्मण-वचन भी प्रमाण है जिस में शक्वरी का यही निर्वचन किया गया है कि यतः इन ऋचाओं के द्वारा इन्द्र-जीवात्मा-पाप को नष्ट करने में समर्थ हुआ, अतः यह शक्वरियों का शक्वरीत्व है। जातविद्यां=जाते जाते विद्यां वेदयित्रीं वाचं। ब्रह्मा संपूर्ण त्रयी-विद्या को जानने वाला होता है, वह सब कुछ जानने के योग्य होता है। ब्रह्मा वह है जो श्रवण से बड़ा है, बहुश्रुत है। बृद्ध्यर्थक 'बृह्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय (उणा. ४. १४६)। परमेश्वर या वेद को 'ब्रह्म' इस लिये कहते हैं कि वह सब से बड़ा है। परिवृळ्ह=परिवृढ। दो स्वरों के बीच में यदि 'ढ' आजावे तो उसे 'ळ्ह' और ड को ळ हो जाता है। अध्वरयु-अध्वर्‌यु-अध्वर्यु। अध्वरयु का निर्वचन ४ प्रकार से किया गया है। (१) अध्वरं युनक्ति इति अध्वरयुः, अर्थात् यज्ञ को युक्त करने वाला। अध्वर पूर्वक 'युज्' धातु (उणा. १. ३७)। (२) अध्वरस्य नेता, अर्थात् यज्ञ का नेता। णीञ् प्रापणे, और या प्रापणे दोनों धातुयें समानार्थक हैं, यास्काचार्य ने स्पष्टीकरण के लिये नेता का प्रयोग कर दिया है, अन्यथा अध्वरस्य याता चाहिए। अध्वर पूर्वक 'या' धातु से 'कु' प्रत्यय (उणा० १.३७)। (३) अध्वरं कामयते अध्वरयुः, यज्ञ की कामना वाला। कामना अर्थ में अध्वर शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय (पा० ३.१.८) और पुनः 'क्याच्छन्दसि' से 'उ' (पा० ३.२.१७०) जैसे, वसुयुः=वसु कामयमानः, सुम्नयुः=सुम्नं सुखं कामयमानः, देवयुः=देवं कामयमानः आदि प्रयोग वेद में आते हैं। (४) अध्ययन करने अर्थ में अध्वर से 'यु' प्रत्यय,

अध्वरं अधीते अध्वरयुः, यज्ञ–विद्या का अध्ययन करने वाला। पाणिनि ने तदधीते तद्वेद (४.२.५९) इत्यादि प्रकरण में 'अध्ययन' अर्थ में अण् ठक्, वुन्, इनि–यह चार प्रत्यय विधान किये हैं, परन्तु यास्क ने 'यु' प्रत्यय भी माना है। अध्वर=यज्ञ, निघण्टु–पठित 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है,. अध्वर में उसका प्रतिषेध है। अर्थात् नञ् पूर्वक 'ध्वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय (३.३.११८)। यज्ञवाची अध्वर शब्द से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यज्ञों में किसी तरह की पशु - हिंसा नहीं होती। यज्ञों में पशु-वध होने से उनके लिऐ 'अध्वर' शब्द सार्थक नहीं हो सकता। धातुपाठ में 'ध्वृ' हूर्च्छने धातु पठित है। 'ध्वृ' धातु हूर्च्छन अर्थात् कौटिल्यार्थक मानी गई है, परन्तु निघण्टु में हिंसार्थक कही गई है।

निपात इत्येके। तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्, दृष्टव्ययन्तु भवति। "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः" इति द्वितीयायाम्। "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे" इति चतुर्थ्याम्।

'त्वः' निपात है, ऐसा कई आचार्य मानते हैं। (क) यदि निपात है तो वह 'त्व' पद कैसे अनुदात्त स्वभाव वाला होगा। 'त्वः' अनुदात्त स्वर वाला है, ऐसा सभी आचार्य मानते हैं, परन्तु निपाता-आद्युदात्ताः (४.११) इस फिट् सूत्र से निपात आद्युदात्त माने गये हैं अनुदात्त नहीं, अतः 'त्वः' नाम है निपात नहीं। फिषोऽन्त उदात्तः फिट् सूत्र १.१) से सामान्यतः प्रातिपदिक का अन्त उदात्त माना गया है। पुनः, इसके अपवाद सूत्र "त्व त्व नेम सम सिमेत्यनुच्चानि (फिट् सूत्र ४ ९) से 'त्व' शब्द अनुदात्त माना गया है। (ख) और इस 'त्व' पद का विकार देखा जाता है, परन्तु निपात अव्यय होते हैं, अतः 'त्व' निपात नहीं, नाम है। अनुदात्तप्रकृति नाम, यहां पर 'नाम' निपात प्रसिद्धि–द्योतक है। दृष्टव्ययन्तु–यहां 'तु'

समुच्चयार्थक है। दृष्टो व्ययो विकारो यस्य तत् दृष्टव्ययम् । अव्यय का लक्षण इस प्रकार है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों, और सब वचनों में समान है, तथा विकार को प्राप्त नहीं होता वह अव्यय है। परन्तु 'त्व' में विकार देखा जाता है। वह भिन्न भिन्न विभक्तियों और बचनों में भिन्न २ पाया जाता है। इस में निम्नलिखित तीन मंत्र प्रमाण स्वरूप हैं। (क) "उत त्वं सख्ये स्थिरपीत माहुः" यहां पर 'त्वम्' द्वितीया विभक्तिं में प्रयुक्त है (ख) "उतो त्वस्मै" में 'त्वस्मै' चतुर्थी विभक्ति में "पठित है। इन दोनों मंत्रों की व्याख्या निरु० १. १८ में देखो।

८

अथापि प्रथमा बहुवचने—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे। १०.७१.७

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेः, अनक्तेरित्याग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्तते निकृत्तद्वारो भवति, ऋच्छतेरित्याग्रायणः। ऋच्छन्तीव खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते। मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः। आस्यदघ्ना अपरे, उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यमस्यतेः, आस्यन्दत एतदन्नमिति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः, दस्यतेर्वास्याद्विदस्ततरं भवति। प्रस्नेया ह्रदा इवैके ददृशिरे। प्रस्नेयाः स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः, ह्लादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः।

(ग) और प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में भी 'त्व' का प्रयोग

आता है, जैसे 'अक्षण्वन्तः' आदि मंत्र में 'त्वे' है। 'त्व' शब्द सर्वादिगण में पठित होने के कारण सर्वनाम संज्ञा वाला है, अतएव 'त्वे' 'त्वस्मै' आदि रूप बनते हैं। उपर्युक्त मंत्र का देवता ब्रह्म-ज्ञान है। 'त्व' के विचार में ऋचां त्वः पोषमास्ते, उत त्वं सख्ये, उतो त्वस्मै, अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः, आदि चार मंत्र यास्क ने दिये हैं। ये चारों मंत्र ऋग्वेद के एक ही सूक्त के हैं, और इनका देवता भी एक ही है। अस्तु, अब प्रस्तुत मंत्र का अर्थ देखिए। (अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेषु असमाः बभूवुः) प्रशस्त आंखों, तथा कानों वाले एक ही श्रेणी के विद्यार्थी मन की गतियों में विषम होते हैं। (त्वे आदघ्नासः, उ उपकक्षासः ह्रदाः इव ददृश्रे।) एक, मुख के बराबर पानी से भरे हुए तालाब की न्याईं दीखते हैं, और दूसरे काँख के बराबर पानी से भरे हुए तालाब की न्याईं दिखाई देते हैं। (उ त्वे स्नात्वाः) और तीसरे, स्नान—योग्य प्रभूत जल से भरे हुए तालाब की न्याईं दीख पड़ते हैं।

मन, और बुद्धि की शक्तियें प्रत्येक मनुष्य में भिन्न २ हैं। समान आंखों और कानों वाले एक ही श्रेणी के विद्यार्थी ज्ञान-प्राप्ति में विषम होते हैं। उन में से कई ऐसे होते हैं जिन के मानो मुख तक ही ज्ञान-सरोवर भराहुआ है, दूसरों के केवल काँख तक भरा हुआ है, और तीसरे अथाह ज्ञानसागर की न्याईं होते हैं। एवं मध्यम, अधम, उत्तम, भेद से प्रत्येक पुरुष ज्ञान में विषम होता है। इस मंत्र में अंगों में आंख तथा कान का विशेषतया निर्देश इस लिये किया गया है कि मुख्यतया दो ही अंग शिक्षा के साधनी—भूत हैं। विद्यार्थी आंखों से पुस्तक, तथा पदार्थों को देखता है, और कानों से वचन को सुनता है। (क) अक्षि शब्द दर्शनार्थक 'चक्षिङ्' धातु से बनता

है। चक्ष् से 'इ' प्रत्यय, चक्षि–अक्षि, (ख) आग्रायण आचार्य मानते हैं कि 'अक्षि' शब्द व्यक्ति अर्थ वाले 'अञ्जू' धातु से बना है, यतः इस से पदार्थ व्यक्त होते हैं। अञ्जू से 'क्सि' प्रत्यय। इस निर्वचन में ब्राह्मण का प्रमाण है 'तस्मा देते व्यक्ततरे'। यहां आंखों के लिये 'व्यक्ततरे' देते हुए ब्राह्मण ने ध्वनित किया है कि 'अक्षि' पद 'अञ्जू' धातु से सिद्ध होता है। यतः इन में तेजोमात्रा अधिक है, इस लिये ये आंखें अन्य अंगों से अधिक प्रकाश युक्त सी हैं। परन्तु उणादि कोष में (३.१५६) अशूङ् व्याप्तौ से 'अक्षि' बनाया गया हैं। (क) 'कर्ण' कृती छेदने धातु से बना है, यतः इसका द्वार कटा हुआ होता है। कृन्त् से 'न' प्रत्यय (उणा.३.१०) उणादि में 'कॄ' विक्षेपे, धातु से 'न' प्रत्यय किया गया है। (ख) ब्राह्मण में गत्यर्थक 'ऋच्छ्' धातु से कर्ण सिद्ध किया है। ऋच्छ् न—अर्च्छ् न—च्छ् अर न—कर्ण। (खे ऋच्छन्ति इव) आकाश में अभिव्यक्त शब्द इनकी ओर मानो आते हैं, (उदगन्ताम्) और उन शब्दों के ग्रहण के लिये ये कान शरीर में ऊपर गये हुए हैं—ऊपर स्थित हैं। ऋच्छन्ति गच्छन्ति खे अभिव्यक्ताः शब्दाः यौ, तौ कर्णौ, शब्द ग्रहणाय शरीरे उदगन्ताम् उदगच्छताम् यौ, तौ कर्णौ। आदघ्नासः आस्यदघ्नाः, आस्यं दघ्नं प्रमाणमेषान्ते आदघ्नाः। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' से आस्य के 'स्य' का लोप। उपकक्षासः=उपकक्षदघ्नाः, कक्ष समीपं ये ते उपकक्षाः कक्षसमीपप्रमाणाः। (क) असु क्षेपणे धातु से 'आस्य' शब्द सिद्ध होता है, यतः भोजनादि इसी मुख में फेंका जाता है। ऋहलोर्ण्यत् से 'ण्यत्' प्रत्यय (पा.३.१.१२४) (ख) आस्यन्दते एनत् अन्नम्, यह सूखे अन्न को द्रव कर देता है। आङ् पूर्वक स्यन्दू प्रस्रवणे धातु से अन्येष्वपि दृश्यते (पा.३.२.१०१)

से 'उ' प्रत्यय। (क) प्रमाणवाची दघ्न शब्द निघण्टु-पठित गत्यर्थक 'दघ्' धातु से बनता है, क्योंकि प्रमाण गतिशील-परिवर्तन शील है। (ख) अथवा 'दसु उपक्षये' से सिद्ध होता है, यतः यह नाशवान् होता है। पाणिनि के अनुसार 'दघ्न' नाम नहीं, प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (५.२.३७) से प्रमाण अर्थ में दघ्नच् प्रत्यय है। आस्यं प्रमाणं येषां ते आस्यदघ्नाः आस्यप्रमाणाः। परन्तु यास्काचार्य ने प्रमाणवाची 'दघ्न' नाम माना है। स्नात्वाः=प्रस्नेयाः=स्नानार्हाः। 'स्ना' धातु से अर्ह अर्थ में कृत्यार्थे तवै केन् केन्य त्वनः (पा.३.४.१४) और, अर्हे कृत्यतृचश्च (पा.३.३.१६९) से 'त्वन्' प्रत्यय।

१५ त्वत्। | **अथापि समुच्चयार्थे भवति। "पर्याया इव त्वदाश्विनम्" आश्विनश्च पर्यायाश्चेति।**

'त्वत्' पद त्व के अर्थ में (अन्य, एक) नाम है, परन्तु यहां पर यास्क ने उसे निपात ही माना है, और वह समुच्चयार्थक है। जैसे, 'पर्याया इव त्वत् आश्विनम्' यहां पर 'इव' और 'त्वत्' दोनों निपात समुच्चयार्थक हैं।

दुर्गाचार्य ने निरुक्त-भाष्य में 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्' का पता ऋक्-प्रातिशाख्य १२. १० दिया है, उसी के अनुसार सत्यव्रत-सामश्रमी, पं० राजाराम आदिकों ने यही पता देदिया है। परन्तु ऋक्-प्रातिशाख्य में कहीं भी यह वचन नहीं मिला।

९

III पदपूरक निपात। **अथ ये प्रवृत्ते ऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति।**

जो निपात अर्थ पूरा होजाने पर गद्य-ग्रन्थों में वाक्य-पूरक

आते हैं वे पद्य-ग्रन्थों में पदपूरक होते हैं, वे अर्थवान् नहीं होते। वे पदपूरक निपात कम्, ईम्, इत्, उ—यह चार हैं। यद्यपि खलु, नूनम् आदि निपात भी पदपूरक हैं, तथापि चार इस लिये गिनाये गये हैं कि पदपूर्ति के लिये इन चारों का प्रयोग बहुत अधिक आता है, अन्यों का इतना अधिक नहीं आता। अन्य निपात सार्थक अधिक प्रयुक्त हैं। 'उ' पद-पूर्ति के लिये आता है-यह यद्यपि कर्मोपसंग्रह निपातों में छठा निपात दर्शाया जा चुका है, तथापि इस प्रकरण में दुबारा इस लिये पठित है कि वहां इसका निर्देश प्रासंगिक था, अब यहां पदपूरकों के प्रकरण में इस निपात की गणना भी आवश्यक थी।

१. कम्। 'शिशिरं जीवनाय कम्' शिशिरं शृणातेः, शम्नातेर्वा।

'शिशिरं जीवनाय कम्' कहां का वचन है यह दुर्गाचार्य को भी ज्ञात नहीं था, अत एव उस ने 'शाखान्तरेषु शेषो द्रष्टव्यः' ऐसा कहा है। 'केचिदेवं कृतशेषमत्राधीयते' कहते हुए उसने यह भी प्रकट किया कि कई विद्वान् इस प्रकार पूरा पाठ यहां निरुक्त में पढ़ते हैं:—

निग्रृक्त्वास्त्वशिचदिन्नरो भूरितोका वृकादिव
विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्।

कई पुरुष जिन के पास तन ढांपने के लिये कपड़ा ही नहीं और सन्तान बहुत हैं, वे भेड़िये की न्याईं हेमन्त-ऋतु से डरते हुए अपने जीवन के लिये शिशिर ऋतु को वारंवार पुकारते हैं।

हेमन्त ऋतु में पाला बहुत पड़ता है, उस के पश्चात् शिशिर अर्थात् पतझड़ ऋतु आती है, उस में पाला नहीं रहता, अतः दरिद्र मनुष्य वारंवार यही पुकारते हैं कि शीघ्र पतझड़ आवे। 'चित्' निपात असाकल्य-अपूर्ण अर्थ में आता है, अतः एव यहाँ इसका

अर्थ 'कई' ऐसा किया गया है, इत्=एव=ही। त्वचं त्रायते त्वक्तं वस्त्रम्। निष्ट्वक्त्राः-निर्वस्त्राः। 'शिशिर' शब्द हिंसार्थक 'शॄ' अथवा 'शम्' धातु से सिद्ध होता है, यतः इस ऋतु में वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं। उणा॰ १.५३ में 'शिशिर' शब्द 'किरच्' प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध किया हुआ है। उपर्युक्त प्रमाण में 'कम्' पद-पूरक है।

२. ईम् | 'एमेनं सृजता सुते' आसृजतैनं सुते।

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये॥ ऋ० १.९.२

देवता—इन्द्रः। (सुते मन्दिने, विश्वानि चक्रये, इन्द्राय) हे मनुष्यो! तुम संसार में आनन्द-प्रद, तथा सब लोगों को बनाने हारे, परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (एनं मन्दिं, चक्रिं आसृजत) इस हर्ष-प्रद परम-पुरुषार्थ को उत्पन्न करो। 'एमेनं' का पदच्छेद आ, ईम्, एनं, है। इस प्रकार यहां 'ईम्' पदपूरक हुआ।

३ इत् | 'तमिद्वर्द्धन्तु नो गिरः' तं वर्द्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः।

तमिद्वर्द्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव।
य इन्द्रस्य हृदं सनिः॥ ऋ० ९.६१.१४

देवता—पवमानः सोमः। (यः इन्द्रस्य हृदं सनिः) जो पावक जगदीश्वर, तेजस्वी पुरुष के हृदय को भजने हारा है—उसके दिल में वसने वाला है, (संशिश्वरीः वत्सं न, तं नः गिरः वर्द्धन्तु) उसको, जैसे प्रशस्त नन्हे २ बछड़ों वाली गायें अपने बछड़ों को पुष्कल दूध से बढ़ाती हैं, एवं हमारी भक्ति-भरी वाणियें बढ़ावें।

सामवेद में भगवद्भक्त को इसी तरह गाय के नाम से पुकारा गया है, जैसे-

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः। पूर्वा० ३. ५. १.

अर्थात्, हे शूर प्रभो ! जैसे बिना दोही हुई धेनुओं के ऊध पुष्कल दूध से भर जाते हैं, एवं अपने हृदयों में तेरी भक्ति से भरे हुए हम भक्त लोग आपकी वारंवार स्तुति करते हैं। गिर्=स्तुति, गॄ स्तुतौ धातु से औणादिक 'क्विप्'। एवं 'तमिद्वर्द्धन्तु' मंत्र में 'इत्' पद–पूरक हुआ।

४. उ। 'अयमु ते समतसि' अयं ते समतसि।

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ १.३०.४

देवता—इन्द्रः। (अयं ते) हे राजन् ! यह राज्य आप का है (कपोतः गर्भधिं इव समतसि) जहां आप, जैसे कबूतर बच्चों को धारण करने वाले घोंसले को प्राप्त होता है, एवं संप्राप्त हो। (तत् चित् नः वचः ओहसे) और, इसी लिये आप हमारे सुख दुःख के वचनों को प्राप्त करते हो—सुनते हो। तत् चित्=तस्मादेव। यहां 'उ' पद–पूरक है। इस मंत्र में प्रजा–पालन के भाव को कैसे उत्तम शब्दों में स्पष्ट किया है।

५. इव। इवोऽपि दृश्यते। सुविदुरिव, सुविज्ञायेते इव।

इव निपात भी कहीं २ पद-पूरक देखा जाता है। जैसे, सुविदुः इव, वे अच्छीतरह जानते हैं। सुविज्ञायेते इव-वे दोनों अच्छी तरह जाने जाते हैं। इन दोनों वाक्यों में 'इव' पदपूरक है। पद–पूर्ति के लिये 'इव' का प्रयोग कम आता है अतः इसे कम्, ईम्, इत्, उ, के साथ नहीं पढ़ा। और क्योंकि 'इव' को पद–पूरणार्थक पहले कहीं दर्शाया नहीं, अतः यहां पदपूरण–प्रकरण के अन्त में इसे पढ़ दिया है। अब 'इत्' निपात के संबन्ध से नेत् तथा 'नचेत्' का विचार करते हैं।

१०

अथापि नेत्येष इदित्यनेन सम्प्रयुज्यते परिभये —

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभि र्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकम्पताम ॥
नरकं न्यरकं नीचै र्गमनं, नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति ना।

'न' यह '**इत्**' के साथ मिलकर 'परिभय' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे 'नेत् जिह्मायन्त्यः' में है। यह वचन किस स्थल का है—यह दुर्गाचार्य को भी ज्ञात नहीं हुआ। साथ ही वह निरुक्त में '**नेज्जिह्मायन्त्यो नरकम्पताम**' इतना ही वाक्य मानता है, और कहता है कि कई इसे उपर्युक्त संपूर्ण रूप में पढ़ते हैं। वचन का अर्थ इस प्रकार है—कई मनुष्य यज्ञों द्वारा सुख पाते हैं, कई यज्ञों में सोम-रसों का निष्पादन करते हुए सुख भोगते हैं, कई वाणियों से-स्तुतियों से-परमेश्वर को प्रसन्न करते हुए सुख-लाभ करते हैं, और कई दक्षिणा-दानों से सुख पाते हैं। ऐसा न हो कि हम स्त्रियें कुटिलाचरण करती हुई दुर्गति में पड़ जावें, अतः हमें भी उपर्युक्त श्रेष्ठकर्म करने चाहिएं। यहां 'इतः' अव्यय नियमार्थक है। अर्थात्, उपर्युक्त श्रेष्ठकर्म करने से सुखलाभ होगा-यह नियम है। शचीः=शचीभिः, विभक्ति-व्यत्यय। (क) नरक--नीचगति। न्यरक-नरक, नि पूर्वक गत्यर्थक 'ऋ' से 'वन्' प्रत्यय (उणा.५.३५.)। (ख) न रमणम् अत्रेति नरकम्। नञ् पूर्वक 'रम्' धातु से। न रमकं-नरकं। इस नीच गति में आराम का स्थान कुछ भी नहीं।

अथापि 'नच' इत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते ऽनुपृष्टे, 'नचेत्सुरां पिबन्ति' इति। सुरा सुनोतेः। एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति, त उपेक्षितव्याः।

और **नच** यह **इत्** के साथ दुबारा प्रश्न में प्रयुक्त होता है। जैसे किसी से पूछा कि क्या वृषल लोग वहां हैं ? दूसरे ने उत्तर

दिया, हां वहां हैं । तब दुबारा फिर पूछा जाता है, यदि वहां हैं तो आते क्यों नहीं ? उत्तर मिला (नचेत् सुरां पिबन्ति) यदि शराब न पीते होंगे तब आजावेंगे । जो निचोड़ी जावे वह सुरा, अर्थात् पदार्थों का रस । षुञ् अभिषवे धातु से 'क्रन्' प्रत्यय (उणा.२.२४) सुरा का ही शराब अपभ्रंश है ।

इस प्रकार ये निपात अनेक विध अर्थों में गिरते हैं—प्रयुक्त होते हैं—-उन का भली प्रकार विचार करना चाहिये ।

चतुर्थपाद

११

गार्ग्यमत-स्थापन सब नाम यौगिक नहीं	इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च । तत्र

नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके।

(१) तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् । संविज्ञानानि तानि, यथा गौरश्वःपुरुषो हस्तीति ।

(२) अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्वं तथाचक्षीरन्। यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात्, यत्किञ्चित् तृन्द्यात्तृणं तत् ।

(३) अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्यु र्यावद्भि र्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात् । तत्रैवं स्थूणा, दरशया वा सञ्जनी च स्यात् ।

(४) अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्. पुरुषं पुरिशय

इत्याचक्षीरन्, अष्टेत्यश्वं, तर्दनमिति तृणम् ।

(५) अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति । प्रथनात्पृथिवीत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति ।

(६) अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्सञ्चस्कार शाकटायनः । एतेः कारितञ्च यकारादिञ्चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च ।

(७) अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः । अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति ।

इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात–यह चार पद अनुक्रम से दर्शाये जाचुके । वहां नामों के बारे में 'सब नाम आख्यातज हैं' ऐसा शाकटायन वैयाकरण मानता है, और यही निरुक्तकारों का सिद्धान्त है । 'सब नाम आख्यातज नहीं' ऐसा निरुक्तकार गार्ग्य, और वैयाकरणों में से कई आचार्य मानते हैं । उन की सात युक्तियें इस प्रकार हैं—

१· (यत्र स्वरसंस्कारौ.........स्याताम्, तत्) जिस नाम में स्वर, और धातु प्रत्यय लोप आगम आदि संस्कार, उपपन्न हों–व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया से अनुगत हों–वह नाम आख्यातज है । परन्तु गौ, अश्व, पुरुष, हस्तिन् इत्यादि नाम संज्ञावाची हैं–रूढ़ि हैं–यौगिक नहीं । प्रदिश्यन्ते शब्दानां लक्षणानि अत्र सः प्रदेशः व्याकरणशास्त्रम् । गुण=अवयव, जैसे द्विगुण, त्रिगुण में 'गुण' शब्द अवयव–वाची है । संविज्ञातानि, तथा संविज्ञानानि यह दोनों ही पाठ निरुक्त में पाये जाते हैं, जिन का अर्थ संज्ञा है । दुर्गाचार्य ने उपर्युक्त वाक्य का अर्थ 'तद्यत्र स्वरसंस्कारौ.........संविज्ञातानि तानि । न पुनर्यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति' इस प्रकार 'न पुनर्यथा' का अध्याहार करते हुए

किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि एक तो 'न पुनर्यथा' का अध्याहार करना पड़ता है, और दूसरा, यास्काचार्य ने उत्तर-पक्ष में पूर्व-पक्ष को दर्शाने वाला 'तद्यत्र.........स्याताम्' इतना ही वाक्य लिखा है। अतः इतने ही वाक्य में अर्थ की पूर्णता अभीष्ट है। अन्यथा 'संविज्ञातानि तानि' तक वाक्य पढ़ा जाता।

२. यदि सब नाम धातुज हों तो जो कोई भी प्राणी उस कर्म को करे, उन सब प्राणियों को उसी नाम से कहा करें। जो कोई भी मार्ग को व्यापन करे—शीघ्रता से दौड़े—उसे **अश्व** कहना चाहिये। और, जो कोई भी वस्तु तर्दन करे—चुभे—उसे **तृण** कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता अतः सब नाम धातुज नहीं।

(३) यदि सब नाम आख्यातज हों तो जो वस्तु जितनी क्रियायों से युक्त हो उतनी ही क्रियायों से उसके नामों का ग्रहण हो। तब ऐसा होने पर **स्थूणा**, दरशया और सञ्जनी भी हो। 'स्थूणा' कहते हैं मकान के खम्भे को, उसे 'दरशया' भी कहना चाहिए, क्योंकि वह दर अर्थात् गढ़े में पड़ा हुआ होता है। एवं, 'सञ्जनी' भी उसका नाम होना चाहिये, क्योंकि उस पर छत टिकी होती है। पर अनेक क्रियायों के योग से एक पदार्थ के अनेक नाम नहीं पड़ते, अतः सब नाम आख्यातज नहीं।

दूसरे, तथा तीसरे हेतु में भेद यह है कि दूसरे में तो एक नाम क्रिया की समानता से भिन्न २ पदार्थों का वाचक होगा, और तीसरे में एक ही पदार्थ अनेक क्रियायों के योग से अनेक नामों वाला होगा।

(४) यदि सब नाम आख्यातज हैं तो जो इन नामों का न्याय्य, और क्रिया से पड़ने वाले नामों में होने वाला संस्कार हो, और जैसे ये नाम स्पष्टार्थक भी हों, वैसे इन नामों को कहें।

पुरुष को पुरिशय, अश्व को अष्टा, तृण को तर्दन कहें। इस प्रकार संस्कार भी ठीक है, और अर्थ भी स्पष्ट रहता है। इसे त्यागकर अस्पष्ट संस्कार वाले, और अस्पष्टार्थक नामों का प्रयोग करने में कोई हेतु नहीं। अतः ऐसे नाम आख्यातज नहीं।

कर्मकृतं नाम कर्मनाम, पाचक याजकादि स्तत्रभवः कार्मनामिकः।

(५) नाम के सिद्ध होजाने पर, अर्थात् पहले, नाम के प्रयुक्त हो जाने पर, फिर उस शब्द को लक्ष्य में रखकर वे लोग विचारते हैं कि अमुक शब्द किस धातु से बना है। यदि सब नाम आख्यातज होते तो वे इस से पूर्व ही निर्वचन कर लेते। (ख) वे लोग **पृथिवी** का निर्वचन करते हैं कि प्रथनात् पृथिवी, अर्थात् फैली हुई होने से इसका नाम पृथिवी है। हम उनसे पूछते हैं कि इसको किसने फैलाया, और उसका क्या आधार था? क्योंकि पृथिवी ही सर्व प्राणियों का आधार है, और आधार–रहित पुरुष से इस का फैलाया जाना शक्य नहीं, अतः इससे प्रथन–क्रिया का अभाव ही सिद्ध हुआ। और प्रथन के अभाव में सब नाम आख्यातज हैं, यह सिद्धान्त भी अयुक्त ही हुआ।

(६) (अनन्विते अर्थे) शब्द से अर्थ के अनुगत न होने पर, (अप्रादेशिके विकारे) और धातुसंबन्धी बनावट के न होने पर, अर्थात् जब किसी नाम में जो धातु प्रतीत होती है उस का तो अर्थ उस शब्द में घटता नहीं, और जिस धातु का अर्थ घट सकता है उस से मेल खाती हुई शब्द की बनावट नहीं, तब धींगाधींगी सब नाम धातुज सिद्ध करने के लिये शाकटायन ने क्या किया कि कई पदों से दूसरे पद के आधे २ हिस्से बनाये, अर्थात् अनेक पदों के टुकड़ों से एक शब्द सिद्ध किया। जैसे **सत्य** शब्द को

धातुज सिद्ध करने के लिये 'इण्' धातु के (कारित) णिजन्त–पद 'आयक' में से 'य' आदि वाला 'य' लिया, और उसे सत्य शब्द के अन्तिम भाग में रक्खा, तथा 'अस्' धातु के णिजन्त–रहित शुद्ध रूप सत्–को जिस का 'स्' आदि में है उसे–सत्य शब्द के पूर्व भाग में रक्खा। सत्–आयक–सत्+य–सत्य, अर्थात् सत्–प्रापक, विद्यमान् वस्तु का प्राप्त कराने हारा।

(७) द्रव्य–पूर्वक क्रिया होती है, अर्थात् क्रिया से पहले द्रव्य होता है–ऐसा तत्वज्ञ कहते हैं। ऐसी अवस्था में पीछे होने वाली (भावः=क्रिया) क्रिया के आधार पर पहले होने वाले द्रव्य का (प्रदेशः=संज्ञा) नाम नहीं धरा जा सकता। जैसे, यदि शीघ्र जाने के बाद घोड़े का नाम 'अश्व' होता तो हम मान लेते कि हां, शीघ्र जाने के कारण इसका नाम अश्व है, पर ऐसा नहीं होता, प्रत्युत इसके विपरीत जन्म से ही जब कि वह दौड़ ही नहीं सकता, उसका नाम अश्व है। अतः सिद्ध हुआ कि सब नाम आख्यतज नहीं।

१२

गार्ग्य–मत–खण्डन | **तदेतन्नोपपद्यते। (१) यथो हि नु वा एतत्तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। सर्वं प्रादेशिक मित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।**

(२) यथो एतद्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्निति। पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां, यथा तक्षा, परिव्राजको, जीवनो, भूमिज इति।

(३) एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः।

(४) यथो एतद्यथा चापि प्रतीतार्थानि स्यु स्तथैनान्याचक्षीरन्निति। सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोप्यैकपदिकाः, यथा व्रततिः, दमूनाः, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दर्विहोमी।

(५) यथो एतन्निष्पन्ने ऽभिव्याहारे ऽभिविचारयन्तीति, भवति हि निष्पन्ने ऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः । (ख) प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामपृथयिष्यत् किमाधारश्चेति, अथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः । अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते ।

(६) यथो एतत्पदेभ्यः पदेतरार्द्धान्सञ्चस्कारेति, योऽनन्विते ऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः, सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा इति।

(७) यथो एतदपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति, पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वाना मपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भ मेकेषां नैकेषां यथा विल्वादो, लम्बचूडक इति । विल्वं भरणाद्वा, भेदनाद्वा ।

यह उपर्युक्त मत नहीं बन सकता—

(१) जो यह कहा कि जिस नाम में स्वर और धातु प्रत्यादि संस्कार उपपन्न हों–व्याकरण–शास्त्र की प्रक्रिया से अनुगत हों–वह नाम आख्यातज है । 'सब नाम व्याकरण–सिद्ध हैं' ऐसा होने पर यह उपालम्भ नहीं रहता । हम कहते हैं कि सब नाम व्याकरण–शास्त्र से सिद्ध हैं । उसे न समझने वाले की अपनी त्रुटि है, उसकी अपनी शिक्षा अधूरी है । अनेक व्याकरण–शास्त्र हैं, उन्हें अध्ययन करें, स्वयं शङ्का दूर होजावेगी । पाणिनि ने भी 'उणादयो बहुलम्' सूत्र रच कर, और उसके मार्ग–प्रदर्शन के लिये 'उणादि–कोष' को पृथक् बना कर सब नामों को व्याकरण–सिद्ध जतलाया है । उसे ही यदि गार्ग्य–पक्षपाती पढ़लें तो भी वे अपनी अपूर्ण शिक्षा का अनुभव कर लेगें ।

उणादयो बहुलम् (पा. ३. ३. १) सूत्र पर महाभाष्यकार

पतञ्जलि मुनि ने यह तीन कारिकायें दी हैं—

i बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढ़िभवं हि सुसाधु ॥

ii नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम ॥

iii संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

i (क) उणादिपाठ में थोड़ी सी प्रकृतियों से-धातुयों से प्रत्यय विधान किये गये हैं, (ख) और उन प्रत्ययों का समुच्चय-संग्रह-भी प्रायः करके है, संपूर्ण नहीं । धातुओं से संपूर्ण प्रत्यय नहीं कहे गये, परं थोड़े ही बताये गये हैं । (ग) तथा कार्य-विधान भी सशेष हैं, संपूर्ण नहीं । अर्थात् जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध किये जाते हैं, उन में होने वाले कार्य वर्तमान उणादि-सूत्र संपूर्ण नहीं करते, (तत् बाहुलकं उक्तम्) अतः 'उणादयो बहुलम्' कहा गया, जिससे वैदिक शब्द, तथा लौकिक संज्ञा-शब्द भली प्रकार सिद्ध होसकें । इस बहुल वचन से (क,) जिन धातुयों से उणादि-पठित प्रत्यय नहीं कहे गये, उन से भी हो जाते हैं, जैसे 'हृष्' धातु से 'उलच्' प्रत्यय विहित है, परन्तु 'शंकुल' यहां पर 'शकि' से भी हो जाता है । (ख) जो प्रत्यय किसी धातु से नही कहा, वह भी होजाता है, जैसे 'दा' धातु से 'इष्णुच्' प्रत्यय विहित है परन्तु 'देष्णः' यहां पर 'इष्णच्' भी हो जाता है । (ग) और जो कार्य सूत्रों से प्राप्त नहीं, वह भी हो जाते हैं, जैसे 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से 'वन्' प्रत्यय करके 'अप्वा' शब्द सिद्ध किया गया है, यहां 'आ' को ह्रस्व 'अ' किसी सूत्र से प्राप्त नहीं था, वह होगया । इस श्लोक में नैगम, तथा रूढि शब्द पृथक् २ पठित हैं । इससे सिद्ध होता है कि वैदिक सब शब्द

यौगिक ही हैं, रूढि नहीं।

ii सब निरुक्तकार, और वैयाकरणों में शाकटयन सब नामों को धातुज कहता है, अर्थात् सब नाम प्रकृति प्रत्ययार्थ के संबन्ध से यौगिक अथवा योगरूढ़ होते हैं, रूढि अर्थात् अव्युत्पन्न शब्द कोई नहीं। जिस शब्द का प्रकृति प्रत्यय कुछ नहीं बतलाया गया, वहां यदि प्रत्यय जान पड़े तो धातु की कल्पना, और धातु जान पड़े तो प्रत्यय की कल्पना करलेनी चाहिए। इसप्रकार उन शब्दों का अर्थ-ज्ञान कर लेना चाहिए।

iii नाम-शब्दों में धातुओं का रूप पूर्व-भाग में, और प्रत्यय उन से परे रखने चाहिएं, और जिस शब्द में जिस अनुबन्ध का कार्य दीख पड़े उसी अनुबन्ध के सहित धातु या प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिए। यह उणादियों में शास्त्र है।

उणादि-शब्द-सिद्धि में काल-व्यवस्था इसप्रकार की रक्खी गई है-उणादयो बहुलम्, भूतेऽपि दृश्यन्ते, भविष्यति गम्यादयः (पा.३.१-३) इन तीन सूत्रों से उणादि शब्दों में प्रत्यय वर्तमान, भूत, भविष्यत्-इन तीनों कालों में होते हैं।

कारक-नियम इसप्रकार है—दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३.४.७३) से दाश, तथा गोघ्न शब्द सम्प्रदान में; भीमादयोऽपादाने (३.४.७४) से भीम, भीष्म आदि शब्द अपादान में; और, ताभ्यामन्यत्रोणादयः (३.४.७५) से इन से भिन्न कर्ता, कर्म, करण, और अधिकरण कारकों में शेष उणादि-शब्द सिद्ध किये जाते हैं। यह कारक-नियम सामान्य है, विशेष स्थलों में बहुल ग्रहण से सम्प्रदान, या अपादान में भी प्रत्यय हो सकता है। इन व्याकरण-शास्त्रों का अध्ययन करें, तब गार्ग्य-पक्षपातियों का भ्रम स्वयं दूर होता जावेगा।

२. जो यह कहा कि जो कोई भी प्राणी उस कर्म को करे, उन सब प्राणियों को उसी नाम से कहा करें। सो देखते हैं कि समान कर्म करने वालों में से कईयों को उस नाम की प्राप्ति होती है, कईयों को नहीं। जैसे, तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज इत्यादि।

गार्ग्य तीन प्रकार के नाम मानता है । एक प्रत्यक्षक्रिय-जिन में क्रिया का ज्ञान प्रत्यक्ष है, जैसे कारक हारक पाचक आदि। दूसरे, प्रकल्प्यक्रिय—जिन में क्रिया कल्पित की जा सकती है, जैसे गौ, अश्व, सर्प, पुरुष आदि। तीसरे, अविद्यमानक्रिय-जिन में क्रिया किसी तरह कल्पित भी नहीं की जा सकती, जैसे डित्थ, कपित्थ आदि। तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज आदि शब्द तो गार्ग्यमतानुसार प्रत्यक्ष-क्रिय ही हैं। तक्षतीति तक्षा, परिव्रजतीति परिव्राजकः, जीवयतीति जीवनः, भूमौ जायते भूमिजः। यह नाम क्रमशः तरखान (तक्षन्=तरखान) सन्यासी, जल, और वृक्ष या कोयले के लिये लोक में प्रयुक्त होते हैं । इसी प्रकार पाचक, तथा कहार (कं उदकं हरतीति कहारः) शब्द रसोईए, और कहार के लिये प्रयुक्त होते हैं। जो कोई भी व्यक्ति लकड़ी को छीले उसे तरखान, सदा घूमने वाले प्रत्येक मनुष्य को परिव्राजक, जीवन देने हारे अन्न अग्नि दूध आदि प्रत्येक पदार्थ को जीवन, भूमि में उत्पन्न होने वाले कीट पतंग सर्प आदि अनेक पदार्थों को भूमिज, प्रत्येक गृहपत्नी को पाचक, और जल भरने वाले प्रत्येक मनुष्य या गाड़ी आदिक को कहार नहीं कहते। **क्या गार्ग्य इन्हें आख्यातज नहीं मानता। उसकी स्थापना के अनुसार तो ये शब्द भी आख्यातज नहीं होने चाहिए।** जैसे, वह इन्हें आख्यातज समझता है, वैसे अन्यों को भी समझले। क्रिया की व्यवस्था तो यह है कि जिस पदार्थ में जो क्रिया अन्य क्रियाओं

की अपेक्षा विशेष पाई जावे, उस के आधार पर उस पदार्थ का नाम पड़ जाता है, जैसे, सन्यासी का पर्य्यटन विशेष महत्व रखता है, अतः उसे ही परिव्राजक कहते हैं अन्यों को नहीं।

३. इसी दूसरे दोष के खण्डन से तीसरे दोष का खण्डन भी होगया। अर्थात् अनेक कर्म करने वालों के तत्तत्क्रिया-जन्य अनेक नाम नहीं होते। जैसे, तक्षा को रसोई बनाने से पाचक, जल भरने से कहार, इतस्ततः घूमने से परिव्राजक आदि अनेक नामों से नहीं पुकारते। इस का पूरा विस्तार दूसरे समाधान की न्याईं समझिये।

४. जो यह कहा कि जैसे वे नाम स्पष्टार्थक हों वैसे इन को कहा करें। सो, कई एक कृदन्त-शब्द भी हैं जो ऐकपादिक हैं। जैसे, व्रततिः, दमूनाः, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दर्विहोमी। गार्ग्य के मत में कृदन्त-शब्द तो स्पष्टार्थक माने जाते हैं। परन्तु वहां भी अनेक शब्द ऐसे हैं जो ऐकपादिक है, अर्थात् एक एक नाम-पद के भिन्न २ निर्वचन करते हुए उन्हें स्पष्ट किया गया है, जैसे व्रततिः-लता, 'प्र' पूर्वक तंनु विस्तारे धातु से 'क्तिच्' प्रत्यय। प्र+तन्+ति, पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् से 'प' को 'व'। दमूनाः=जितेन्द्रिय, 'दमु उपशमे' धातु से 'ऊनसि' प्रत्यय (उणा. ४. २३५)। जाट्यः=जटावान्, रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् (पा. ५. २. १२०) सूत्र पर 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' वार्तिक से 'मतुप्' अर्थ में 'जटा' शब्द से 'यप्' प्रत्यय, और पुनः स्वार्थ में 'अण्'। जट्यः एव जाट्यः। आट्णारः=अटनशील-भ्रमणशील, 'अटन' शब्द से शील अर्थ में 'आरक्' प्रत्यय, आटन आर-आट्णार। जागरूकः=जागरण-शील, 'जागरूकः' (पा. ३. २. १६५) सूत्र से यह सिद्ध किया गया है।

दार्विहोमी=कड़छी से देने हारा यजमान, जुहोतीति होमी, दर्व्याः होमी दार्विहोमी। दर्विः=कड़छी, दृ विदारणे धातु से 'विन्' प्रत्यय, और 'होमिन्' में 'हु' धातु से 'मिनि' प्रत्यय (उणा. ३. ८४)। एवं, जब ये ऐकपादिक शब्द स्पष्टार्थक बनाये जाते हैं, तो अन्य क्यों नहीं बनाये जाने चाहिऐं। व्याकरण की यही तो विशेषता है कि वह अस्पष्टार्थक शब्दों को स्पष्टार्थक बना कर दिखाता है।

(५) (क) जो यह कहा कि पहले नाम के प्रयुक्त होजाने पर फिर उस शब्द को लक्ष्य में रखकर विचारते हैं कि अमुक शब्द किस धातु से बना। सो, योग अर्थात् अवयवार्थ की परीक्षा होती ही है नाम के प्रयुक्त होने पर। यदि हमारे सामने कोई शब्द ही नहीं है तो उसके अवयवार्थ की परीक्षा कैसे हो सकती है। बिना शब्द के निर्वचन किस का किया जावे। (ख) जो यह कहा कि 'पृथिवी' का निर्वचन 'प्रथनात् पृथिवी' करते हैं। पृथिवी को किसने फैलाया, और उसका क्या आधार था? (उत्तर) चाहे दूसरों ने नाही फैलाई हो, परन्तु देखने से तो पृथिवी फैली हुई है। यदि पृथिवी के इस प्रत्यक्ष फैलाव को भी नहीं मानते तो इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष-वचनों का अपलाप है। यहां पर यास्काचार्य ईश्वरास्तित्व के झगड़े में नही पड़े। नास्तिक भी इससे इन्कार नही कर सकते कि पृथिवी फैली हुई है। अतः उन्हें इस बात का जबाब देने की आवश्यकता ही नहीं कि पृथिवी किस ने फैलाई, और कहां बैठकर फैलाई।

६. जो यह कहा कि शाकटायन ने कई पदों से दूसरे पद के आधे २ हिस्से बनाये, सो जिस ने असंबद्ध अर्थ में शब्द-सिद्धि की हो, उस अयुक्त निर्वचन के कारण वह पुरुष निन्दनीय है। यह मूढ़-पुरुष की निन्दा है, न कि शास्त्र की निन्दा। दो, तीन, चार

धातुओं को मिलाकर यदि कोई विद्वान् किसी शब्द का अर्थानुकूल निर्वचन करता है तो इस में क्या बुराई है। यह कोई सब व्याकरणों का स्थिर सिद्धान्त नहीं कि एक ही धातु से शब्द सिद्ध किया जावे। जो मूढ़-मनुष्य ऐसे पाण्डित्य-पूर्ण निर्वचन नहीं कर सकता, या जो करता है वह अर्थानुकूल नहीं बैठते, तो उसी मूढ़ की मूर्खता है, इस में व्याकरण-शास्त्र का क्या दोष है। वैसे तो दुनियां में ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं जो कारक, हारक का भी निर्वचन नहीं कर सकेंगे, जो बड़े ही सुगम हैं और एक ही धातु से सिद्ध होते हैं। उस से क्या हम यह परिणाम निकाललें कि कारक हारक आदि शब्द रूढि हैं। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में स्थान २ पर अनेक धातुओं से शब्द-सिद्धि की गई है, क्या उसे अयुक्त ठहराया जावेगा। जैसे—

(क) **तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति, हृ इत्येकमक्षरम्......द इत्येकमक्षरम्......यम् इत्येक मक्षरम्** (शत. १४. ८. ४. १) यहां **'हृदय'** शब्द हृञ् हरणे, दा दाने, इण् गतौ—इन तीन धातुओं से बनाया गया है। यह अशुद्ध खून का हरण करने वाला, शुद्ध रक्त का प्रदाता, और गति वाला है। ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि इंगलैण्ड निवासी म० हार्वे ने Circulation of blood (रक्त-सञ्चार) का सब से पहले पता लगाया, इस से पूर्व यह ज्ञान किसी को न था। परन्तु शतपथ में दिये हुए 'हृदय' के उपर्युक्त निर्वचन से ही स्पष्टतया पता लगता है कि उन का यह विचार नितान्त असत्य है।

(ख) **वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च** (छान्दो. ३. १२. १) यहां वेद-वाणी वाचक **गायत्री शब्द** 'गै शब्दे' 'त्रैङ् पालने' इन दो धातुओं से बनाया गया है। यह वाणी सब पदार्थों का स्वरूप दर्शाती है, और हम मनुष्यों की रक्षा करती है,

अतः इसे गायत्री कहा गया ।

(७) जो यह कहा कि पीछे होने वाली क्रिया के आधार पर पहले होने वाले द्रव्य का नाम नहीं धरा जा सकता, सो हम देखते हैं कि पीछे होने वाली क्रिया के आधार पर पहले उत्पन्न हुए द्रव्यों में से कईयों को नाम की प्राप्ति होती है, कईयों को नहीं । जैसे, बिल्वाद, और लम्बचूड़क नाम हैं । मैं समझता हूं शायद यहां पर **बिल्वाद शब्द बैल के लिये प्रयुक्त किया गया है** क्योंकि बैल पके हुए बिल्व-फलों को खूब खाता है । अत एव ग्रामीण-भाषा में अभी तक बैल की जगह पर **बौल्द** शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो कि बिल्वाद का अपभ्रंश ही है । बैल यद्यपि बड़ी अवस्था में बिल्व खाने के योग्य होता है, परंतु उसे पैदा होते ही 'बिल्वाद' के नाम से पुकारा जाता है । (बिल्वम् अत्ति बिल्वादः) । शिखावल, शिखी (शिखावाला=चूड़ावाला) नाम मयूर के लिये प्रयुक्त होते हैं, अतः शायद (लम्बचूड़क) भी उसी का पर्यायवाची है । पैदा होते ही मयूर की लम्बी चूड़ा नहीं होती, परन्तु उसका नाम 'लम्बचूड़क' पड़ा हुआ है । कहने का अभिप्राय यह है कि भावी–क्रिया के आधार पर अनेक वस्तुओं के नाम पहले ही धर दिये जाते हैं–ऐसी व्यवस्था सर्व–प्रसिद्ध ही है । 'बिल्व' शब्द पोषणार्थक 'भृ' धातु से, अथवा--'भिद्' धातु से 'वन्' प्रत्यय करने पर निपातन से सिद्ध होता है (उणा. ४.९९) । दरिद्र लोग बिल्व को खाकर शरीर धारण करते हैं, और यह बिल्व मल-भेदी अर्थात् दस्तावर होता है ।

---

* पञ्चमपादः

१३

निरुक्त-शास्त्र के प्रयोजन ।

१. वेदार्थ-परिज्ञान | **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देश स्तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं, स्वार्थसाधकं च ।**

इस निरुक्त-शास्त्र के बिना मंत्रों में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता । और अर्थ को न जानता हुआ मनुष्य ठीक तौर पर स्वर, तथा संस्कार का निश्चित कथन नहीं कर सकता । अतः यह निर्वचन-विद्या का स्थान निरुक्त-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र की पूर्णता करने हारा, और अपने स्वतंत्र प्रयोजन—वेदार्थ-परिज्ञान—का साधक है ।

व्याकरण का विषय स्वर संस्कार पूर्वक शब्द की सिद्धि करना है । यह कार्य ठीक तौर पर तभी हो सकता है कि जब कि वैयाकरण को उस शब्द का अर्थ आता हो, बिना अर्थ जाने शब्द-सिद्धि नहीं की जा सकती । अतः यह अर्थ-ज्ञापक निरुक्त-शास्त्र अधूरे व्याकरण की पूर्णता करता है । निरुक्त, और व्याकरण में भेद यही है कि निरुक्त-शास्त्र तो निर्वचन द्वारा शब्दार्थ का बोध कराता है, और व्याकरण फिर उस अर्थ के आधार पर शब्द की ठीक २ सिद्धि कर देता है । निरुक्त का मुख्य प्रयोजन तो शब्दार्थ का परिज्ञान कराना है, परन्तु 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' के न्यायानुसार इस से व्याकरण की पूर्णता का प्रयोजन भी निकल आता है ।

कौत्स-मत-स्थापन वेदों की अनर्थकता | यदि मंत्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सो ऽनर्थका हि मंत्रास्तदेतेनोपेक्षितव्यम् ।

(१) नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।

(२) अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। उरु प्रथस्वेति प्रथयति, प्रोहाणीति प्रोहति। (३) अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति। ओषधे त्रायस्वैनं; स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्।

(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां' 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे' 'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' इति।

(५) अथापि जानन्तं संप्रेष्यत्यग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति।

(६) अथाप्याहादितिः सर्वमिति। अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति। तदुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः। (७) अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति। अम्यग्, याद्दश्मिन्, जारयायि, काणुका—इति।

कौत्स कहता है कि यदि मंत्र–परिज्ञान के लिये ही निरुक्त--शास्त्र है, तो यह निरर्थक है, क्योंकि वेद–मंत्र अनर्थक हैं, अर्थ–शून्य हैं। वह मंत्रों का अनर्थकत्व इस हेतु–समूह से जानना चाहिए—

१. नियत शब्दों की योजनायें नियत आनुपूर्वी से होती हैं। वेद-मंत्रों के नियत शब्दों को नियत आनुपूर्वी में पढ़ने से ही मन्त्रोच्चारण से विशेष-लाभ माना जाता है, अन्यथा नहीं। 'अग्निमीळे पुरोहितं' इस मंत्र को 'वन्हिं स्तौमि नायकं' इस रूप में, या 'ईळे अग्निं पुरोहितं' इत्यादि आनुपूर्वी–रहित रूप में पढ़ने से कुछ लाभ नहीं होता। परन्तु किसी भी अन्य लौकिक–भाषा में यह प्रतिबन्ध नहीं। वहां 'पात्रम् आहर' की जगह 'भोजनं देहि' या 'आहर पात्रम्' भी कह सकते हैं, इस में कोई हानि नहीं। एवं वेद-मंत्र अर्थ वाले वाक्यों से विरुद्ध–धर्म वाले होने से अनर्थक हैं।

२. वेद–मंत्र अपने रूप से पूरे होने पर भी ब्राह्मण द्वारा विहि-

त किये जाते हैं, क्रिया-काण्ड में विनियुक्त किये जाते हैं। जैसे 'उरु प्रथस्व' इत्यादि मंत्र का विधान पुरोडाश प्रथन में 'इति प्रथयति' कहता हुआ (शतपथ १.२.६.८) ब्राह्मण करता है; एवं, 'प्रोहाणि' इत्यादि मंत्र का विधान प्रोहण में किया गया है।

जिस मंत्र से जो कर्म करना हो उसका विधान यदि उसी मंत्र से प्रतीत होजावे तो वह मंत्र अपने रूप में पूर्ण है, क्यों कि उस मंत्र के उच्चारण से किये जाने वाला कर्म उसी से पूर्णतया ज्ञात होजाता है। इसी तरह के रूप-संपन्न 'उरु प्रथस्व' तथा 'प्रोहाणि' मंत्र हैं। एवं, मंत्रों से ही विधानों के ज्ञात होजाने पर फिर जो ब्राह्मण ने 'इति प्रथयति' 'इति प्रोहति' विधियें कहीं, उन से प्रतीत होता है कि मंत्रों के अर्थ अभिप्रेत ही नहीं। यदि अभिप्रेत होते तो उन्हीं से विधियों के ज्ञात हो जाने पर फिर अलग विधान न किये जाते। 'प्रोहाणि' कौन से मंत्र का अंश है यह पता नहीं। 'प्रोहामि' का पाठ, यजु० २० १५ में आया है। दुर्गाचार्य ने 'इदमहमात्मानं प्रोहामि' यह वचन कहीं का दिया है। इसी प्रकार 'प्रोहाणीति प्रोहति' किस ब्राह्मण का वचन है-यह भी ज्ञात नहीं, प्रोहण का अर्थ है प्र+वहन =उन्नयन। 'उरु प्रथस्व' मंत्र की व्याख्या उत्तर-पक्ष में करेंगे।

३. मंत्र असंगत अर्थ वाले हैं। जैसे, यज्ञकर्ता पशु को काटता हुआ कहता है 'ओषधे त्रायस्वैनं' स्वधिते मैनं हिंसीः'। मंत्र का अर्थ तो यह प्रतीत होता है कि हे ओषधि! तू इसकी रक्षा कर; और हे खड्ग! तू इस को मत मार; परन्तु इसको उच्चारण करके पशु का पेट काटा जाता है। इस प्रकार अर्थ तथा क्रिया में परस्पर असमानता तथा विरोध होने के कारण पता लगता है कि वेद मंत्र अनर्थक हैं।

४. वेद-मंत्र परस्पर विरोधी अर्थों वाले हैं-इन में परस्पर वि-

रोध बहुत अधिक पाया जाता है। जैसे, 'एक एव रुद्रो ऽवतस्थे न द्वितीय.' में तो यह कहा कि एक ही रुद्र अवस्थित है दूसरा नहीं, परन्तु 'असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां' में कह दिया कि जो भूमि पर रुद्र हैं, वे सहस्रों असंख्यात हैं। एवं, 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे' में कहा हे इन्द्र! तुम शत्रुरहित पैदा हुए हो, और 'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' में कह दिया इन्द्र ने इकट्ठी सौ सेनायें जीतीं। इस प्रकार वेदों में परस्पर विरोध होने के कारण ये अनर्थक हैं।

५. मंत्रों की अनर्थकता में पांचवां हेतु यह है कि जानने हारे यज्ञकर्ता को वेद आज्ञप्त करता है कि यज्ञ में अग्नि के सम्यक्तया प्रदीप्त हो जाने पर मंत्र–वाचन करो। इस बात को तो सभी जानते हैं कि अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर ही मंत्र बोलने चाहियें, अन्यथा आहुतियें कैसे दी जासकती हैं, और यज्ञ से क्या लाभ होगा। अतः पता लगता है कि वेद–मंत्र किसी विशेष अर्थ के बोधक नहीं।

यहां पर निरुक्त में जो 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' वचन दिया है, वह शतपथ ब्राह्मण १.३.२.२ में पाया जाता है। परन्तु ब्राह्मण–वचन देना कौत्स के लिये अभीष्ट नहीं, क्यों कि एक तो वह मंत्रों की अनर्थकता सिद्ध कर रहा है न कि ब्राह्मण की, और दूसरा ब्राह्मण को कौत्स सार्थक मानता है अनर्थक नहीं, जैसे कि उसने इसी प्रकरण के दूसरे हेतु में दर्शाया है। अतः पता लगता है कि शायद यह वचन किसी मंत्र का भाव है, जो कि अन्वेषणीय है।

६. मंत्रों के अनर्थकत्व में अन्य हेतु यह है कि वेद कहता है 'अदिति' सब कुछ है। अदिति द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है इत्यादि। इस मंत्र की व्याख्या आगे (निरु० ४.४.पा०) में करेंगे। इस मंत्र में अदिति को द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सकल देव

पञ्चजन आदि सब कुछ कहा है, जो कि सर्वथा असम्भव है। जो माता है, वह पुत्र पिता आदि कैसे हो सकता है। अतः असम्भव गप्पबाज़ी से युक्त होने के कारण वेद-मंत्र अर्थ-शून्य हैं।

७. और, सातवां हेतु यह है कि वेद-मंत्र अस्पष्ट अर्थ वाले हैं, इन के शब्द प्रायः बहुत अस्पष्टार्थक हैं, उन का स्पष्टतया कोई अर्थ ही परिज्ञात नहीं होता; जैसे अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायी, काणुका आदि। यदि मंत्र सार्थक होते तो सब शब्दों के स्पष्ट अर्थ सुगमतया ज्ञात हो जाने चाहियें। अतः वेद-मंत्र अनर्थक हैं।

इस प्रकार यास्क ने सात हेतुओं से वेदों को निष्प्रयोजन, सार-रहित, तथा निरर्थक सिद्ध किया। आजकल भी वेदों पर प्रायः यही आक्षेप किये जाते हैं, ये आक्षेप कोई नवीन नहीं। वर्तमान समय में इन में से मुख्यतया ये आक्षेप अधिक किये जाते हैं—(१) वेदों में असंगत बातों का अधिक वर्णन है। (२) उनमें परस्पर विरोध बहुत पाया जाता है। (३) साधारण बातों का अधिक उल्लेख है, जिन्हें हर एक मनुष्य पहले ही जानता है। (४) इन में असम्भव बातें भी पायी जाती हैं। (५) और, ये बड़े अस्पष्ट हैं। यदि मनुष्यों के ज्ञान और कल्याण के लिये वेद रचे गये हैं तो सरल तथा स्पष्ट शब्दों में कहने चाहियें थे।

१४

कौत्स-मत-खण्डन | **अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं, यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति। (१) यथो एतन्नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति: लौकिकेष्वप्येतद्यथेन्द्राग्नी, पिता-पुत्राविति। (२) यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्तइति.**

उदितानुवादः स भवति । (३) यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति, आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत । (४) यथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद्यथाऽसपत्नोऽयं ब्राह्मणो, ऽनमित्रो राजेति । (५) यथो एतज्जानन्तं सम्प्रेष्यतीति, जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राहेति । (६) यथो एतददितिः सर्वमिति, लौकिकेष्वप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ।

(७) यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति, नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति । यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।

यास्काचार्य एक हेतु, और एक ब्राह्मण-प्रमाण द्वारा पहले सामान्यतया वेद-मंत्रों की अर्थवत्ता स्थापित करते हैं, तत्पश्चात् पूर्वपक्ष की युक्तियों की आलोचना करेंगे। हेतु, तथा प्रमाण क्रमशः ये हैं—शब्दों की समानता से वेद-मंत्र अर्थवान् हैं । अर्थात् जो अग्नि, वायु, आदित्य, जगत् आदि शब्द लौकिक भाषा में पाये जाते हैं, वे ही वेदों में हैं । जब वे शब्द लौकिक भाषा में सार्थक हैं तो वेद में अनर्थक कैसे हो सकते हैं । समान शब्द एक जगह प्रयुक्त किये जावें तो सार्थक हों, और दूसरी जगह वे ही शब्द निरर्थक बन जावें—इसमें कोई हेतु नहीं ।

और, ब्राह्मण ने कहा है "एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं, यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति (गोपथ, उत्त० २. ६) । निश्चय से यह यज्ञ की पूर्णता है, जो कि रूप से पूर्णता है—अर्थात् जो कर्म किया जारहा है उसको उस समय पढ़ी जाने वाली ऋचा वा यजु स्पष्टतया बतलाता है । यहां पर यज्ञ की पूर्णता यही कही गई

है कि उस समय पर पठित वेद-मंत्र भी उसी कर्म को बतलावे, जो उस समय में किया जारहा है। यह तभी होसकता है जब कि मंत्र सार्थक हों। अतः स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मण वेद-मंत्रों को अर्थवान् मानता हुआ ही, उनका भिन्न २ यज्ञों में विनियोग करता है। उदाहरण के तौर पर यास्क यहां एक मंत्र का निर्देश करता है, जोकि यह है—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायु र्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रै र्नप्तृभि र्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ऋ० १०. ८५. ४२

हे दम्पती! तुम दोनों इसी वेदोक्त गृहस्थ-धर्म में वर्तमान रहो, उस से कभी वियुक्त मत होवो, पूर्ण शत-वर्ष की आयु का भोग करो; और अपने गृह में पुत्रों, तथा पोतों और दौहित्रों के साथ खेलते हुए प्रसन्न-वदन रहो। इस मंत्र का विनियोग विवाह-यज्ञ में है। इस के द्वारा दम्पती को आशीर्वाद दिया जाता है। यह मंत्र विवाह के उच्च उद्देश्य को पूर्णतया दर्शाता है। इस लिये विवाह-यज्ञ में इस मंत्र के विनियोग से यज्ञ की शोभा शतगुणित होजाती है। यदि उपर्युक्त मंत्र का अर्थ समयोचित विवाह संबन्धी न होता तो यज्ञ की अपूर्णता रहती।

अब क्रमशः कौत्स के हेतुओं का खण्डन किया जाता है—

१. जो यह कहा कि नियत शब्दों की योजनायें नियत आनुपूर्वी से होती हैं, सो लौकिक शब्दों में भी यह नियम देखा जाता है; जैसे 'इन्द्राग्नी' और 'पितापुत्रौ' इत्यादि।

लौकिक भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जो किसी नियत क्रम से ही आते हैं। 'इन्द्राग्नी' की जगह 'अग्नीन्द्रौ' पितापुत्रौ की जगह पुत्रपितरौ, मातापितरौ की जगह पितामातरौ, नामाख्याते की जगह आख्यातनाम्नी, आदि कभी नहीं होते। भाषा में जो नियम कुछ

एक शब्दों में लगता है, वेद में वही नियम सर्व-व्यापी है । अतः आनुपूर्वी के नियत होने से मंत्रों की अनर्थकता सिद्ध नहीं होती। इसके अतिरिक्त मंत्रों में शब्द-क्रम के बदल देने से छन्दोभंग हो जाने के कारण काव्य का सौन्दर्य भी नष्ट होजावेगा। और 'अग्निमीळे' आदि की जगह 'बन्हिं स्तौमि' करने से अत्यन्त अर्थ-हानि होगी। वेद का प्रत्येक शब्द विशेष महत्व रखता है, उसकी जगह पर दूसरा शब्द रखने से वह भाव नहीं रहता। इस से तो मन्त्रों की महत्ता टपकती है न कि अनर्थकता कि उनका एक २ शब्द तुला हुआ है।

२. जो यह कहा कि मंत्र अपने रूप से पूरे होने पर भी ब्राह्मण द्वारा विहित किये जाते हैं; सो यह कहे का अनुवाद मात्र हैं, कोई अपूर्व विधान नहीं। किसी का अनुवाद करने से वह अनर्थक नहीं होजाता। यदि अनुवाद करने से मूल-ग्रन्थ अनर्थक समझा जावे तो अनुवाद किस का हो? हम यहां पर कौत्स से निर्दिष्ट मंत्र को पूरा देकर उसका सरल अर्थ लिख देते हैं जिससे वाचक-वृन्द अनुवाद के भाव को भली प्रकार समझ सकें। मंत्र इस प्रकार है—

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा धर्मोसि विश्वायुरुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिंसीद् देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके। यजु० १. २२

देवता—यज्ञहविः। यह हवि अग्नि में पकाई हुई है, और यह हवि अग्नि तथा जल में परिपक्व की गई है। हे दोनों प्रकार की यज्ञहवि! उत्तम सन्तान पैदा करने के लिये तुझे मैं यज्ञाग्नि में छोड़ता हूं, इष्ट अन्न की प्राप्ति के लिये तुझे मैं यज्ञ में प्रयुक्त करता हूं। तू यज्ञ-साधन है। तू पूर्ण आयु को देने हारी है। और तू बहुत फैलने हारी है। बहुत फैल। यज्ञपति यजमान तेरे कारण बहुत फले फूले।

तेरे द्वारा यज्ञाग्नि यज्ञपति के शरीर की रोगादिकों से हिंसा न करे। प्रकाशमान सूर्य प्रवृद्ध सुख के निमित्त तुझे परिपक्व करे—उपर्युक्त लाभों के देने योग्य बनावे। एवं उपर्युक्त मंत्र में उत्तम संतान की प्राप्ति, उत्तम अन्न की प्राप्ति, पूर्ण आयु का लाभ, और आरोग्य-लाभ—ये चार लाभ, यज्ञ के बताये गये हैं। हवि अग्नि में डालने से बहुत फैलती है—यह भाव 'उरुप्रथाः' से जतलाया गया है, और उसी का अनुवाद 'प्रथयति' से ब्राह्मण ने किया है।

३. जो यह कहा कि मंत्र असंगतार्थक हैं, सो वेद के वचन से वहां अहिंसा जाननी चाहिए।

यजुर्वेद ६. १५ के जिस मंत्र को बोलकर अश्व का पेट काटा जाता है, वह ठीक नहीं। वेद-वचन से जब स्पष्टतया अहिंसा की प्रतीति होती है, तो जो उसके विपरीत कर्म करता है वह दोषी है न कि वेद-मंत्र। शिक्षित होते हुए भी ऐसे मूर्ख तथा पामर आदमी बहुत पाये जावेगें, जो बोलते कुछ हैं, और करते कुछ हैं। क्या उन की क्रिया को देखकर उन के द्वारा विनियुक्त किसी श्लोक या भजन को अर्थ-शून्य कह सकते हैं? कभी नहीं। इसी प्रकार वेद के बारे में समझिये। मंत्र, और उसका सत्यार्थ देखने से आशय स्पष्ट हो जावेगा, अतः वे यहां पर दिये जाते हैं—

मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायताम् प्राणस्त आप्यायता-श्चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रन्त आप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतान्निष्ट्यायतान्तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥ यजु० ६. १५

हे शिष्य! तेरा मन उत्कृष्ट हो, तेरी वाणी उत्तम हो, तेरी नासिकायें उन्नत हों, तेरी आँखे उत्कृष्ट हों, और तेरे कान उत्तम

हों। जो तेरा दुष्ट स्वभाव है, वह छिन्न भिन्न हो, और जो तेरा (आ-स्थित) निश्चित स्वभाव है वह वृद्धि-लाभ करे । एवं, तेरा चरित्र परिशुद्ध हो। प्रतिदिन तेरे लिए शान्ति प्राप्त हो। (ओषधे) दोषनिवारक गुरो ! (स्वधिते) तथा स्वकीयों का पोषण करने वाली, या वज्र की न्याईं दुश्चरित्र का नाश करने हारी अध्यापिके ! आप इस शिष्य की रक्षा कीजिये, उसे व्यर्थ में क्रोध-वश मत ताड़ना दीजिए।

इसप्रकार प्रस्तुत मंत्र में शिक्षा का उद्देश्य बतलाया गया है। उसे अश्व-वध में प्रयुक्त करना अनुचित है।

इसीप्रकार यजुर्वेद ४.१ में भी **'ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः'** वचन आता है। प्राचीन ऋषियों ने इस वचन का विनियोग मुण्डन-संस्कार में किया है। 'ओषधे त्रायस्व' का उच्चारण करके केशों को कुश-तृण से बांधा जाता है कि जब केश काटे जावें तो उस्तरा उन कुश-तृणों पर टिके और सिर में क्षत न हो। इसी लिये कहा कि हे ओषधि ! तू इस क्षौर-कर्म कराने वाले की रक्षा कर। और 'स्वधिते मैनं हिंसीः' बोलकर उस्तरे से केश काटे जाते हैं। इस वचन से धारणा की जाती है कि उस्तरा क्षत न पहुंचावे। यहां केशों का काटना हिंसा नहीं। हिंसा क्या है, और अहिंसा क्या है-इस का प्रतिपादन तो धर्मग्रन्थ वेद ही करेगा। वेद वचन से केशों के काटने को हिंसा नहीं समझना चाहिए।

४. जो यह कहा कि वेद-मंत्र परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले हैं, सो यह बात लौकिक वचनों में भी है; जैसे यह ब्राह्मण असपत्न है, यह राजा अशत्रु है।

रुद्र एक है, रुद्र अनन्त हैं; इन्द्र शत्रुरहित है, इन्द्र के अनेक शत्रु हैं—ये परस्पर विरोधी बातें नहीं। इस को हम इस तरह

समझा सकते हैं कि जिस तरह लोक में प्रायः कहा जाता है कि रामचन्द्र महाराज अजातशत्रु थे। यद्यपि रावण आदि उनके शत्रु थे, तो भी जो उनको अजातशत्रु कहा जाता है, उसका यही अभिप्राय होता है कि महाराज रामचन्द्र के दुश्मन बहुत कम थे, और जो थे भी, वे बहुत शक्तिशाली न थे। तथा, महर्षि दयानन्द असपत्न थे, अर्थात् पाण्डित्यादि में उन के मुकाबले में कोई न था। इत्यादि स्थलों में जिस प्रकार अशत्रु का प्रयोग होता है, उसी तरह वेद में समझना चाहिए। परमेश्वर के मुकाबले में अन्य कोई रुद्र नहीं, अतः एक ही रुद्र है; एवं परमेश्वर से निचले दर्जे के अनेक रुद्र होने से वे अनन्त भी हैं। इस दृष्टान्त से पाठक समझ गये होंगे कि कम से कम लोक-व्यवहार की दृष्टि से विचार करने पर भी वेद में परस्पर विरोध नहीं पाया जाता। अब कौत्स से निर्दिष्ट मंत्रों का उल्लेख करके, उनका अर्थ देते हैं, जिससे यास्क का आशय और अधिक स्पष्ट हो जावे। वे मंत्र, और अर्थ इस प्रकार हैं—'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' कहां का पाठ है—यह ज्ञात नहीं हुआ। हां, तैत्तिरीय संहिता १.८.६.१ में **'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे'**—ऐसा पाठ मिलता है। परन्तु दुर्गाचार्य निम्नप्रकार से कहीं का वचन उद्धृत करता है—

एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे निघ्नन् पृतनासु शत्रून्।
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता प्रत्यङ् जनान् सञ्चकोचान्तकाले ॥

सांसारिक संग्राम में दुष्ट जीवों को दण्ड देने वाला एक ही रुद्र परमेश्वर रमणीय परम-पद में अवस्थित है, वह सर्व-रक्षक रुद्र सब लोकों को पैदा करके पुनः प्रलयकाल में उन उत्पन्न लोकों को संकुचित कर देता है, अर्थात् प्रकृति में लीन कर देता है।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ यजु० १६. ५४

जो अनेक रुद्र, अर्थात् परमेश्वर के उपासक भक्त हैं, उन के हजारों योजनों के स्थान में हम क्षात्रिय लोग अपने धनुषों को समेटते हैं। अर्थात्, कहीं भी साधु जनों को किसी तरह का कष्ट न हो

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचोऽहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परिष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधिधन्वसु। ऋ० १० १३३, २

(इन्द्र) हे राजन्! तुमने शत्रु की परिखा रूपी नदियों को (अधराचः) नीच जाने वाली किया, अर्थात् नदियों को लांघ कर शत्रु–दुर्ग पर आक्रमण किया। एवं, शत्रु को मार कर शत्रु रहित बने, और सब प्रकार के उत्तम ऐश्वर्य को पुष्ट करते हो। अतः, उस तुम को हम सहयोग देते हैं, जिससे छोटे २ दुश्मनों की धनुष–डोरियें धनुषों पर न रहें।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥ १०.१०३.१

आशुकारी, तीक्ष्ण शस्त्रों से सज्जित, सांढ की न्याईं भीम, शत्रुहन्ता, शत्रु–प्रजा को विक्षुब्ध करने वाला, दुष्ट जनों को रुलाने हारा, अनलस, और अद्वितीय वीर राजा (साकं) इकट्ठी मिली हुईं सैंकड़ों शत्रु–सेनाओं को जीतता है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि उपर्युक्त मंत्रों में परस्पर विरोध है, या समझने वाले की अपनी अज्ञानता है।

५. जो यह कहा कि जानने हारे यज्ञकर्ता को वेद आज्ञप्त करता है। सो, लोक में जानते हुए गुरु को शिष्य अभिवादन करता है, और जानते हुए वर या अतिथि के लिये तीन वार मधुपर्क को बोलता है।

लोक में यह व्यवस्था है कि जब कोई शिष्य अपने गुरु को नमस्कार करता है तो 'अभिवादये देवदत्तोऽहम्भो'– इस प्रकार

स्व–नामोच्चारण पूर्वक अभिवादन करता है । मनुस्मृति २. १२२ में ऐसी ही पद्धति का उल्लेख है । क्या गुरु उसके नाम से परिचित नहीं ? तो क्या इससे यह समझा जावे कि उपर्युक्त अभिवादन–वाक्य अर्थ-शून्य है । एवं, विवाह समय में घर आये वर के लिए मधुपर्क उपस्थित करते हुए 'मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्' में तीन वार मधुपर्क का उच्चारण किया जाता है । क्या विद्वान् वर मधुपर्क को नहीं जानता ? क्या फिर इस मधुपर्क–प्रदान–वाक्य को अनर्थक माना जाता है ? नहीं, ऐसे वाक्य अनर्थक नहीं माने जाते, परन्तु विहित अर्थ के प्रकाशन, तथा उसकी दृढ़ता के लिये उचित समझे जाते हैं । यही नियम वेद में समझना चाहिए । अग्नि के भलीप्रकार प्रज्वलित होने पर ही यज्ञ में मंत्रोच्चारण करने चाहियें, अन्यथा नहीं, इस बात की दृढ़ता के लिये कौत्स–निर्दिष्ट मंत्र–वाक्य है ।

६. जो यह कहा कि अदिति सब कुछ है । सो, यह चाल लौकिक वचनों में भी है । जैसे 'यदि जल पा लिया, तो मानो सब प्रकार के रस पा लिये । जल से रसों की उत्पत्ति होती है, अतः गौणी वृत्ति से हम प्रत्येक रस–पदार्थ को जल कह सकते हैं । इसी प्रकार अदिति परमेश्वर संपूर्ण सृष्टि का स्वामी है, इस लिये दुनिया के प्रत्येक पदार्थ में अदीनता का भाव दर्शाने के लिये वेद–मंत्र में उन्हें अदिति के नाम से पुकारा गया है । अथवा, एक मुख्य अदिति परमेश्वर के भिन्न भिन्न गुणों के कारण गौणी वृत्ति से उसके द्यौ, अन्तरिक्ष आदि अनेक नाम हैं । लोक में भी '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव**' आदि श्लोकों में एक परमेश्वर को माता, पिता, भाई, मित्र आदि सब कुछ

कहा है। अतः ऐसे वचनों से असंभव अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता। "अदितिर्द्यौः" आदि मंत्र का अर्थ आगे ४ अ० ४ पा० में देखिए।

७. जो यह कहा कि वैदिक शब्द अस्पष्टार्थक हैं, सो यह खूंटे का दोष नहीं, जो इसे अन्धा नहीं देखता, वह पुरुष का अपराध है। जैसे हुनरों में विद्या की विशेषता से पुरुष विशेष होता है, उसी प्रकार वेद जानने वाले विद्वानों में अधिक विद्यावान् मनुष्य प्रशस्य है।

जिस प्रकार कोई अन्धा मनुष्य किसी खूंटे से ठोकर खाकर गिर जावे, और खूंटे का दोष बताये, इसी प्रकार की कौत्स की सातवीं युक्ति है। निरुक्तादि विद्या-नेत्र हों तो वेद की स्पष्टता पता लगे। ज्ञान-नेत्रों से रहित मनुष्य तो वेदार्थ समझने में अनेक ठोकरें खायेगा ही। जैसे उत्तमोत्तम हुनरों में सिद्ध-हस्त शिल्पी अन्य मनुष्यों में प्रतिष्ठित समझा जाता है, उसकी तद्विषयक सम्मति प्रामाणिक मानी जाती है; इसी प्रकार वैदिक-साहित्य का अधिकाधिक अनुशीलन करने वाला विद्वान् वेदार्थ करने में प्रामाणिक माना जावेगा। जिस ने ६ वेदांग, ६ उपांग, ब्राह्मण, उपनिषदें, स्मृति ग्रन्थ, उपवेद आदि वैदिक--साहित्य देखा ही नहीं, और यदि देखा है तो अत्यन्त अल्प, उस के लिये तो वेद-मंत्र काले अक्षर भैंस बराबर ही जान पड़ेंगे। उस के लिये सरल से सरल वेद-मंत्र भी अस्पष्ट ही होगा। कौत्स! वैदिक साहित्य का अनुशीलन कर। विद्या-नेत्र खुलने पर सब कुछ दीखने लगेगा।

एवं, जब वेद-मंत्र सार्थक हैं, तब उन के ज्ञान के लिये निरुक्त का अध्ययन अत्यावश्यक हुआ। बिना इस के वेद का समझना दुष्कर है।

* षष्ठ पाद *

१५

२. पदविभाग का ज्ञान | अथपीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इति। पद्वदवसं गावः पथ्यदनम्, अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणस्तस्मान्नावगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' इति स्यतिरुपसृष्टो विमोचने तस्मादवगृह्णन्ति।

'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' इति पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वाःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व' इति चतुर्थ्यर्थप्रेक्षैकारान्तम्। परः सन्निकर्षः संहिता। पदप्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

२. निरुक्त का दूसरा प्रयोजन यह है कि इस शास्त्र के बिना पद-विभाग, अर्थात् पद-पाठ नहीं हो सकता। जैसे, निम्नलिखित दो मंत्रों में यद्यपि समान रूप से **'अवसाय'** पद आता है, परन्तु निरुक्त के अनुशीलन से एक जगह पर 'अवसाय' पदच्छेद है, और दूसरी जगह 'अव+साय'। दोनों मंत्र इस प्रकार हैं—

मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरारिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्या पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ॥ १०.१६९.१

देवता—गावः। गायों के लिये वायु आरोग्यता-वर्धक चले, गायें बल-प्रद तृणादि भक्षण करें, और गायें पुष्टि देने हारे जल पान करें। हे रोगनाशक प्रभो! पथ्यदन के साधन गाय के लिये कल्याण करो।

पद्वत् अवसं=गावः पथ्यदनम्=पाथेय की साधनी-भूत गायें। पद्वत्=गाय, अवस=पथ्यदन। 'अवस' में गत्यर्थक **'अव'** धातु से **'अस'** प्रत्यय है (उणा० ३.११७) इस लिये इसका पदच्छेद नहीं करते, यह असमस्त एक ही पद है। अवस=जो मार्ग में भोजनार्थ

प्राप्त किया जावे। इस से यह ज्ञात होता है कि गाय के दूध से बने पेड़े आदि पदार्थ ही मुख्यतया पाथेय समझे जाते हैं।

योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमानिषीद स्वानो नार्वा ।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान् दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ॥ १.१०४.१

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र ! ते निषदे योनिः अकारि) न्यायाधीश राजन् ! आप के बैठने के लिये सिंहासन परिशुद्ध किया हुआ है। (दोषावस्तः वहयिसः वयः प्रपित्वे विमुच्य) आप दिन रात शीघ्र पहुंचाने वाले विमानों को समीप में छोड़कर, (अश्वान् अवसाय) और घोड़ों को विमुक्त करके (स्वानः अर्वा न) शब्दायमान घोड़े की न्याई प्रसन्न-वदन होकर (तम् आनिषीद) उस सिंहासन पर बैठिये। यहां 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'षो' धातु विमोचन अर्थ में प्रयुक्त है। 'अवसाय' में गति-समास होने के कारण यहां इसका 'अवसाय' पदच्छेद पद-कार आचार्य करते हैं।

इसी प्रकार अगले दो मंत्रों में समान रूप से पठित 'निर्ऋत्या' का पदच्छेद क्रमशः 'निर्ऋत्याः' और 'निर्ऋत्यै' होता है।

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम। तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१०.१६५.१

देवता—कपोतः। (देवाः ! यत् इच्छन् इषितः दूतः कपोतः) हे विद्वानो ! जो समाचार के जानने जनाने की इच्छा रखते हुए प्रेषित दूत कबूतर (निर्ऋत्याः इदं आजगाम) दूर देश से यहां आता है, (तस्मै अर्चाम) उसका हम सत्कार करते हैं-उसे हम बड़े प्यार से रखते हैं, (निष्कृतिं कृणवाम) और दूत-कर्म कराने के लिये शिक्षण द्वारा उसे संस्कृत करते हैं। (नः द्विपदे शं अस्तु, चतुष्पदे शं) वह हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिये दूत-कर्म द्वारा

शान्तिकारी हो । यहां 'निर्ऋत्याः' पद से पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का बोध होता है । मंत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार हो सकता है—हे विद्वानो ! जो समाचार के जानने जनाने की इच्छा रखते हुए प्रेषित, दूर देश का दूत कबूतर यहां आता है, उसे हम बड़े प्यार से रखते हैं इत्यादि । यहां 'निर्ऋत्याः' षष्ठयर्थ का बोधक है । एवं, इस मंत्र में निर्ऋत्याः—इस प्रकार आःकारान्त पदच्छेद होगा ।

अपेहि मनसस्पते ऽपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ १०.१६४.१

देवता—दुःस्वपन्नम् । मन को पतित करने वाले दुःस्वप्न ! दूर हो जा, दूर भाग, परे चल, (निर्ऋत्यै) कुविचार के लिये दूर देश देख, क्योंकि मुझ जीवित मनुष्य का मन अनेक श्रेष्ठ विचारों से युक्त है । एवं, इस मंत्र में चतुर्थी के अर्थ का बोध होता है, अतः 'निर्ऋत्यै' इस प्रकार ऐकारान्त पदच्छेद है ।

इस प्रकार निरुक्त-शास्त्र से अर्थावबोध के होने पर ही पदपाठ की रचना होसकती हैं, अन्यथा नहीं ।

संहिता का लक्षण । **परः सन्निकर्षः संहिता** (पाणि० १.४.१०६) वर्णों के अत्यन्त सामीप्य को संहिता कहते हैं । **पदप्रकृतिः संहिता** (ऋक्प्रातिशाख्य २.१) पदों की प्रकृति, अर्थात् कारण संहिता है । इसी संहिता-लक्षण को प्रातिशाख्य ने अगले सूत्र में इस तरह स्पष्ट किया है—'**पदान्तान्पदादिभिः सन्दधदेति यत्सा**' पदों के अन्तों को पदों के आदियों से जोड़ती हुई जो वाणी पाई जाती है, वह संहिता है । इस प्रकार (सर्वचरणानां) सब शाखायों के (पार्षदानि) प्रातिशाख्य पदों की प्रकृति को संहिता मानने वाले हैं, क्योंकि वेद-मंत्र संहिता रूप में ही परमेश्वर के ज्ञान से प्रकट हुए हैं, पदरूप में नहीं, अतः संहिता वह है जो पदों की कारणीभूत है । भिन्न २

पद संहिता के विकार हैं। इस लिये जो व्याख्याकार बहुब्रीहि-समास करते हुए 'पद हैं प्रकृति जिस के, वह संहिता है'-ऐसा अर्थ करते हैं, वह ठीक नहीं।

१६

३ देवता-परिज्ञान | अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयु लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुम्पृणन्ति' वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गश्चाग्नेये मंत्रे। 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' इति तथाग्निर्मान्यवे मंत्रे। त्विषितो ज्वलितस्त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति।

३. निरुक्त का तीसरा प्रयोजन यह है कि यज्ञ-कर्म में देवता से बहुत से विधि-निर्देश किये हुए हैं, वे निर्देश इस निरुक्त से ज्ञातव्य हैं। यज्ञों में अनेक स्थलों पर विधान है कि अमुक स्थान पर प्राजापत्य आहुति दी जावे, अमुक स्थान पर आग्नेय, इत्यादि। यह तभी हो सकता है जब कि हमें देवता-परिज्ञान पूर्णतया हो, और यह देवता-परिज्ञान बिना निरुक्ताध्ययन के संभव नहीं, अतः इस शास्त्र का पढ़ना आवश्यक है। यदि वे यज्ञकर्ता लोग यह कहें कि हम वेदों में देवता-स्वरूप के ज्ञाता हैं-अर्थात्, मंत्रों में देवता अत्यन्त स्पष्ट हैं, उन्हें तो हम निरुक्त-शास्त्र के बिना ही जान लेते हैं, तो उन के सामने निम्नलिखित मंत्र रक्खे जाते हैं, बतलायें उनके देवता क्या हैं।

त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकै र्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः॥ ६.४.७

देवता-अग्निः। (अग्ने) हे विद्वन्! (मन्द्रतमं त्वां हि) प्रसन्न-वदन आपको (अर्कशोकैः ववृमहे) पवित्र अन्नों से हम वरते हैं। (नः महि श्रोषि) आप हमारे उत्तम वचन को सुनिये। (नृतमाः

देवता) पुरुष-श्रेष्ठ व्यवहारी लोग (शवसा इन्द्रं न) बल से विद्युत् की न्याईं—विद्युत् की न्याईं बलवान्, (वायुं त्वा) और ज्ञानवान् आपको (राधसा पृणन्ति) धन से तृप्त करते हैं । यहां अग्नि देवता वाले मंत्र में वायु, और इन्द्र देवता का चिह्न पाया जाता है ।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून्विभजस्व वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व ॥ १०.८४.२

देवता—मन्युः । हे मन्यु स्वरूप राजन् ! आप अग्नि की न्याईं प्रदीप्त होते हुए शत्रुओं का पराभव कीजिए । हे सहनशील राजन् ! पुकारे जाने पर आप हमारे सेनापति हूजिए । शत्रुओं को मार कर, उन के धन को हमारे में बांटिए । और राष्ट्र के ओज का निर्माण करते हुए शत्रु-सेनाओं को दूर भगाइये ।

इस मन्यु देवता वाले मंत्र में अग्नि देवता का चिन्ह पाया जाता है । देवता-विषयक इन संदेहों को दूर करने वाला निरुक्त शास्त्र ही है ।

१७

४. सच्चे ज्ञानी बन कर प्रशंसित होंगे ।	अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च । ज्ञान की प्रशंसा होती है, और अज्ञान की निन्दा

सच्चा तथा पूर्ण ज्ञान हमें भगवान् की वाणी वेद द्वारा ही मिल सकता है । और वेदार्थ-ज्ञान निरुक्तादि वेदाङ्गों के अध्ययन से ही संभाव्य है । बिना अर्थ-ज्ञान के केवल वेद-मंत्र रट लेने से विशेष लाभ नहीं होगा । अतः, यदि हम सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करके प्रशस्य, तथा सुखी बनना चाहते हैं तो हमें वेदार्थ-ज्ञान के मुख्य साधन निरुक्त-शास्त्र का अवश्य अध्ययन करना होगा । एवं, निरुक्त पढ़ने का चौथा प्रयोजन यह हुआ कि हम सच्चे ज्ञानी बनकर प्रशंसित होंगे । अपने पक्ष की पुष्टि में यास्काचार्य ४ प्रमाण देते हैं—

ii स्थाणुरयंभारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यो अर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥
स्थाणुस्तिष्ठतेः । अर्थोऽर्तेः, अरणस्थो वा ।

i जो वेद को पाठमात्र पढ़ के अर्थ नहीं जानता, वह वृक्ष या गधे की न्याईं भार उठाने वाला है । और, जो वेद का यथावत् अर्थ जानता है, वह ही पूर्ण कल्याण को भोगता है, और ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर देहावसान पर परम सुख मुक्ति–धाम में पहुंचता है ।

उपर्युक्त 'स्थाणु' की उपमा को सुश्रुत के सूत्रस्थान, चतुर्थाध्याय में इसप्रकार विस्पष्ट किया है—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता नतु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥

जैसे चन्दन के भार को ढोने वाला गधा भार का ज्ञाता होता है चन्दन का नहीं, इसी प्रकार अनेक शास्त्रों को पढ़कर, और उन के अर्थ ज्ञान में मूढ मनुष्य गधे की न्याईं अपनी स्मृति में शब्दों के भार को ढोते हैं, और अर्थ–ज्ञान के न होने से उन की सुगन्धि को नहीं पाते । स्थाणु—'स्था' धातु से 'णु' प्रत्यय (उणा० ३.३७) अर्थ—(क) 'ऋ' धातु से 'स्थन्' प्रत्यय (उणा० २.४) अर्यते ज्ञायते इति अर्थः । (ख) अरणस्थ–अर् थ–अर्थ । अरणे ज्ञाने तिष्ठतीति अर्थः शब्दार्थः । अरणे स्वामिनः गमने सति देहावसाने अत्रैव तिष्ठतीति अर्थः धनम् ।

ii जो विना समझे ग्रहण किया हुआ है—पढ़ा हुआ है, और पाठमात्र से उच्चारा जाता है, वह पठित शास्त्र अग्नि—रहित स्थान में सूखी लकड़ियों की न्याईं कभी प्रज्वलित नहीं होता–कभी नहीं चमकता ।

१८

iii उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ १०.७१.४
अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा, उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति, स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

iii एक, केवल वेद-मंत्र रटने वाला मूर्ख वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, और सुनता हुआ भी नहीं सुनता, अर्थात् वह वेद के रहस्य को नहीं समझ सकता। और दूसरे, अर्थ-ज्ञाता के लिये वेदवाणी अपना पूर्ण स्वरूप उसीतरह प्रकट करती है, जिस प्रकार उत्तमोत्तम वस्त्र धारण करके ऋतुकालों में अपने पति की कामना करती हुई स्त्री पति के सामने अपने शरीर का प्रकाश करती है। जिस प्रकार किसी विशेष समय में पत्नी के पूर्ण शरीर को देखने का अधिकारी एकमात्र केवल पति होता है, इसी प्रकार विधि पूर्वक वेदार्थ-ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही कोई विद्वान् वेद-वाणी के पूर्ण स्वरूप को देख सकता है।

अविद्वांसं आह अर्धम्=मंत्र का पूर्वार्ध अविद्वान् को कहता है। (ज्ञानं प्रकाशन०) मंत्र के इस वचन से, अर्थात् उपमा-युक्त उत्तरार्ध मंत्र-वचन से ज्ञान, अर्थात् मंत्रार्थ के प्रकाशन को कहा है। इति अर्थज्ञ प्रशंसा=इस प्रकार मंत्र के उत्तरार्ध में अर्थज्ञ की प्रशंसा है। इस उपर्युक्त भाव की अधिक स्पष्टता के लिये अगली ऋचा है—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु र्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥१०·७१.५
अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहुः-रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये, रमणीये स्थान इति वा । विज्ञातार्थं यन्नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि । अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया । नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु, यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामिति-अफलाऽस्मा अपुष्पा वाग् भवतीति वा, किंचित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा ।

(उत त्वं सख्ये) और, एक वेदज्ञ को विद्वन्मण्डली, या रमणीय स्थान-देवस्थान में (स्थिरपीतं) निर्भयता से रमने वाला, तथा पदार्थ को-ज्ञान को-पीने वाला-पूर्णतया अपने अन्दर धारण करने वाला (आहुः) कहते हैं । (अपि एनं वाजिनेषु न हिन्वन्ति) और इस अर्थ-ज्ञाता को वेदवाणी से ज्ञेय गम्भीर विषयों में अन्य पुरुष नहीं पहुंचते । (एषः अधेन्वा मायया चरति) परन्तु यह वेद-ज्ञान विहीन मूर्ख मनुष्य न दोहने वाली नकली वाणी के साथ विचरता है (अफलां अपुष्पां वाचं शुश्रुवान्) जिसने कि फल पुष्प रहित वाणी को सुना है । अर्थात् जो मनुष्य वेद के अर्थ तो नहीं जानता, परन्तु तोते की न्याई केवल वेद-मंत्र रट लिये हैं-उस से कोई विशेष लाभ नहीं । वाजिनेषु=वाग्ज्ञेयेषु बलवत्सु । वाक् शब्द, वाणी और वाणी से ज्ञेय ज्ञान-इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहां ज्ञानार्थक लिया गया है । इन=प्रभु=सामर्थ्यवान्=गम्भीर । माया=प्रतिरूपा=नकली । (वाक् अस्मै देवमनुष्यस्थानेषु दोह्यान् कामान् न दुग्धे) यह नकली वाणी इस मूर्ख मनुष्य के लिये, विद्वान् तथा साधारण मनुष्यों

के देश में कल्याण,सुख,प्रसन्नता,आदि दोह्य कामनाओं को नहीं दोहती। (अफला अस्मै०) उस मूर्ख के लिये वेद-वाणी फल-पुष्प-रहित होती है, या किंचित् सी पुष्प फल वाली होती है। अर्थात् जो मनुष्य वेदों के अर्थ तो नहीं जानता, परन्तु उसने वेद-मंत्र रट रक्खे हैं, वह उस की अपेक्षा अच्छा है, जिसने मंत्र भी स्मरण नहीं किये। अतः केवल वेद-मंत्र स्मरण कर लेने से भी मनुष्य को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुंचता है। इस प्रकार दूसरे पक्ष में 'अफला अपुष्पा' का अर्थ 'किंचित्पुष्पफला' करते हुए यास्क ने 'अ' को अल्पार्थक माना है। पुष्प फल क्या हैं? इसका उत्तर यास्क इस प्रकार देते हैं—(अर्थं वाचः पुष्पफलं०) (क) ऋषि लोग अर्थ-ज्ञान को वेद-वाणी का पुष्प फल कहते हैं। (ख) अथवा यज्ञ-विषयक ज्ञान पुष्प, और अग्नि वायु आदित्यादि देवता-विषयक ज्ञान फल है। (ग) अथवा देवता-विषयक ज्ञान पुष्प, और जीवात्मा परमात्मा विषयक ज्ञान फल है।

१६

निघण्टु क्यों बना

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्यो ऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान्संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तो ऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु र्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं, भासनमिति वा।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए, उन्होंने पीछे होने वाले असाक्षात्कृत-धर्मा मनुष्यों को उपदेश द्वारा वेद-मंत्र प्रदान किये। उपदेश के लिये ग्लानि को प्राप्त हुए पीछे होने वाले मनुष्यों ने विस्तार पूर्वक या स्पष्टतया परिज्ञान के लिए इस निघण्टु ग्रन्थ, वेद, और अन्य वेदांगों को ग्रन्थित किया।

सृष्टि के प्रारम्भ में जिन चार ऋषियों ने परमेश्वर के ज्ञान वेद का साक्षात्कार किया, उन्हों ने अन्य मनुष्यों को उपदेश द्वारा वेद-मंत्रों की शिक्षा दी। उन शिक्षित मनुष्यों को अब यह कष्ट अनुभव होने लगा कि पिछले मनुष्यों की मन्द–बुद्धि के कारण, केवल उपदेश द्वारा उन्हें वेद–मंत्रों की शिक्षा देना बड़ा ही परिश्रम–साध्य, और कठिन है। अतः विस्तार पूर्वक, या स्पष्टतया सुगम उपाय से वेद की शिक्षा देने के लिए उन्होंने निघण्टु तथा अन्य वेदांगों, और वेदों को लिपि-बद्ध किया। स्मरण–शक्ति की न्यूनता के कारण वेदों को लिपि–बद्ध करना पड़ा, और उन वेदों को समझाने के लिये निघण्टु, तथा अन्य वेदांगों को भी रचकर लिपि–बद्ध किया। उपर्युक्त वचन से यह आशय कभी नहीं निकल सकता कि वेदों को बनाया, क्योंकि उपदेश द्वारा मंत्रों की शिक्षा तो पहले ही दी जाती थी, अब उन मंत्रों को केवल ग्रन्थित किया है। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (मीमां० १. २) के अनुसार वेद धर्म–वाची है। अतः 'साक्षात्कृतधर्माणः' में धर्म का अर्थ वेद किया गया है। **बिल्म** = i **भिल्म**–भेदन–विस्तार। जिस प्रकार 'भिद्' धातु से बिल्व बनाया गया है, उसी प्रकार यहां भिद् से 'म' प्रत्यय करके 'बिल्म' की सिद्धि की गई है। ii **भासन**— स्पष्टीकरण, भासन अर्थ में 'भदि' धातु निघण्टु–पठित है (निघ० १.१६) उस से 'बिल्म' शब्द सिद्ध हो सकता है। भन्द् म–भिद् म–बिल्म। यास्क ने उपर्युक्त वचन में प्रयुक्त अधिक क्लिष्ट शब्द 'बिल्म' की जो व्याख्या की है, उस से यह प्रतीत होता है कि संभवतः 'साक्षात्कृतधर्माणः' आदि वचन किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है।

२०

निघण्टु के विभाग	एतावन्तः समानकर्माणो धातवः, (धातु-दधातेः) एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधे-

यानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्, नैघण्टुकमिदं देवता-नाम प्राधान्येनेदमिति।

इतनी समानार्थक धातुयें हैं, (धातु-'धा' से 'तुन्' प्रत्यय उणा० १. ६६ । जो अर्थ को धारण करे) इतने इस द्रव्य के नाम हैं । इतने अर्थों का वाचक यह नाम है । यह देवता-नाम गौण है, और यह प्रधानतया है—ये निघण्टु के विभाग हैं ।

विषय-भेद से निघण्टु-कोष के तीन विभाग किये गये हैं। (१) पहला, नैघण्टुक-काण्ड; इस में एकार्थक अनेक धातुयें, तथा नाम गिनाये गये हैं । (२) दूसरा, नैगमकाण्ड; इस में अनेकार्थक नामों की गणना है । (३) और तीसरा, दैवत काण्ड; इस में गौण तथा प्रधान, दोनों प्रकार के देवता-वाची शब्दों का उल्लेख है ।इस प्रकार निघण्टु-कोष के पहले तीन अध्यायों का नाम नैघण्टुक-काण्ड है। इसकी व्याख्या यास्काचार्य ने प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीयाध्याय की समाप्ति तक की है, और प्रत्येक अध्याय में निघण्टु का एक एक अध्याय व्याख्यात है। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय का नाम नैगम-काण्ड है। इस अध्याय में तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड की व्याख्या यास्क ने एक २ अध्याय में की है।एवं, निरुक्त के ४, ५, ६ अध्याय निघण्टु के चतुर्थाध्याय की व्याख्या करते हैं । और निघण्टु के पांचवे अध्याय का नाम दैवत-काण्ड है। इस में ६ खण्ड है। प्रत्येक खण्ड की व्याख्या निरुक्त के एक २ अध्याय में की गई है। एवं, निघण्टु का पांचवा अध्याय निरुक्त के ७ से १२ तक के अध्यायों में व्याख्यात है।

गौण देवता का लक्षण तथा उदाहरण

तद्यदन्यदैवते मंत्रे निपतति नैघण्टुकं तत् । 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' अश्वमिव त्वां वालवन्तम् । वाला दंशवारणार्था भवन्ति । दंशो दशतेः। 'मृगो-न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। भीमो बिभ्यत्यस्माद्, भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्; अथ चेद्देवताभिधानं, क्वायं न चरतीति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः, समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः; प्रीणातेर्वा, अर्धमास-पर्व, देवानस्मिन्प्रीणन्तीति; तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

सो, जो अन्य देवता वाले मंत्र में आ जाता है, वह देवता-नाम नैघण्टुक है। इस प्रकार यह नैघण्टुक संज्ञा गौण देवता के लिए है। उदाहरण के तौर पर यास्क निम्नलिखित दो मंत्र देते हैं—

(क) अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥ऋ० १०.२७.१

देवता—अग्निः। (वारवन्तं अश्वं न) हे जगदीश्वर! जिस प्रकार प्रशस्त पुच्छ—बालों वाला अश्व, उन बालों से दंश मशकादि का निवारण करता है, उसी प्रकार हमारे पापादि क्लेशों को दूर करने हारे (अध्वराणां सम्राजन्तं) और सब शुभ-कर्मों में प्रकाशमान-सहायकतया विद्यमान (त्वां अग्निं) तुझ ज्ञानस्वरूप अग्नि को (नमोभिः वन्दध्यै) नमस्कारों द्वारा वन्दना के लिये हम तत्पर हैं। यहां मुख्यतया अग्नि देवता है, परन्तु उपमा में गौणरूप से थोड़ा सा वर्णन अश्व का भी आगया है। अतः अश्व नैघण्टुक देवता हुआ।

'वाल' मच्छर आदि के निवारण के लिए होते हैं। 'वाल' या 'वार' शब्द निवारणार्थक 'वृञ्' धातु से बनता है। 'दंश' शब्द 'दश' या 'दंश' धातु का रूप है, क्योंकि ये मच्छर आदि डसते हैं।

(ख) प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥१. १५४. २.

देवता—विष्णुः। (यस्य त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु) जिसके निर्माण किये हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु—इन तीन प्रकार

के महान् विसृष्टि-कर्मों में (विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति) सब प्राणी तथा अप्राणी निवास करते हैं, (तत् विष्णुः प्रस्तवते) वह सर्व-व्यापक प्रभु सब मनुष्यों के द्वारा स्तुत किया जाता है । (कुचरः गिरिष्ठाः भीमः मृगः न) यह जगदीश्वर कुत्सित कर्म करने हारे-हिंसक, और गिरि-कन्दरायों में रहने वाले भयंकर सिंह की न्याईं दुष्ट-जनों के लिए रुद्र-स्वरूप है । जब 'कुचरः' तथा 'गिरिष्ठाः' यह दोनों पद विष्णु देवता के विशेषण होगें, तब 'कुचरः' का अर्थ 'सर्वत्र-चारी' और 'गिरिष्ठाः' का 'मेघों में विद्यमान' होगा । परमेश्वर की विभूति स्थान २ में दृष्टि-गोचर होती है । भक्त-जनों के हृदयों में वर्षाकाल की अनुपम मेघ-मालायें जो जगदीश्वर का साक्षात्कार कराती हैं, उसे भक्तजन ही अनुभव करते हैं । इस मंत्र में गौणरूप से 'मृग' का वर्णन है, अतः 'मृग' नैघण्टुक देवता होगा ।

इस प्रकार पाठकों ने देख लिया कि उपमा में जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है उसका गौण रूप से वर्णन होने के कारण, वह उस मंत्र का नैघण्टुक देवता होता है ।

'मृग' निघण्टु-पठित गत्यर्थक 'मृग' धातु से बनता है। भीम-जिससे भय लगता हो, 'भी भये' धातु से 'मक्' (उणा० १.१४८)। 'भीष्म' भी इसी धातु से बनता है, यहां 'षुक्' का आगम उसी उणादि सूत्र से होजाता हैं । कुचरः=कुत्सितं कर्म चरति; अथवा, क्व अयं न चरति=कहां यह नहीं विचरता, अर्थात् विष्णु सर्वत्र-चारी है । गिरिष्ठाः गिरिस्थायी । गिरि=पर्वत, क्योंकि यह भूमि से उगला हुआ होता है । पर्वत भूमि के ही उद्गार हैं। 'गॄ' धातु से 'इ' प्रत्यय और किद्भाव (उणा० ४.१४३)। पर्वत=पर्ववान्=पालनवान्, पालनार्थक 'पॄ' धातु से मतुप् अर्थ में पाणिनि५.२.१२१ पर पठित वार्तिक से 'तप्' प्रत्यय । पर्वत पर निवास करने से मनुष्य का स्वास्थ्य बहुत उत्तम रहता है, और 'उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनां । धिया विप्रो

अजायत' ऋ० ८.६.२८ के अनुसार पर्वत-प्रदेश में विद्याभ्यास करने से मनुष्य बुद्धिमान् होता है, अतः पर्वत पालन करने हारा है । एवं, जब 'पॄ' धातु से 'पर्व' सिद्ध करेंगे, तब तो उसका अर्थ 'पालन' होगा; और जब तर्पणार्थक 'प्रीञ्' धातु से बनाया जावेगा, तब आधे महीने के पर्व का वाचक होगा, अर्थात् पूर्णिमा और अमावास्या । इन दोनों पर्वों में पक्ष-याग के द्वारा गृहस्थी, तथा वानप्रस्थी देवों को हवि से तृप्त करते हैं । (तत्प्रकृति इतरत्०) संधि की समानता से इस काल-संधि के स्वभाव वाली अन्य अंग आदिकों की संधि है । अर्थात् जिस प्रकार अमावास्या तथा पूर्णिमा का पर्व दो पक्षों की संधि है, इसी प्रकार इस संधि की समानता से अंग आदिकों के जोड़ों को भी 'पर्व' कहते हैं। विष्णु देवता के पक्ष में 'गिरिष्ठाः' का अर्थ मेघस्थायी होगा। मेघ वाची 'गिरि' भी इसी 'गॄ' धातु से बनता है, क्योंकि यह मेघ समुद्र-वाष्प के रूप में समुद्र से उगला हुआ होता है ।

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते, तदुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः । नैघण्टुकानि, नैगमानीहेह ।

उस निघण्टु-कोष में जहां मुख्यतया वर्णन किये जाने वाले देवताओं के नाम हैं, वह दैवत-काण्ड है— ऐसा दूसरे आचार्य कहते हैं । उस दैवत-काण्ड की व्याख्या आगे उत्तरार्ध में करेंगें । नैघण्टुक, तथा नैगम पदों की यहां पूर्वार्ध में करते हैं । 'इह इह' दुबारा पाठ अध्याय-समाप्ति पर प्रसन्नता के लिये है ।

जो आचार्य दैवत-काण्ड में गौण तथा प्रधान, दोनों प्रकार के देवतावाची शब्दों का उल्लेख करते हैं, उससे दूसरे आचार्य सहमत नहीं । वे केवल प्रधान देवताओं की ही इस काण्ड में परिगणना करते हैं । यास्काचार्य भी इसी दूसरे पक्ष के पोषक हैं । उन्हों ने अपने पक्ष की पुष्टि दैवत-काण्ड की भूमिका के अन्त में की है ।

द्वितीय अध्याय ।

* प्रथमपाद *

अथ निर्वचनम् ।

अब निर्वचन–प्रकार का उल्लेख करते हैं ।

(१) तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां, तथा तानि निर्ब्रूयात् । (२) अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे,अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन । (३) अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् । नत्वेव न निर्ब्रूयात् । न संस्कारमाद्रियेत, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति । (४) यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ।

(१) उन निर्वचन-प्रकारों में पहला प्रकार यह है कि जिन पदों में स्वर, और धातु प्रत्यय लोप आगम आदि संस्कार, उपपन्न हों–व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया से अनुगत हों–उन का उसी–प्रकार व्याकरण की रीति से निर्वचन करले । (२) जहां, शब्द व्याकरण से सिद्ध नहीं होता, और अतएव उसका अर्थ अनुगत नहीं होता, वहां अर्थ को मुख्य मानकर किसी अर्थ की समानता से निर्वचन करे । (३) जहां, अर्थ की समानता भी विद्यमान नहीं, वहां अक्षर, वा वर्ण, अर्थात् अकारादि स्वर, तथा ककारादि व्यञ्जन की समानता से निर्वचन करले । निर्वचन न करे–ऐसा न हो । ऐसे स्थलों में व्याकरणोक्त संस्कार की परवाह न करे, क्योंकि शब्दों की चाल संशय युक्त होती हैं । (४) अर्थ के अनुसार विभक्तियों को बदल ले । प्रत्यक्ष–वृत्ति कारक, हारक, पाचक आदि शब्द तो व्याकरण से ही सिद्ध हो जा-

ते हैं, उन में निरुक्त के आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं। परोक्ष-वृत्ति तथा अतिपरोक्ष-वृत्ति शब्दों के निर्वचन के लिये निरुक्त-शास्त्र का निर्माण है। उन शब्दों में कहीं अर्थ की समानता, और कहीं स्वर, व्यञ्जन की समानता से निर्वचन करना चाहिए। निर्वचन करने में प्रमाद न हो, प्रत्युत निरुक्त-शास्त्र की सहायता से उचित निरुक्ति अवश्यमेव कर लेनी चाहिये। ऐसे शब्दों में व्याकरणोक्त संस्कार की कुछ परवाह न करे, क्यों कि उन में शब्दार्थ सन्देह-जनक होते हैं, और बिना निर्वचन के वह सन्देह दूर नहीं होसकता। इस के अतिरिक्त वेद में अर्थ के अनुसार विभक्ति तथा वचन का व्यत्यय बहुत अधिक पाया जाता है। इस व्यत्यय का कोई विशेष नियम हमें परिज्ञात नहीं। यह व्यत्यय क्यों किये जावें ? इसका सन्तोष-प्रद उत्तर हमें नहीं मिलता। परमात्मा पूर्ण है, यदि वेद परमात्मा के ही दिये हुए हैं, तो उसकी भाषा में यह अपूर्णता का महान् दोष नहीं होना चाहिए। यदि व्यत्यय ही किया जाना था तो परमात्मा ने असली शब्द ही क्यों नहीं प्रयुक्त कर दिये जिससे यह दोष न रहता। यह आशंका हमें बहुत डगमगाती है। वैदिक-भाषा में इतनी भारी त्रुटि का होना बड़ा खटकता है। परन्तु यदि हम यास्काचार्य द्वारा निर्दिष्ट सातवें निर्वचन-प्रकार को सामने रखते हुए पाली-भाषा से सहायता लें तो इस का उत्तर मिल जाता है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से पालि और वैदिक-भाषा का अध्ययन करें तो इस सन्देह की निवृत्ति हो जायेगी। पालि में भिन्न २ विभक्तियों और वचनों के रूप समान होते हैं। जैसे, (१) सब शब्दों में तृतीया, पंचमी के बहुवचन; तथा चतुर्थी, षष्ठी विभक्तियों के रूप समान होते हैं। (२) बुद्ध, धन, गुणवन्त (गुणवत्) गच्छन्त (गच्छत्) आदि अकारान्त शब्दों में द्वितीया का बहुवचन, तथा सप्तमी का एकवचन

(३) अत्त (आत्मन्) राज (राजन्) आदि शब्दों में द्वितीया का एक-वचन तथा चतुर्थी, षष्ठी के बहुवचन (४) व्याधि, केतु, पितु (पितृ) आदि पुलिंग शब्दों में तृतीया, पंचमी विभाक्तियों के एकवचन(५) मेधा, मति, नदी, धेनु, जम्बू आदि स्त्रीलिंग शब्दों में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एकवचन समान होते हैं। (६) पालि में एकवचन और बहुवचन ही होते हैं द्विवचन नहीं, अतः द्विवचन, बहु-वचन के रूप समान होगें। पालि में भी यदि कोई संस्कृत की दृष्टि से व्यत्यय कहना चाहे तो कह सकता है। परन्तु वास्तव में ये व्यत्यय नहीं, उन २ विभक्तियों और वचनों के अपने ही रूप हैं। **वेद में व्यत्यय संस्कृतभाषा की दृष्टि से किये जाते हैं। संभव है वहां भी पालिभाषा की तरह उन उन विभक्तियों और वचनों में वह रूप भी होते हों। अतः उसे व्यत्यय नहीं कह सकते।** वेदों में जहां भाष्यकारों ने संगति के अनुसार व्यत्यय किये हों, उन्हें यदि उपर्युक्त पालि के नियम को दृष्टि में रखते हुए एकत्रित करें तो हमें एक नियम का पता लग सकता है।

अक्षर वर्ण की समानता से निर्वचन के उदाहरण तो यास्क आगे स्वयं देगा ही अर्थ की समानता से निर्वचन के तीन उदाहरणों का उल्लेख हम यहां पर कर देते हैं—(क) 'पर्व' शब्द मुख्यतया अमावास्या, तथा पूर्णिमा के लिये आता है। ये दोनों पर्व शुक्ल, तथा कृष्ण, दोनों पक्षों को मिलाते हैं। इस लिये इस संधि की समानता से अंगों के जोड़ों को भी 'पर्व' कहा गया (निरु० १.२०) (ख) 'ऊधस्' शब्द मुख्यतया गाय के स्तन के लिये प्रयुक्त होता है। गाय का स्तन दुग्ध-रस देता है। अतः, इस रस-प्रदान की समानता से रात्रि को भी 'ऊधस्' कहा गया, क्योंकि रात्रि में 'ओस' रूपी रस गिरता है (निरु० ६अ. ४पा. ८४ शब्द) (ग) 'वत्स' शब्द मुख्यतया गाय के बछड़े के लिये आता

है। गाय का बछड़ा अपनी माता के दुग्ध-रस का आहरण करता है; अतः इस रसाहरण की समानता से सूर्य को उषाकाल का 'वत्स' कहा गया, क्योंकि सूर्य उषाकाल-जन्य ओस-बिन्दुओं को अपनी रश्मियों द्वारा आहरण करता है (निरु. २अ.६पा. २० खं)

अक्षर, वर्ण की समानता से निर्वचन करने के प्रकार

प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति, स्तः, सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति, गत्वा गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति, जग्मतुः जग्मुरिति। अथाप्युपधाविकारो भवति, राजा दण्डीति। अथापि वर्णलोपो भवति, तत्त्वा यामीति। अथापि द्विवर्णलोपः, तृच इति। अथाप्यादिविपर्ययो भवति, ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाट्य इति। अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति, स्तोका रज्जुः सिकतास्तर्क्विति। अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति, ओघो मेघो नाधो गाधो वधूर्मध्विति। अथापि वर्णोपजनः, आस्थद् द्वारो भरूजेति। १।

(क) प्रत्तम्, अवत्तम्—यहां धातुओं के आदि वर्ण ही शेष रह जाते हैं। प्रत्तम्=दिया। अवत्तम्=काटा। प्र+दा, अव+दो अव-खण्डने' से 'क्त' प्रत्यय, अच उपसर्गात्तः (पाणि०७.४.४७) से 'दा' के 'आ' को 'त्'। एवं, 'दा' या 'दो' धातु का 'द्' ही शेष रह गया। (ख) गुण वृद्धि के निवृत्ति-स्थानों में 'अस्' धातु का आदि-लोप होता है; जैसे स्तः, सन्ति इत्यादि। अस् तस्, अस् झि में श्नसोरल्लोपः (पाणि.६.४.१११) सूत्र से 'अस्' के 'अ' का लोप। (ग) कहीं अन्त का लोप होता है; जैसे गत्वा, गतम् इत्यादि, गम् क्त्वा, गम् क्त-में (पाणि.६.४.३७) 'म्' का लोप। (घ) कहीं उपधा का लोप होता है; जैसे जग्मतुः, जग्मुः इत्यादि। ग गम् अतुस्,

ग गम् उस्–यहां दूसरे 'ग' के 'अ' का लोप होता है (पाणि.६.४.४८)। (ङ) कहीं उपधा की विकृति होती है; जैसे राजा, दण्डी इत्यादि। राजन् सु, दण्डिन् सु–में 'अ' की जगह 'आ' और 'इ' की जगह 'ई' हो जाता है (पाणि०६.४.८,१३)। (च) कहीं व्यञ्जन का लोप होता है; जैसे 'तत्त्वा यामि' इत्यादि। यहां 'तत्त्वा यामि' (ऋ०१.२४.११) मंत्र में 'त्वाम्' के 'म्' का लोप है। यामि (याचामि) में 'चा' का लोप इसलिये नहीं माना क्योंकि 'या' धातु ही याञ्चा अर्थ में निघण्टु-पठित है। (छ) दो वर्णों का भी लोप होता है; जैसे 'तृचः' इत्यादि। तिसृणां ऋचां समाहारः तृच्, 'त्रि ऋच्' में 'र्' तथा 'इ' का लोप। (ज) कहीं आदि अक्षर का विपर्यय होता है; जैसे ज्योतिष्, घन, बिन्दु, बाव्य इत्यादि। ज्योतिष्–'द्युत्' दीप्तौ धातु से 'इस' प्रत्यय (उणा०२.११०) द्योतिष्–ज्योतिष्। यहां 'द' के बदले में 'ज' हुआ। घन–'हन्' धातु से 'अप्' प्रत्यय और 'ह' की जगह 'घ' (पाणि०३.३.७७)। बिन्दु–'भिदिर्' विदारणे धातु से 'उ' प्रत्यय (उणा०१.१०) भिन्दु–बिन्दु। 'भ' की जगह 'ब'। बाव्य–'भट' भृतौ से 'ण्यत्' प्रत्यय (पाणि०३.१.१२४) भाव्य–बाव्य। 'भ' की जगह 'ब'। बाव्य=भृति (झ) कहीं आदि तथा अन्त का परस्पर में विपर्यय होता है जैसे स्तोका, रज्जु, सिकता, तर्कु इत्यादि। स्तोका—'श्चुतिर्' क्षरणे धातु से 'घञ्' प्रत्यय (पाणि० ३. ३. १११) स्कोता–स्तोका, 'क, त' का आद्यन्त–विपर्यय। रज्जु–'सृज' विसर्गे से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. १५) सर्जु-रस्जु–रज्जु, 'स्, र्' का आद्यन्त-विपर्यय। सिकता–'कस' विकसने से 'क्त' प्रत्यय। कसिता–सिकता, 'क, सि' का आद्यन्त–विपर्यय। तर्कु–'कृती' छेदने से 'उ' प्रत्यय (उणा०१.१६)। कर्तु–तर्कु, 'क, त्' का आद्यन्त–विपर्यय। तर्कु=कैंची।

(ञ) कहीं अन्त का विपर्यय होता है; जैसे ओघ, मेघ, नाध, गाध, वधू. मधू इत्यादि। ओघ='वह' धातु से 'घञ् प्रत्यय । ओह-ओघ । ओघ=जल-प्रवाह। मेघ-'मिह' सेचने से 'घञ्' प्रत्यय। मेह-मेघ। नाध-'नह' बन्धने से 'घञ्'। नाह-नाध। नाध=बन्धन। गाध-'गाहू' बिलोडने से 'घञ्'। गाह-गाध। वधू-'वह' धातु से 'ऊ' प्रत्यय (उणा० १. ८३) वहू-वधू। मधु 'मदी' हर्षे से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. १८) मद्दु-मधु। इस प्रकार सर्वत्र अन्त का अक्षर बदला हुआ है।
(ट) कहीं वर्ण का आगम होता है; जैसे आस्थत्-'असु' क्षेपणे से 'लुङ्' में अस्यतेस्थुक् (पाणि० ७. ४. १७) से (थुक्) 'थ्' का आगम। द्वार-वारयतीति द्वार, 'द्' का आगम। अथर्ववेद ९. ३ में 'द्वार' के लिए 'वार' शब्द का प्रयोग अनेक बार आया है। भरूजा —'भ्रस्ज' पाके धातु से (पाणि० ३. ३. १० ३) स्त्रीलिङ्ग में 'अङ्' प्रत्यय, 'भ' के आगे 'अ' और 'र्' के आगे 'ऊ' का आगम। भरूजा=भड़भूंजी ।

एवं, (क) स्वर का आदि-लोप, अन्त-लोप, उपधा लोप-मध्य-लोप, उपधा-विकार; एक वर्ण का लोप, दो वर्णों का लोप। (ख) आदि-विपर्यय, अन्त-विपर्यय। (ग) आद्यन्त-विपर्यय (घ) और, वर्ण का आगम-यह चार प्रकार उदाहरणों द्वारा स्वर, व्यञ्जन की समानता से शब्द-सिद्धि के दर्शाये गये। इसी को एक आचार्य ने निम्नलिखित श्लोक से जतलाया है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

वह निर्वचन पांच प्रकार का कहा जाता है। (१) वर्ण का आगम। (२) वर्ण का आद्यन्त-विपर्यय। (३) वर्ण-विकार। (४) वर्ण-नाश। (५) और, धातु का उस से भिन्न अर्थ के साथ योग।

५. संप्रसारण, असंप्रसारण का विचार

तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति, तद्यथैतद् ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुम् इति।

(५) जहां स्वर से अव्यवहित अन्तस्थ य, र, ल, व, में से कोई वर्ण धातु के मध्य में होता है, वह धातु दो प्रकार के स्वभावों वाले शब्दों का आश्रय है—ऐसा आचार्य बतलाते हैं। वहां धातु की एक प्रकृति (स्वभाव) से शब्द-सिद्धि के न होने पर दूसरी से बनाने की इच्छा करे। उन में भी कई धातुयें संप्रसारण रूप में अल्प प्रयोगों वाली होती हैं; जैसे ऊति, मृदु, पृथु, पृषत, कुणारु इत्यादि।

निर्वचन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अजादि स्वर से आगे या पीछे यदि य, र, ल, व वर्णों में से कोई वर्ण धातु के मध्य में आजावे, तो उस धातु के दो स्वरूप हो जाते हैं, एक यथा-पठित असंप्रसारण-रूप, और दूसरा संप्रसारण। जैसे **यज** का **इज**, **वप** का **उप**, **ग्रह** का **गृह**। यदि कहीं धातु के असंप्रसारण रूप से शब्द-सिद्धि न होती हो, तो वहां संप्रसारण रूप से काम निकाल ले। इष्टवान्, इष्ट्वा, इष्टः—ये **इज** धातु के, और यष्ट्वा, यष्टु, यज्यमानः—**यज** धातु के रूप हैं।

इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कई धातुयें संप्रसारण रूप में कम प्रयुक्त होती हैं, और कई अधिक। जैसे, अव, म्रद, प्रथ, प्रुष, क्वण—इन धातुओं के ऊति, मृदु, पृथु, पृषत, कुणारु, आदि स्वल्प ही संप्रसारण रूप प्रयुक्त होते हैं। ऊति—यद्यपि पाणिनि ने 'अव्' को 'ऊठ्' आदेश (६. ४. २०) करके 'ऊति'

की सिद्धि की है, परन्तु यास्काचार्य 'अव' धातु का 'अउ' संप्रसारण रूप मान कर, और पररूप दीर्घ एकादेश करके 'ऊति' सिद्ध करते हैं। मृदु, पृथु—'म्रद्' तथा 'प्रथ' धातुओं के संप्रसारण रूप 'मृद, 'पृथ' से 'कु' प्रत्यय (उणा० १. २८)। पृथु 'प्रथ' प्रख्याने धातु का रूप है, और 'पृथिवी' प्रथ विस्तारे का। पृषत—'प्रुष' सेचने के संप्रसारण रूप 'पृष' से 'अतच्' प्रत्यय (उणा. ३. १११)। पृषत=बिन्दु। कुणारु—'क्वण' शब्दे के संप्रसारण-रूप 'कुण' से बहुल द्वारा 'कारु' प्रत्यय (उणा० ३. ७६) कुणारु=शब्द करने वाला मेघ।

६. भाषा की क्रियायों तथा नाम-पदों का विचार

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते दमूनाः, क्षेत्रसाधाः इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णं, घृतम्, इति।

शब्दों के निर्वचन में छठी बात यह भी जाननी चाहिए कि लौकिक धातुओं से वैदिक कृदन्त प्रयोग कहे जाते हैं, जैसे दमूनस, क्षेत्र-साधस् इत्यादि; और वैदिक धातुओं से उष्ण, घृत इत्यादि लौकिक कृदन्त-शब्द सिद्ध किये जाते हैं।

दाम्यति, दमयति, दान्तः आदि में 'दम' उपशमे धातु का प्रयोग भाषा में बहुत अधिक पाया जाता है, उसी से 'ऊनसि' प्रत्यय करने पर वैदिक शब्द 'दमूनस्' सिद्ध होता है (उणा० ४. २३५) जिस का अर्थ 'दान्त' है। 'दमूनस्' का वेद-मंत्र निरुक्त के ४ अ० ५ शब्द में देखिए। इसी प्रकार क्षेत्रं साधयतीति क्षेत्रसाधाः में 'साध' धातु से 'असुन्' प्रत्यय है (उणा० ४. १८९)। साधस्—साधक। निम्न मंत्र में क्षेत्रसाधस् का प्रयोग है—

अग्निं वः पूर्व्यं गिरा देवमीळे वसूनाम्।

सपर्यन्तः पुरुप्रियं मित्रं न क्षेत्रसाधसम् ॥ ऋ० ८. ३१. १४

देवता-दम्पत्योराशिषः । (वः सपर्यन्तः) हे मित्र वरुण अर्यमा देवजनो ! आप की सेवा करते हुए हम गृहस्थी स्त्री पुरुष (पूर्व्यं, वसूनां देवं, पुरुप्रियं) सनातन, पितरों के पूज्य, सर्वप्रिय (मित्रं न क्षेत्रसाधसम्) और मित्र की न्याईं शरीर को साधन-संपन्न बनाने हारे, (अग्निं) अग्रणी परमेश्वर को (ईळे) पूजते हैं, और उस से शुभ-गुणों की प्रार्थना करते हैं । ईळे=स्तौमि, याचामि । वसु - वसून्वदन्ति वै पितॄन् (मनु० ३. २८४)

'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः' (यजु० १.७) । मैंने दुष्ट स्वभाव निश्चय कर के दग्ध कर दिये, और कृपणता आदि दुर्गुण नष्ट कर दिये हैं । यहां 'उष' दाहे का क्रिया-रूप 'प्रत्युष्ट' है । इसी वैदिक 'उष' धातु से 'नक्' प्रत्यय करने पर (उणा० ३. २) लोक में 'उष्ण' शब्द प्रसिद्ध हैं । एवं, 'जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन' (ऋ० २. १०.४) अग्नि को घृत रूपी हवि से प्रदीप्त करता हूं । यहां 'जिघर्मि' 'घृ' क्षरणदीप्तयोः का रूप है, उसी धातु से लोक में 'घृत' प्रसिद्ध है ।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि कई धातुयें क्रिया के रूप में लोक में जितनी प्रसिद्ध हैं, उतनी नाम के रूप में नहीं, और कई धातुयें नाम के रूप में जितनी प्रसिद्ध हैं, उतनी क्रिया के रूप में नहीं । अतः वेद में यदि उन धातुओं द्वारा निष्पन्न नाम-पद या क्रिया-पद दीख पड़ते हैं, तो भाषा में उनकी अप्रसिद्धि के कारण हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता, अतः हमें इस बात का विशेष ध्यान रखते हुए उनका निर्वचन करना चाहिए ।

७. भिन्न २ देश-भाषाओं से सहायता ।

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु । शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते । कम्बोजाः, कम्बलभोजाः, कमनीयभोजा वा । कम्बलः

कमनीयो भवति । विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु ।

७. कई देशों में प्रकृतियें ही बोली जाती हैं, और कईयों में विकृतियें। धातु का आख्यात-पद के रूप में जो प्रयोग होता है, वह प्रकृति कहाता है, क्योंकि 'सब नाम आख्यातज हैं' इस सिद्धान्त से आख्यात को पहले कारण बतला चुके हैं; और नाम के रूप में जो धातु का प्रयोग है वह विकृति है। गत्यर्थक **'शव'** धातु प्रकृति-रूप में कम्बोज देशों में ही बोली जाती है, और इसके विकृति रूप **'शव'** को आर्यावर्त में बोलते हैं। शव=गुजरा हुआ, अर्थात् मुर्दा। कम्बोज= (**क**) कम्बलभोज, अर्थात् कम्बलों से सब का पालन करने हारे। कम्बलभोज—कम्बोज। (**ख**) कमनीयभोज, अर्थात् उत्तमोत्तम पदार्थों के भोगने हारे। कमनीयभोज-कम्भोज-कम्बोज। उपर्युक्त दोनों निर्वचनों से पता लगता है कि यास्क के समय इन देशों के कम्बल बहुत प्रसिद्ध थे, और उनका व्यापार भी अधिक था। तथा यहां के लोग खाने पीने पहिनने आदि के उत्तमोत्तम पदार्थों का सेवन करते थे। कम्बल कमनीय होता है, सुन्दर होता है। **'कमु'** कान्तौ धातु से 'कल' प्रत्यय, और 'बुक्' का आगम (उणा० १.१०७)। काटने अर्थ में 'दा' के प्रकृति-रूप को प्राच्य देशों में बोलते हैं, और इसका विकृति रूप **'दात्र'** उत्तरीय देशों में बोला जाता है।

जब संसार की सब भाषाओं का आदि-स्रोत वैदिक-भाषा ही है, तब यदि हम भिन्न २ देश भाषाओं का परिज्ञान प्राप्त करलें तो अवश्यमेव वेदार्थ करने में हमें सहायता मिलेगी। हम जिस देश में रहते हैं संभव है वहां वैदिक भाषा के कई शब्दों का लोप होगया हो, और उन शब्दों का सत्यार्थ किसी अन्य देश-भाषा से

पता लगे। अतः यास्काचार्य ने अंतिम निर्वचन-प्रकार यह भी बतलाया है कि हम भिन्न २ देश-भाषाओं की सहायता लें। इसका उदाहरणों सहित अधिक स्पष्टीकरण लेखक द्वारा लिखित **'वेदार्थ करने की विधि'** पुस्तक में है।

एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् ॥ २॥

एवं, उपर्युक्त सात निर्वचन-प्रकारों की सहायता से अकेले पदों का निर्वचन करे।

तद्धित, तथा समस्त पदों की निर्वचन-रीति

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।

एक जोड़ वाले, या अनेक जोड़ों वाले (एक पद वाले, या अनेक पदों वाले) तद्धित और समस्त पदों में पहले को पहले, और पिछले को पीछे अलग २ करके निर्वचन करे। अर्थात्, पहले तद्धित और समास का निर्वचन करे, फिर उस के प्रत्येक पद का। उन पदों में भी पहले पहले पद का निर्वचन करे, फिर दूसरे का इत्यादि।

तद्धित के दो उदाहरण

दण्ड्यः पुरुषो दण्डमर्हतीति वा, दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः, 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते। दमनादित्यौपमन्यवो दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्। कक्ष्या=रज्जुरश्वस्य। कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः, ख्यातेर्वाऽनर्थको ऽभ्यासः, किमस्मिन् ख्यानमिति, कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः, बाहुमूलसामान्यादश्वस्य।

(१) दण्ड्यः पुरुषः=दण्डं अर्हतीति दण्ड्यः, अथवा दण्डेन सम्पद्यते इति दण्ड्यः—जो अपराधी पुरुष दण्ड के योग्य है, अथवा दण्ड से युक्त किया जाता है, उसे दण्ड्य कहते हैं। पाणिनि ने 'अर्हति'

अर्थ में दण्डादिभ्यो यत् (५.१.६६) से 'यत्' प्रत्यय करके 'दण्ड्य' की सिद्धि की है, 'संपद्यते' अर्थ में नहीं, परन्तु यास्क इस अर्थ में भी 'यत्' प्रत्यय मानता है। इस प्रकार तद्धित का निर्वचन करने के पश्चात् 'दण्ड' का निर्वचन करते हैं—'दण्ड' शब्द धारणार्थक 'दद' धातु से (उणा० १.११४) बहुल द्वारा 'ड' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। दण्ड द्वारा ही सारी प्रजा धारण की जाती है, बिना दण्ड के राष्ट्र का उच्छेद हो जावे। धारण अर्थ में 'दद' धातु के प्रयोग की पुष्टि के लिये यास्क **'अक्रूरो ददते मणिम्'** वचन किसी प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ का देते हैं। हरिवंश पुराण के ३४वें अध्याय से पता लगता है कि 'अक्रूर' राजा की माता गान्दिनी, तथा पिता श्वफल्क था। श्रीकृष्ण इस का पितृव्य था। गान्दिनी काशी के राजा की पुत्री थी। वह अक्रूर स्यमन्तक नामी अतिसुन्दर मणि को धारण करता था। औपन्यव निरुक्तकार मानता है कि इस के द्वारा दुष्टों का दमन करने से, इसे दण्ड कहते हैं। एवं, 'दम' धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर भी 'दण्ड' सिद्ध होता है। दण्ड शब्द दमनार्थक लोक में प्रायः प्रयुक्त होता है, जैसे 'दण्डं अस्य आकर्षत' इस अदान्त को दण्ड दो, तभी यह सीधा होगा—यह निन्दा में प्रयोग है।

(२) कक्ष्या=घोड़े का तंग। कक्षं सेवते इति कक्ष्या—सेवन अर्थ में 'यत्' प्रत्यय। पाणिनि ने शरीरावयवाच्च (४.३.५५) से 'भव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय किया है। एवं, तद्धित के निर्वचन के पश्चात् 'कक्ष' का निर्वचन करते हैं—(क) 'गाहू' विलोडने धातु से 'क्स' प्रत्यय। गाह् स—गह् स—कक्ष, कांखों के बल से स्त्री दधि बिलोड़ती है। (ख) 'ख्या' धातु से 'क्स' प्रत्यय, और स्वार्थ में द्वित्व; (पाणि० ७.४.६०) ह्रस्व : (७.४.५९) अभ्यासे चर्चः (८.४.५४) आतो लोप

इटि च (६.४.६४)-इन सूत्रों से रूप-सिद्धि। ख्यायते इति कक्षः, स्त्री के बगल-प्रदेश रति-क्रिया के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं। (ग) किम् अस्मिन् ख्यानम्=इस में क्या दर्शनीय है, अर्थात् कुछ नहीं। इस निर्वचन से ज्ञात होता है कि यास्क के समय भी स्त्रियें यदि बगलें खुली रखतीं, या दिखातीं थीं, तो यह असभ्यता का चिन्ह समझा जाता था, बगलों को ढांप के रखना चाहिए। किम् ख्यायते किंख्यः, 'क्स' प्रत्यय। किम् ख्य् स-कक्ष। (घ) अथवा 'कष' धातु से 'स' प्रत्यय (उणा० ३.६२) स्त्रियों की बगल में प्रायः खुजली होती है। स्त्री के 'कक्ष' की समानता से पुरुष की बगल को भी 'कक्ष' कहते हैं; और बाहु-मूल की समानता से घोड़े के अगले पैरों के मूल-स्थान को भी 'कक्ष' कहा जाता है। एवं, उपर्युक्त दण्ड्य, तथा कक्ष्या—दोनों तद्धित-पद एक पर्व वाले हैं। 'वार्ष्यायणि' तीन पर्वों वाला है, जो इस प्रकार है—वृषस्यापत्यं वार्ष्यः, वार्ष्यस्यापत्यं वार्ष्यायणः, वार्ष्यायणस्यापत्यं वार्ष्यायणिः। एवं वार्ष्यायणि 'वृष' का प्रपौत्र हुआ।

समास के तीन उदाहरण

(१) राज्ञःपुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"॥ इत्यपि निगमो भवति।

(१) **राजपुरुषः**-राजा का पुरुष। **राजन्**-'राजृ' दीप्तौ धातु से 'कनिन्' प्रत्यय (उणा० १.१५६)। पुरुष=(क) पुरिषाद-पुरिष-पुरुष। पुरि सीदतीति पुरिषादः-जीवात्मा शरीर में रहता है, और मनुष्य (पुर) नगर में निवास करता है। (ख) पुरिशय-पुरुष। यहां 'शयन' का आशय निवास करना ही है। (ग) अथवा, 'पूरी'

आप्यायने धातु से 'कुषन्' प्रत्यय (उण॰ ४. ७४) मनुष्य का पुरुषत्व इसी में है कि वह उन्नति करे। (घ) पूरयति अन्तः–यह निर्वचन अन्तर्यामी पुरुष को लक्ष्य में रख कर किया गया है। यहां 'पुरुष' शब्द पूरणार्थक 'पृ' धातु से सिद्ध किया गया है, जिसका अर्थ है पूर्ण व्यापक। इस निर्वचन की पुष्टि में यास्क ने किसी वैदिक–ग्रन्थ का 'यस्मात्परं' आदि प्रमाण दिया है। उसका अर्थ इस प्रकार है—जिस से पर, या अपर कोई नहीं–सृष्टि की आदि, और अन्त में एक-रस वही विद्यमान रहता है–जिस से सूक्ष्म, या महान् कोई पदार्थ नहीं, जो अचल तथा अद्वितीय है, और जैसे वृक्ष शाखा पत्र पुष्प आदिकों को धारण करता है, एवं जो सूर्य चन्द्र आदि जगत् को धारण करने वाला है, और जो सदा–प्रकाशमान आत्म–स्वरूप में स्थित रहता है, उस पूर्ण पुरुष से यह सब स्थावर जंगम जगत् व्याप्त है। इस प्रकार यह वचन 'पुरुष' शब्द के पूर्णार्थक होने में (निगमः) परम प्रमाण है। 'पुरुषेण पूर्णं' से स्पष्ट पता लगता है कि पुरुष शब्द पूर्ण–वाची है।

(२) विश्वकद्राकर्षः। वीति, चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना, कद्रातीति द्रातिकुत्सना, चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः।

(२) **विश्चकद्राकर्ष**—वि, और चकद्र, कुत्ते की गति में बोले जाते हैं। 'द्रा' धातु कुत्सित गति में प्रयुक्त होती है, अतः 'कद्र' शब्द का अर्थ हुआ अत्यन्त कुत्सित गति। चकद्र' में 'क' का द्वित्व स्वार्थ में हुआ है, ककद्र–चकद्र,। अतः '**चकद्र**' का अर्थ भी अत्यन्त कुत्सित गति हुआ। वि च तत् चकद्रं च विचकद्रं–विश्चकद्रं–अर्थात् कुत्ते की गति। यद्यपि सुट् कात्पूर्वः (६. १. १३५–१५७) आदि

प्रकरण में पाणिनि ने 'विचकद्र' में 'सुट्' का आगम नहीं किया, परन्तु यास्क यहां सुडागम करते हैं। तद् विश्वकद्रं अस्मिन् अस्तीति विश्वकद्रः-वह कुत्ते की गति जिस मनुष्य में विद्यमान हो वह विश्वकद्र कहलायेगा। अर्थात्, जिस मनुष्य में खुशामद, चापलूसी, दर दर भीख मांगना आदि निन्दित चालें वर्तमान हों, उसे विश्चकद्र कहेंगे। 'विश्चकद्र' में 'मतुप्' अर्थ में 'अच्' प्रत्यय (पाणि०५.२.१२७)। ऐसे पतित मनुष्य को अपराधी समझ कर जो राज-पुरुष खींच लेजावे, उस को 'विश्चकद्राकर्ष' कहेंगे।

३. कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः।

(३) '**कल्याणवर्णरूप**' यह तीसरा समस्त पद है। इसका समास है, कल्याणवर्णस्य इव अस्य रूपम्, अर्थात् सुवर्ण के वर्ण की न्याईं रूप वाला। 'कल्याण' सुवर्ण-वाची है। 'कल्याण' उसे कहते हैं जो कमनीय हो-सुन्दर हो। वर्ण-आच्छादनार्थक 'वृञ्' धातु से 'न' प्रत्यय (उणा० ३.१०)। वृणोतीति वर्णः, रंग किसी वस्तु को आच्छादन किये हुआ रहता है। रूप-'रुच' दीप्तौ धातु से 'प' प्रत्यय (उणा० ३.२८)। रूप सदा प्रकाशित रहता है, उसके बिना कोई वस्तु दीख ही नहीं सकती।

एवं तद्धितसमासान्निब्रूयात्। नैकपदानि निब्रूयात्॥ ३॥

इस प्रकार तद्धित तथा समासों का निर्वचन करे। अकेले पदों का निर्वचन न करे। प्रकरण के बिना अकेले पद का निर्वचन करने से प्रायः अर्थ में भ्रान्ति हो जाती है, और हमारा निर्वचन अशुद्ध भासता है। अतः बिना प्रकरण देखे कभी किसी पद का निर्वचन न करना चाहिये।

निरुक्त पढ़ने के अधिकारी

नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा, नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया, उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्, यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्, मेधाविने, तपस्विने वा।

निरुक्त-शास्त्र का उपदेश न उसके लिये करे जो व्याकरण नहीं जानता, न उस के लिये जो शिष्य-भाव से प्राप्त नहीं हुआ, और न उसके लिये जो कि निरुक्त-शास्त्र को समझ नहीं सकता, क्यों कि न समझने वाले की विज्ञान में सदा निन्दा रहती है। जो मनुष्य किसी विज्ञान को समझ नहीं सकता उसे सदा उस विज्ञान में दोष ही दोष दीखते हैं, और वह उसकी निन्दा करता रहता है। अतः, जो विद्यार्थी निरुक्त के विज्ञान को नहीं समझता, उसे निरुक्त पढ़ाने से कोई लाभ नहीं। **परन्तु जो शिष्य-भाव से पास आया हो, जो समझने में समर्थ हो, जो मेधा-संपन्न हो, और जो तपस्वी हो, उसे ही निरुक्त का उपदेश करे।**

प्रस्तुत विषय में यास्काचार्य किसी प्राचीन ग्रन्थ के श्लोक उद्धृत करते हैं—

१. विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

२. य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥

३. अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

४. यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्॥
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ इति निधिः शेवधिरिति॥ ४॥

१. विद्या ब्राह्मण के पास आई, और बोली—हे ब्राह्मण! तु

मेरी रक्षा कर, मैं तेरे सुख का खजाना हूं। तू असूयक, कुटिल, तथा अजितेन्द्रिय विद्यार्थी को मेरा उपदेश मत कर, तब मैं तेरे लिये वीर्यशालिनी होऊँगी।

२. जो गुरु सत्य-वेद-ज्ञान-के द्वारा बन्द कानों को खोल देता है, जिन के खोलने से दुःख के स्थान पर सुख की प्राप्ति होती है, और मोक्ष को दिलाने हारा ज्ञान उपलब्ध होता है, उस गुरु को शिष्य पिता और माता समझे, और किसी भी अवस्था में उस से द्रोह न करे।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ २.१४६॥

इस श्लोक में मनु ने भी ब्रह्म-ज्ञान के देने हारे को पिता कहा है, और उसे उत्पादक पिता से बड़ा ठहराया है।

३. जो शिष्य पढ़ लिख कर विद्वान् होके मन, वचन, तथा कर्म से अपने गुरु का आदर नहीं करते, जैसे वे गुरु के कृपा-पात्र नहीं बनते, उसी प्रकार वह शिक्षा भी उन शिष्यों का पालन नहीं करती।

४. हे ब्राह्मण! जिस को तू शुद्धान्तःकरण, व्रतों के पालने में अप्रमादी, मेधा-संपन्न, तथा ब्रह्मचर्य से युक्त समझे, और जो तेरे से कभी भी द्रोह न करे, उस सुख-निधि के रक्षक शिष्य को मेरा उपदेश कर। निधि=शेवधि=सुख का खजाना। शेव=शिव। इसी भाव को मनु ने २.११४, ११५ में इस प्रकार कहा है—

१. विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥
२. यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मा ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥

इन श्लोकों पर कुल्लूकभट्ट की टीका देखने से ज्ञात होता है कि संभवतः यास्क द्वारा उद्धृत श्लोक छान्दोग्य-ब्राह्मण के हैं।

नैघण्टुक-काण्ड

* द्वितीयपाद *

अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

अब अनुपूर्वी से—क्रमशः-निघण्टु की व्याख्या करेंगे ।

१. 'गो' शब्द की व्याख्या

(१) गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्द् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गातेर्वौकारो नामकरणः । (२) अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव । (३) अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति—'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति पयसः । मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः । मत्सर इति लोभनाम, अभिमत्त एनेन धनं भवति । पयः पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा । क्षीरं क्षरतेः, घसेर्वेरो नामकरणः, उशीरमिति यथा ।

(१) 'गो' यह पृथिवी का नाम है (क) यतः, सूर्य से दूर दूर गति करती है—दूरं गच्छतीति गौः । (ख) यद्वा, इस में सब प्राणी गति करते हैं—अस्यां भूतानि गच्छन्ति । यत् च=यद्वा । उपर्युक्त दोनों निर्वचनों में 'गम्' धातु से कर्ता, और अधिकरण कारक में 'डो' प्रत्यय (उणा० २.६७) । (ग) अथवा, 'गाङ्' गतौ धातु से ओकारान्त 'डो' प्रत्यय ।

(२) उपर्युक्त दोनों कारकों, तथा दोनों धातुओं से **गाय-वाचा** 'गो' शब्द भी सिद्ध होता है । गाय स्वेच्छया विचरती है, और इसी गाय के रहते हुए मनुष्य गति करते हैं—पुरुषार्थ करते हैं । मनुष्यों की जीवनाधार गाय है ।

(३) इस 'गो' पद में तद्धित प्रत्यय से पूरे शब्द की न्याईं प्रयोग होते हैं। अर्थात्, जो तद्धित प्रत्यय करने से अर्थ होता है, वह बिना प्रत्यय किये ही केवल 'गो' शब्द से द्योतित हो जाता है। एवं, गाय से उत्पन्न वस्तु को भी 'गो' नाम से कहेगें। जैसे निम्न-लिखित (ऋ० ६.४६.४) मंत्र में 'गो' का अर्थ **दूध** है—

आधावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना। गोभिः श्रीणीत मत्सरं॥

देवता-सोमः पवमानः। (सुहस्त्यः ! आधावत) सिद्धहस्त मनुष्यो ! फुर्ती, तथा पवित्रता पैदा करो। वे कैसे पैदा होगी-इस का उत्तर आगे इस प्रकार देते हैं-(गोभिः मत्सरं श्रीणीत) गो-दुग्ध के साथ सोम-रस को पकायो, (मन्थिना शुक्रा गृभ्णीत) और फिर मन्थनी से घृत निकाल कर ग्रहण करो, अर्थात् उसका सेवन करो।

मत्सर=सोम, तृप्त्यर्थक 'मदि' धातु से 'सरन्, प्रत्यय (उणा० ३. ७३) सोम-रस के सेवन से तृप्ति होती है। 'मत्सर' लोभ अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, एनेन धनं प्रति अभिमत्तः भवति=इस से मनुष्य धन के लिये उन्मत्त रहता है। 'मदी' हर्षे धातु से करण-कारक में 'सरन्' प्रत्यय। पयस=दूध। (क) पीयते यत् तत् पयः=जो पीया जावे, 'पा' धातु से 'असुन्' और 'आ' को 'ए' (उणा० ४.१९०)। (ख) आप्यायन्ते वर्धन्ते जनाः येन तत् पयः-जिस के सेवन से मनुष्य पुष्ट होते हैं। 'प्यायी' धातु से 'असुन्'। प्याय् अस्-पयस्। क्षीर=दूध, यह स्तन से झरता (छरता) है। 'क्षर' धातु से 'अक्' प्रत्यय, और ईकारादेश (उणा० २. २३)। अथवा, भक्षणार्थक 'घस् धातु से 'ईरन्' प्रत्यय और किद्भाव (उणा० ४. ३४) जैसे, 'वश' धातु से 'ईरन्' तथा किद्भाव करके 'उशीर' शब्द सिद्ध किया जाता है। दूध भक्ष्य पदार्थ है, अभक्ष्य नहीं। 'उशीर' खस को कहते

हैं, जो ठंडक पहुंचाने वाला, तथा सुगन्धि-युक्त होता है। इसकी प्रायः गर्मियों में टट्टियें बनाई जाती हैं। कमनीय होने के कारण उसे उशीर कहा गया है।

(४) "अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि" इत्यधिषवण-चर्मणः। अंशुः शमष्टमात्रो भवति, अननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वा, उच्चृतं भवतीति, वा। (५) अथापि चर्म च श्लेष्मा च "गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व" इति रथस्तुतौ। (६) अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता" इतीषुस्तुतौ ॥ १। ५ ॥

(४) 'गो' शब्द **अधिषवण-चर्म**, अर्थात् सोम-रस को निचोड़ कर रखने के लिये गो-चर्म निर्मित पात्र के लिये भी प्रयुक्त होता है। उसका प्रयोग निम्नलिखित मंत्र में है—

ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते ॥ १०.९४.९

देवता—ग्रावाणः। पहिले मंत्र में 'ते' के साथ 'अद्रयः' का प्रयोग है, अतः वह ही यहां आकृष्ट होगा। 'अद्रयः' का विशेषण 'सोमादः' है जिस का अर्थ सोम-भक्षक होता है, अतः 'अद्रय' का निर्वचन अदन्ति इति अद्रयः-ऐसा किया जावेगा। अब मंत्र का अर्थ देखिये—(ते सोमादः) वे सोम-पान करने वाले भक्षक सैनिक मनुष्य (इन्द्रस्य हरी निंसते) राजा की भ्याई बल वीर्य को प्राप्त करते हैं। सोम-रस-पान किस विधि से किया जावे, उसका उत्तर यह है—(अंशुं) जीवन के लिये मंगलकारी सोम-रस (गवि दुहन्तः) गो-चर्म-पात्र में निचोड़ते हुए (अध्यासते) जब स्थित होते हैं, (इन्द्रः तेभिः सोम्यं मधु दुग्धं पपिवान्) और राजा उन सैनिकों के

के साथ सोम-मिश्रित मधुर दुग्ध को पीता है,(वर्धते, प्रथते, वृषायते) तब वह राजा तथा सैनिक-पुरुष वृद्धि को प्राप्त होते हैं-उन का भार बढ़ता है, फैलते हैं-उनके शरीर फैलते, और सुडौल बनते हैं, तथा वीर्य शाली होते हैं ।

अंशु=सोम--रस । यह (अष्टमात्रः शं भवति) शरीर के अन्दर व्याप्त होने पर शान्ति-प्रद होता है । 'शं' पूर्वक 'अशूङ्' व्याप्तौ धातु से बहुल द्वारा 'उ' प्रत्यय और डिद्भाव (उणा.१.३३) शं अश् उ-अंश् अश् उ-अंशश् उ-अंशु, 'श्, अं' का आद्यन्त-विपर्यय । अथवा, सोम-रस (अननाय शं भवति) दीर्घ जीवन के लिये कल्याणकारी होता है । अन् शम्—अंशम्—अंशु । चर्मन्=चमड़ा, गत्यर्थक 'चर' धातु से 'मानिन्' (उणा० ४.१४५) । चर्म के कारण शरीर में गति होती है । अथवा, 'चृती' हिंसायाम् से 'मनिन्' चृत् मन्-चृमन्-चर्मन् । चमड़ा (उच्चृतं भवति) नोचा जाता है ।

(५) **चर्म और सरेस** को भी 'गो' कहते हैं । जैसे, रथ-देवता क **गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व**' मंत्र में 'गो' शब्द प्रयुक्त है । मंत्र की व्याख्या ९अ.२पा० में देखिये ।

(६) **ताँत और सरेस** भी गो-वाची है । जैसे, '**गोभिः सन्नद्धा पततिप्रसूता**'—यहां इषु-देवता के मंत्र में 'गो' का प्रयोग है । मंत्र की व्याख्या ६अ०२पा० में देखिये ।

(७) ज्यापि गौरुच्यते । गव्या चेत्ताद्धितम्, अथ चेन्न गव्या गमयतीषून्—इति । 'वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्गौस्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः' वृक्षे वृक्षे=धनुषि धनुषि । वृक्षो व्रश्चनात्, वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा । क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः । नियता अमीमयद् गौः शब्दं करोति । मीमयतिः शब्दकर्मा । ततो वयः

प्रपतन्ति पुरुषान् अदनाय। विरिति शकुनिनाम, वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव।

(७) **धनुष की ज्या** को भी 'गो' कहा जाता है। यदि वह गाय की ताँत से निर्मित है, तब तो 'गो' उपर्युक्त नियम के अनुसार ताद्धित है, और यदि गव्य नहीं, तब 'गमयति इषून्' निर्वचन से 'गो' की सिद्धि होगी। ज्या बाणों को चलाती है। गम् णिच् डो–गो। ज्या–वाची 'गो' शब्द निम्न लिखित मंत्र में है—

वृक्षे वृक्षे नियताभीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान्पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत॥१०.२७.२२

देवता–इन्द्रः। (वृक्षे वृक्षे नियता गौः अमीमयत्) संग्राम में जब धनुष धनुष पर चढ़ाई हुई ज्या खींचने पर शब्द करती है, (पूरुषादः वयः प्रपतान्) और उससे शत्रु–पुरुषों का संहार करने वाले बाण पक्षियों की न्याई उड़ते हैं, (अथ इदं विश्वं भुवनं भयाते) उस समय यह संपूर्ण शत्रु–वर्ग भयभीत हो जाता है, (ऋषये इन्द्राय सुन्वत्, च शिक्षत्) और उस वेद–वेत्ता राजा का अभिषेक करता है, तथा उसे कर देता है।

वृक्ष-(क) छेदनार्थक 'व्रश्च' धातु से 'स' प्रत्यय, और किद्भाव (उणा.३. ६६)। व्रश्च् स–वृच् स- वृक्ष। धनुष शत्रु का छेदन करता है। (ख) अथवा 'वृत्वा क्षां तिष्ठति' का संक्षिप्त रूप 'वृक्ष' है। धनुष राष्ट्र–भूमि को वरण करके स्थित होता है। इसी के सहारे राज्य सुरक्षित रहता है। धातुपाठ में 'वृक्ष' वरणे धातु पठित है, उस से भी 'वृक्ष' की सिद्धि की जा सकती है। क्षा=पृथिवी, निवासार्थक 'क्षि' धातु से 'ड' प्रत्यय। 'मिमृ' शब्दे च धातु भ्वादिगणी है, परन्तु 'मीमयतिः शब्दकर्मा' कहते हुए यास्क नें चुरादिगणी मानी

है। 'वि' यह पक्षी का वाचक है, गत्यर्थक 'वी' धातु से 'इण्' और डिद्भाव (उणा० ४. १३४)। इस मंत्र में 'वि' इषु-वाची है। वह भी इसी 'वी' धातु का रूप है, यतः इषु चलाया जाता है।

(८) आदित्योऽपि गौरुच्यते। 'उतादः परुषे गवि'। पर्ववति, भास्वतीत्यौपमन्यवः। (६) अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति "सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते। 'अत्राह गोरमन्वत' इति, तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः॥ २। ६॥

(८) आदित्य को भी 'गो' कहते हैं, जैसे निम्नलिखित मंत्र में है—

उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथीतमः॥ ६.५६.३

देवता-पूषा। (उत सूरः रथीतमः) और, सर्व-प्रेरक, तथा रथिक-श्रेष्ठ—जिसके सूर्य चन्द्र आदि सब लोक रथ हैं— वह पोषक परमात्मा (अदः परुषे गवि) उस सुदूरवर्ती, अहोरात्रादि पर्वों वाले, या प्रकाशमान सूर्य में (हिरण्ययं चक्रं) सुवर्ण—समान चमकीले चक्र को (नि ऐरयत्) नियम से चला रहा है।

परुष—बहुल द्वारा 'पर्वन्' से 'मतुप्' अर्थ में 'उषच्' प्रत्यय, और 'वन्' का लोप। औपमन्यव आचार्य 'पर्व' धातु को भासनार्थक मानकर 'पर्वन्' से 'मतुप्' प्रत्यय करता है। एवं, इस पक्ष में 'परुष' का अर्थ 'भास्वान्' होगा।

(६) किंच, इस सूर्य की एक रश्मि चन्द्रमा में जाकर प्रकाशित होती है। अतः, वेदार्थ करने वाले को यह जान लेना चाहिए कि इस चन्द्रमा की दीप्ति आदित्य से होती है। इस के लिये निम्नलिखित (यजु०१८. ४०) मंत्र प्रमाण है—

सुषुम्णःसूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम। स न इद ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥

देवता-चन्द्रमाः। उत्तम सुख देने हारी 'सुषुम्ण' नामक सूर्य रश्मि है, चन्द्रमा उस रश्मि का धारण करने वाला 'गन्धर्व' है। उस चन्द्रमा से संबन्ध रखने वाले नक्षत्र अन्तरिक्ष में घूमने के कारण 'अप्सरस्' हैं, जो प्रकाश-कर्ता होने से 'भेकुरि' नामक हैं। वह चन्द्रमा हमारे इस ब्रह्म-तेज, तथा क्षत्र-तेज की रक्षा करे। (वाट्) अपने कार्यों को चलाने के लिये (तस्मै स्वाहा) हम उस चन्द्रमा का यथार्थ-ज्ञान उपलब्ध करें (ताभ्यः स्वाहा) और उन 'अप्सरा' नक्षत्रों का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें।

उपर्युक्त मंत्र से स्पष्ट है कि चन्द्रमा सूर्य की 'सुषुम्ण' रश्मि के द्वारा प्रकाशित होता, स्वयं प्रकाशमान नहीं। साथ ही चन्द्रमा को जो 'गन्धर्व कहा गया, उससे यह भी पूर्णतया ज्ञात होगया कि सूर्य की सुषुम्ण रश्मि का नाम 'गो' है, उसको धारण करने से चन्द्रमा 'गन्धर्व' हुआ। 'गो' सुषुम्ण रश्मि के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, इसके लिये यास्काचार्य '**अत्राह गोरमन्वत**' आदि एक दूसरा मंत्र और प्रस्तुत करते हैं। उस की व्याख्या आगे ४ अ०५४ श० में करेंगे।

१०. सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥ १.१५४.६

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय, यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गाः। भूरीति बहुनो नामधेयं, प्रभवतीति सतः। शृङ्गं श्रयतेर्वा, शृणातेर्वा, शरणायोद्गतमिति वा, शिरसो निर्गतमिति वा। अयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्द्ध्य-

स्थम् अवभाति भूरि । पादः पद्यतेः, तन्निधानात्पदं, पशुपाद प्रकृतिः प्रभागपादः, प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि ।

(१०) **सूर्य की सब रश्मियों** को भी 'गो' कहते हैं। जैसे, **'ता वां वास्तूनि'** आदि मंत्र में प्रयुक्त है। मंत्र का देवता 'विष्णु' है। उस मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

(ता वास्तूनि वां गमध्यै उश्मसि) हे दम्पतीयुगल ! हम उन घरों को तुम्हारे विचरने के लिए चाहते हैं, (यत्र भूरिशृङ्गाः, गावः अयासः) जहां सींगों की न्याईं बहुत तीक्ष्ण धूप और प्रकाश वाली सूर्य-किरणों का सञ्चार हो। (ह अत्र उरुगायस्य वृष्णः) ऐसे ही स्थानों में सब को गति देने हारे, सुख-वर्षक व्यापक परमात्मा का (तत् परमं पदं) वह परम पद, जोकि परम समृद्धि में स्थित है, (भूरि अवभाति) बहुत प्रकाशित होता है। एवं, इस मंत्र से जतलाया गया कि मनुष्यों को रहने के लिये ऐसे मकान बनवाने चाहियें, जिन में सूर्य की धूप तथा रोशनी का पर्याप्त मात्रा में सञ्चार हो। ऐसे मकानों में रह कर ही हम परमात्मा की उपासना कर सकते हैं।

'भूरि' यह बहुत का वाचक है। प्रभवतीति भूरि—इस प्रकार (सतः) कर्तृ-कारक से सिद्ध होता है। बहुत पदार्थ सामर्थ्यवान् होता है। 'भू' धातु से 'क्रिन्' (उणा० ४. ६५)। **एवं, ऐसे स्थलों में यहां यहां 'सतः' प्रयोग हो, सर्वत्र उसका अर्थ 'कर्तृकारकात्' समझना चाहिए।** शृङ्ग—(क) 'श्रिञ् सेवायाम् धातु से 'गन्' प्रत्यय, नुट् का आगम, तथा किद्भाव (उणा० १. १२६) यह सिर के आश्रित रहता है। (ख) 'शॄ' हिंसायाम् से पूर्ववत् रूप-सिद्धि। सींग से दूसरों को मारा जाता है। (ग) वध अर्थ में निघण्टु-पठित 'शम्' धातु से 'गन्' प्रत्यय। शम् ग शंग-शृङ्ग। (घ) शरणाय उद्गतम्=रक्षा के

लिये ऊपर उठा हुआ है, शृ गम्- शृम्ग शृंग। (ङ) अथवा, शिरसः निर्गतम्—सिर से निकला हुआ है। शिरस् गम्-शृङ्ग। अयासः=अयाः=अयनाः। उरुगायस्य=महागतेः। पाद=पैर, पद्यते अनेन=जिससे चला जावे वह पाद, 'पद' धातु से 'घञ्'। तन्निधानात् पदम्=पाद यहां रक्खे जावें वह पद, अर्थात् स्थान; अथवा, पैर के रखने से जो पाद-चिन्ह पड़ जाता है उसे भी पद कहेगें। पशुओं के चार पैरों के कारण सिक्के के चौथे हिस्से को 'पाद' कहते हैं। और सिक्के के चतुर्थांश की समानता से अन्य श्लोक, मंत्र, क्षेत्र आदि के चतुर्थांश को 'पद' कहते हैं। पद, चरण आदि शब्द पाद-वाची हैं, अतः यहां मंत्रादिकों के चतुर्थांश को 'पद' कहा है।

एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते, तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि ॥ ३ । ७ ॥

एवं, अन्य पदार्थों के नामों में भी सन्देह हैं। वे नाम यदि समान कर्मों वाले हों तो समान निर्वचन, और यदि अनेक कर्मों वाले हों तो अनेक निर्वचन कर लेने चाहियें। अर्थात् अर्थ के अनुसार इस 'गो' शब्द की न्याई उन के निर्वचन करलें।

यास्काचार्य ने 'गो' शब्द के १० अर्थ यहां बतलाये हैं। पाठक इस से यह न समझ लें कि बस इतने ही 'गो' शब्द के अर्थ हैं अन्य नहीं। यह तो केवल दिग्दर्शन कराया गया है। इसी प्रकार वेदों में 'गो' के अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। स्पष्टीकरणार्थ हम यहां पर कुछ एक अन्य अर्थों का उल्लेख कर देते हैं जिनको कि आचार्य ने स्वयं आगे स्थान २ पर दर्शाया है। वे इस प्रकार हैं—

(क) मेघ की गर्जना-२.९ (ख) द्युलोक-२.१४ (ग) विद्युत्-

६.२ (घ) वाणी–निघ० १.११ (ङ) स्तोता–वेदवेत्ता–निघ० ३.१६

इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि । तत्र निर्ऋतिः, निरमणात् । ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा । सा पृथिव्या सन्दिह्यते । तयोर्विभागः । तस्या एषा भवति—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥ १.१६४.३२

बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः । वर्षकर्मेति नैरुक्ताः । य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा । न सो अस्य वेद-मध्यमः, स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योपहितम् । स मातुर्योनौ–माताऽन्तरिक्षं, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि । योनिरन्तरिक्षं, महानवयवः । परिवीतो वायुना । अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव, परियुतो भवति । बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा ॥ ४ । ८॥

ये २१ पृथिवी के नाम क्रमशः पठित हैं । उन में 'निर्ऋति' 'नि' पूर्वक 'रम्' धातु से बनता है, यतः पृथिवी में प्राणी निरन्तर रमण करते हैं–सुख भोगते हैं। निर् रम् क्तिन्–निर ऋम् ति–निर्ऋति । 'ऋच्छ' धातु से 'निर्ऋति' **कष्ट-प्राप्ति** के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निर् ऋच्छ् ति–निर्ऋति । वह कष्टार्थक 'निर्ऋति' पृथिवी–वाची 'निर्ऋति' से संदिग्ध है। प्रकरणानुसार उन का भेद समझ लेना चाहिए। 'य ईं चकार' आदि मंत्र में 'निर्ऋति' के दोनों अर्थ पाये जाते हैं। मंत्र का देवता 'विश्वेदेव' है । परिव्राजक लोग मंत्र का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं, और नैरुक्त आधिदैवत। दोनों अर्थ क्रमशः इसप्रकार हैं—

आध्यात्मिक अर्थ—(यः ईम् चकार) जो मनुष्य वीर्य–सेचन करता है, (सः अस्य न वेद) वह इस गर्भ के तत्त्व को नहीं जानता। (यः ईम् ददर्श) और, जो सर्व–व्यापी परमात्मा गर्भ–तत्त्व

Surinder Kumar Gaur Shastri M.A (Pre)

का साक्षात्कार करता है, (तस्मात् हिरुक् इत् नु) वह निश्चय करके उस जन्म-मरण के प्रवाह से पृथक् ही है । (सः मातुः योना अन्तः परिवीतः) वह गर्भस्थ जीव माता की योनि के अन्दर जरायु आदि से परिवेष्टित हुआ २ (बहुप्रजाः) अनेक जन्म जन्मान्तरों को धारण करके (निर्ऋतिं आविवेश) दुःख को प्राप्त करता है । अतः गर्भ-वास, तथा जन्म मरण के दुःखों को देख कर परमात्मा का ज्ञान उपलब्ध करना चाहिए जिससे कि दुःख से मुक्त हो सकें ।
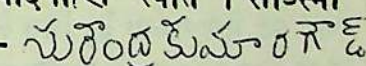
'ईम्' उदक-वाची निघण्टु-पठित है, अतः द्रव-रूप होने से यहां उसका अर्थ वीर्य किया जाता है ।

आधिदैवत अर्थ—(यः ईम् चकार) जो विद्युत् वृष्टि-जल बरसाता है, (सः अस्य न वेद) वह इस वृष्टि के तत्त्व को नहीं जानता । (यः ईम् ददर्श) और जो सर्व-व्यापी परमेश्वर वृष्टि-तत्व को जानता है, (तस्मात् हिरुक् इत् नु) वह निश्चय करके उस मेघ-माला के अन्दर ही विद्यमान है । (सः मातुः योना अन्तः परिवीतः) वह मेघ अन्तरिक्ष-प्रदेश में वायु से परिवेष्टित हुआ २ (बहुप्रजाः) अनेक प्रकार की ओषधि वनस्पतियों को पैदा करने हारा (निर्ऋतिं आविवेश) वृष्टि-रूप में पृथिवी पर आ गिरता है ।

'हिरुक्' अव्यय पृथक्, तथा अन्तर्हित-दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है, अतः प्रस्तुत मंत्र में दोनों अर्थ किये गये हैं । द्वितीय अर्थ में 'तस्मात्' का अर्थ 'तस्य' है । चकार—'कृञ्' करणे, तथा 'कृ' विक्षेपे—इन दोनों धातुओं का अर्थ पूर्वोक्त मंत्र में संगठित हो सकता है, अर्थात् वृष्टि का करना, या वृष्टि का फैंकना । 'न सो अस्य वेद-मध्यमः' यहां 'मध्यम' का अर्थ गर्भस्थ जीव, या अन्तरिक्ष-स्थानीय विद्युत् है । और 'स एवास्य वेद मध्यमः'—यहां 'मध्यम' का अर्थ

अन्तर्यामी परमेश्वर है। यः ददर्श आदित्योपहितम्=जो अन्तर्यामी आदित्य में उपहित वृष्टि को, अर्थात् सूर्य-द्वारा वृष्टि किस प्रकार होती है-इसे पूर्णतया जानता है। माता=अन्तरिक्ष, यतः इसी में सब जगत् का निर्माण होता है। 'मा' धातु से 'तृच्' प्रत्यय (उणा० २.९५) योनि=अन्तरिक्ष। महान् अवयवैः, यहां योनि का अर्थ 'एकदेश' अभिप्रेत है। अन्तरिक्ष वायु से संयुत होता है। 'यु' धातु से 'नित्' प्रत्यय (उणा० ४.५१)। यह स्त्री-योनि वाचक दूसरा 'योनि' शब्द भी इसी 'यु' धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि स्त्री-योनि स्नायु और चर्म से युक्त होती है।

देवता-परिज्ञान बड़ा दुष्कर है।

शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे, सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव, तान्न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। साऽस्मा एतामृचमादिदेश, एषा मद्देवतेति—

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत। १.१६४.२९

अयं स शब्दायते, येन गौरभीप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति। मायुमिवादित्यमिति वा। वागेषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघे ऽधिश्रिता सा चित्तिभिर्कर्मभिः नीचैर्निकरोति मर्त्यं। विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिं। वव्रिरिति रूपनाम, वृणोतीति सतः। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते॥ ५। ९॥

अब संदेह के प्रकरण से यास्काचार्य प्रसंग-वश इस अत्यावश्यक विषय पर भी विचार करते हैं कि मंत्रों का अर्थ करना सरल कार्य नहीं। कहीं २ वेद-मंत्र ऐसे संदिग्ध, तथा क्लिष्ट आ जाते हैं

कि उनका भाव समझने में बड़े २ विद्वान् भी चूक जाते हैं । वेद-मंत्रों के देवताओं का यदि हमें ठीक २ परिज्ञान होजावे, तो अर्थ करना सरल हो जाता है । परन्तु सब से कठिन इसी का परिज्ञान है—इसे आख्यायिका के रूप से आचार्य इस प्रकार समझाते हैं—

'शाकपूणि' निरुक्तकार ने संकल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूं । उसके आगे एक ऐसी देवता प्रादुर्भूत हुई, जो उभय-लिंगा थी—दो रूपों वाली थी । शाकपूणि उस को न समझ सका । उस ने उस देवता से पूछा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूं कि तुम्हारा क्या स्वरूप है । उसने शाकपूणि को 'अयं स शिङ्क्ते' आदि ऋचा बतलाई, और कहा कि यह ऋचा मुझ देवता वाली है, इस से मेरा स्वरूप ज्ञात होजावेगा । उस मंत्र का देवता 'विश्वेदेव' है । अब मंत्र का अर्थ देखिए—(अयं सः शिङ्क्ते, येन गौः अभीवृता) यह वह मेघ गर्जता है, जिस से कि स्तनयित्नु की वर्तमानता है । (ध्वसनौ अधिश्रिता मायुं मिमाति) स्तनयित्नु मेघ में आश्रित हुआ २ शब्द करता है—गर्जता है । (सा चित्तिभिः मर्त्यं हि निचकार) वह स्तनयित्नु अपने गर्जन-कर्मों से मनुष्य को नीचे करता है—डर के कारण नीचे झुका देता है । (विद्युत् भवन्ती वव्रिं प्रत्यौहत) और फिर विद्युत् के रूप में होता हुआ वर्षा से पृथिवी को अच्छादन करके अपने स्तनयित्नु तथा विद्युत् रूप को हटा लेता है ।

मंत्र का आशय यह है कि विद्युत् के दो रूप हैं—एक, स्तनयित्नु-रूप, जो गर्जता है, और दूसरा, विद्युत्-रूप, जो प्रकाश करता है । मेघवर्ती विद्युत् **क्रमशः** अपने इन दोनों रूपों को दर्शा कर और वृष्टि करके अपने रूप को पुनः छिपा लेती है, अन्तर्धान हो जाती है । इस प्रकार यदि हम विद्युत् के उपर्युक्त दोनों स्वरूपों को

समझ लें, तभी वेदार्थ-ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मायु=शब्द। 'मायु' का दूसरा अर्थ 'आदित्य' भी है।-इस पक्ष में लुप्तोपमा मान कर 'मायुं मिमाति' का अर्थ यह होगा कि मेघ में आश्रित विद्युत् आदित्य-की न्याई प्रकाश करती है। एषा माध्यमिका वाक्=यह मध्यस्थानीय विद्युत्। ध्वसनौ=ध्वंसने=मेघे। चित्ति=कर्म। वव्रि=रूप, 'वृञ्' वरणे से 'क्रि' तथा लिड्वत्। (पाणि० ३.२.१७१)। रूप पदार्थ का आवरण करता है॥५।६॥

* तृतीय पाद *

२. हिरण्य की निरुक्ति

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। हिरण्यं कस्मात्? ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा, हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।

निघण्टु में अगले **१५** नाम **हिरण्य** के हैं। हिरण्य-(**क**) ह्रियते आयम्यमानं–लम्बा किया हुआ खींचा जाता है, सुनार लोग सुवर्ण के लम्बे तथा पतले तार या पत्र खींचते हैं। ह्रियते आयम्यमानं–हृ अम्य—हिर् अम्य—हिरण्य। (**ख**) ह्रियते जनात् जनं। हृ जन—हिर् अनज्—हिरञ्ज—हिरण्य, एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास जाता है। इस निर्वचन से ज्ञात होता है कि यहां मुख्यतया 'हिरण्य' सुवर्ण के सिक्के के लिये अभिप्रेत है, क्योंकि वह ही बार बार अनेक मनुष्यों के पास जाता है। (**ग**) हितरमणं भवति। हितरमणीय—हि रम् य–हिरण्य। 'रमणीय' अर्थ में 'रण्य' का प्रयोग निरु० ६.६.१२८ में आया है। सुवर्ण बड़े २ रोगों में अत्यन्त हितकारी है, और बच्चे को भी सुन्दर लगता है। (**घ**) हृदयरमणं

भवति । हृदय रमणीय-हृ रण्य-हिरण्य । सुवर्ण दिल को बड़ा प्यारा लगता है । (ङ) अथवा, इच्छार्थक 'हर्य्' धातु से 'कन्यन्' प्रत्यय, और 'हर्य्' को 'हिरच्' आदेश (उणा० ५.४४) बाल वृद्ध सब इस सोने को चाहते हैं ।

३. अन्तरिक्ष की निरुक्ति | **अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश । अन्तरिक्षं कस्मात् ? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरा इमे इति वा, शरीरेष्वन्तः अक्षयमितिवा ॥ १ । १० ॥**

निघण्टु में अगले १६ नाम अन्तरिक्ष के हैं । अन्तरिक्ष-(क)अन्तरा क्षान्तं-अन्तरिक्ष । यह द्यावापृथिवी के मध्य में पृथिवी तक होता है । (ख) अन्तरा इमे क्षयो यस्य तत् अन्तरिक्षम् । अन्तराक्षय—अन्तरिक्ष । द्यावापृथिवी के मध्य में इस का निवास है । (ग) शरीरेषु अन्तः अक्षयम्—अन्तर् अक्षय—अन्तरिक्ष । यह शरीरों के अन्दर रहता हुआ अविनाशी है । शरीर नष्ट हो जावेंगें, परन्तु तद्गत अन्तरिक्ष नष्ट नहीं होगा ॥ १। १० ॥

समुद्र की व्याख्या | **तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते । समुद्रः कस्मात् ? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्ते ऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा ।**

उन अन्तरिक्ष-नामों में 'समुद्र'—यह पृथिवीस्थ समुद्र अर्थात् सागर के साथ संदिग्ध है । (क) समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः—इस अन्तरिक्ष से वर्षा के रूप में जल बहुत तथा उत्तम प्राप्त होता है, और सागर से जल अधिक राशि में ऊपर आकाश की ओर उड़ता है । 'सम् उत्' पूर्वक 'द्रु' गतौ धातु से अपादान-कारक में 'ड' प्रत्यय । (ख) समभिद्रवन्ति एनं आपः-अन्तरिक्ष या सागर के प्रति जल

वाष्प के रूप में, या वृष्टि-रूप में पहुंचता है। यहां कर्म-कारक में 'ड' प्रत्यय है, और 'अभि' के अर्थ में 'उत्' प्रयुक्त है। (ग) सम्मोदन्ते अस्मिन् भूतानि-अन्तरिक्ष में पक्षी, और सागर में मछली आदि जलचर प्राणी प्रसन्न रहते हैं। 'सम्' पूर्वक 'मुद्' धातु से 'रक्' प्रत्यय (उणा० २. १३)। (घ) समुद्रको भवति-अन्तरिक्ष, या सागर प्रभूत जल वाला होता है। 'सम्' पूर्वक 'उदक' से छान्दस मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय (पाणि० ५. २. १०७) और 'उदक' को 'उदन्' आदेश (पाणि० ६. १. ६३) समुदर-समुद्र। (ङ) समुनत्ति-अथवा, सम्यक्तया भिगोता है। अन्तरिक्ष, और सागर दोनों ही अपने २ जलों से भिगोते हैं। 'सम्' पूर्वक 'उन्दी' क्लेदने से 'रक्' प्रत्यय। सम् उन्द् र-समुन्द्र-समुद्र।

तयोर्विभागः। तत्रेतिहासमाचष्टे—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे, देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितः, ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं, तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि, याजयानि च त्वेति। तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति—

प्रकरणानुसार अन्तरिक्ष, तथा सागर का विभाग जान लेना चाहिए। समुद्र के उपर्युक्त दोनों अर्थ दर्शाने के लिए जो नीचे वेद-मंत्र दिये गये हैं, उनका पहले इतिहास दर्शाते हैं, जिससे कि मंत्रों का रहस्य पूर्णतया समझ में आ सके। उन मंत्रों का आचार्य लोग यह इतिहास बतलाते हैं—ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि, और शन्तनु, दोनों कुरु-वंशी भाई थे। शन्तनु, जो दोनों भाईयों में से छोटा था, उसने

अपना राज्याभिषेक कर लिया। देवापि तपस्या करने लगा। इस से शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष मेघ नहीं बरसा। उसे ब्राह्मणों ने कहा कि तूने यह अधर्म किया है कि बड़े भाई को छोड़ कर अपना राज्याभिषेक कर लिया, इस लिए तेरे राज्य में मेघ नहीं बरसता। तब शन्तनु ने देवापि से राज्य-ग्रहण के लिए अभ्यर्थना थी। परन्तु देवापि ने उस से कहा कि मैं तेरा पुरोहित होता हूं, और तुझे यज्ञ कराता हूं। मैं अब राजा नहीं हूँगा, राजा तुम ही रहो। उस देवापि का यह (ऋ० १०. ९८) वर्ष-काम सूक्त है, जिस में कि वृष्टि की कामना की गई है। उस सूक्त की यह 'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिः' आदि ऋचा है।

'इतिहास' शब्द को देख कर पाठक सन्देह में न पड़ें कि नित्य वेदों में इतिहास कैसा? 'इतिहास' से यहां अभिप्राय नित्य 'इतिहास से है, अनित्य से नहीं। अनित्य इतिहास का तो खण्डन यास्क स्वयं २ अ० ५ पा० में करेंगे। इसे एक स्मृतिकार ने एक श्लोक में बड़े स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार प्रमाणित किया है—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

अतः, आख्यायिका-रूप से जहां भूतकाल में वर्णन किया जावे, वह नित्य इतिहास है। इस में किसी व्यक्ति, या देश का वर्णन नहीं होता, प्रत्युत तद्विषयक घटनाओं में सर्वत्र कोई विशेष शिक्षा कार्य कर रही होती है। जैसे, व्याख्यानों में जनता को समझाने के लिए किसी कल्पित कथा द्वारा अपने अभिप्राय और किसी उच्च शिक्षा को स्पष्ट किया जाता है, वह ही नियम यहां वेद में कार्य करता है। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'—यह उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण-गत इतिहास, तथा पुराण से वेदार्थ की खोज करनी चाहिए। ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद के रहस्य को सामने रखते हुए कथा-रूप में उसे रोचक, तथा हृदयङ्गम बनाने का यत्न करते हैं। वे उस कथा में वेद से भिन्न अन्य नाम

भी कल्पित करते हैं, जिस से वह कथा सर्व साधारण के लिए अधिक रोचक हो सके। आप निरुक्त के अन्य ऐतिहासिक स्थलों में भी यह ही नियम समझें। यहां वेद के उपर्युक्त सूक्त में कुरुवंशीय होना, शन्तनु का राज्य ग्रहण करना, बारह वर्ष तक वृष्टि का न होना और वृष्टि के न होने पर ब्राह्मणों का कहना-इत्यादि-विषयक कोई शब्द नहीं आये। हां, इस सूक्त का कई आचार्यों ने आशय यह ही निकाला है कि गुण-सम्पन्न होने पर राज्य के लिये पहला अधिकार बड़े भाई का ही है। यदि उत्कृष्ट बड़े भाई को छोड़ कर छोटे भाई को राज्य दिया जाता है, तो राष्ट्र में वृष्टि के न होने से दुष्काल आदि पड़ते हैं। तब उस के प्रायश्चित्त के लिये वर्षकामेष्टि-यज्ञ रचना चाहिये। एवं, ऐतिहासिकों ने ऋ० १०. ९८ सूक्त का विनियोग केवल उस वर्षकामेष्टि-यज्ञ में किया है, जब कि बड़े भाई को राज्य न देकर छोटे के राज्य-ग्रहण करने पर राष्ट में वृष्टि नहीं होती। परन्तु यास्क-व्याख्या से पता लगता है कि वह इस मत से सहमत नहीं। यास्क इस सूक्त का विनियोग प्रत्येक वर्षकामेष्टि-यज्ञ में करता है। यहां राज्य ग्रहण करने आदि की कोई चर्चा नहीं, परन्तु जब भी राष्ट्र में अनावृष्टि हो, तब ही वर्ष कामेष्टि-यज्ञ रचा जावे, उस से वृष्टि होगी। और, ऐसे वर्षकामेष्टि-यज्ञों का रचाना राजा का धर्म है। राजा वर्षकामेष्टि यज्ञ करे, क्योंकि उसके राज्य-काल में प्रजा कष्टापन्न हुई है। इतनी भूमिका के पश्चात् अब पाठकों को मंत्रार्थ ठीक २ समझ में आ सकेगा। इस सूक्त का देवता 'देवाः' है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

(आर्ष्टिषेणः ऋषिः देवापिः) शस्त्रास्त्र से सन्नद्ध सेना वाले, या सेना-द्वारा शत्रुओं का दलन करने हारे राजा का वेद-ज्ञाता

तथा महात्माओं का संग करने वाला पुरोहित (देवसुमतिं चिकित्वान्) वृष्टि- विद्या को जानता हुआ (होत्रं निषीदन्) यज्ञ-कर्म के लिये बैठा । (स: उत्तरस्मात् अधरं समुद्रं) और उसने वर्षकामेष्टि-यज्ञ-द्वारा उत्तर समुद्र, अर्थात् अन्तरिक्ष से निचले समुद्र की ओर (दिव्या: वर्ष्या: अप: अभ्यसृजत्) दिव्य गुणों वाले वर्षा-जल को चहुं ओर पैदा किया ।

आर्ष्टिषेण=ऋष्टिषेण, या इषितसेन का पुत्र । यहां 'पुत्र' शब्द का अभिप्राय 'संबन्धी' से है । अत: आर्ष्टिषेण का अर्थ हुआ ऋष्टि-षेण राजा का संबन्धी, अर्थात् राजा का पुरोहित । ऋष्टिषेण:--ऋष्टि युक्ता सेना यस्य स ऋष्टिषेण: । अथवा, इषिता प्रेषिता शत्रुदलनार्थं सेना येन स ऋष्टिषेण: । इषित=ऋष्टि । गत्यर्थक 'ऋष्' धातु से औणादिक 'क्तिन्' । '**नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्** । यजु०४०.४'—यहां पर 'अर्षत्' में 'ऋष्' धातु गत्यर्थक है । सेना= (क) सेश्वरा-इन अर्थात् अधिपति सहित, बिना राजा के सेना कभी नहीं होती । (ख) समानगति:—अथवा समान गति वाली, सैनिक लोग सदा समान गति में चलते हैं । समानं इनं गमनं यस्या: सा सेना । इन-'इण' गतौ धातु से 'नक्' (उणा० ३.२)। पुत्र-(क) पुरु त्रायते । पुरुत्र-पुत्र, यह बहुत रक्षा करता है । (ख) निपरणात्-पालनार्थक 'पृ' धातु से 'क्त्र' प्रत्यय (उणा०४.१६५) यह माता पितादिकों की वृद्धावस्था में पालना करता है । (ग) पुत् नरकं तत: त्रायते-अथवा 'पुत्' का अर्थ है नरक, अर्थात दु:ख, उससे यह रक्षा करता है । पुत्त्र-पुत्र । ऋषि-(क) दर्शनात्, जो मनुष्य सूक्ष्मदर्शी या तत्त्व-दर्शी हो, उसे ऋषि कहा जावेगा । (ख) परन्तु औपन्यव इस से सहमत नहीं । वह कहता है कि जिसने वेद-मंत्रों का दर्शन किया है, वह मंत्र-द्रष्टा

हीं ऋषि है। इसकी पुष्टि में वह 'तद्यदेनाँस्तपस्यमानान्' आदि ब्राह्मण-वचन उद्धृत करता है, जिसका अर्थ यह है—यतः, इन तपस्या करते हुए विद्वानों को (स्वयम्भु ब्रह्म) अपौरुषेय वेद का (अभ्यानर्षत) ठीक २ साक्षात्कार हुआ, अतः वे ऋषि प्रसिद्ध हुए। यह मंत्र-द्रष्टृत्व ही ऋषियों का ऋषित्व है। इसी भाव को तै० आ० २ अ० ८ ख० में इस प्रकार बतलाया है। **अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्तदृषयोऽभवन्**। 'दृश्' धातु से 'इन्' प्रत्यय और किद्वाव (उणा० ४. १२०) दृशि-ऋषि। धातुपाठ में 'ऋषी' गतौ धातु पठित है, उसे दर्शनार्थक मान कर 'ऋष्' से भी 'ऋषि' बन सकता है। देवापि—देवानां आप्त्या, देवजनों की प्राप्ति से मनुष्य 'देवापि' बनता है। और वह देव-जनों की प्राप्ति, (स्तुत्या च प्रदानेन च) उन का आदर करने, और उन्हें सुखादि-प्रदान से होती है। आपि—'आप्' धातु से 'इण्' (उणा०४.११८) सुमति=कल्याणी विद्या। चिकित्वान्=चेतनावान्—चेतनं चिकित् तद्वान् चिकित्वान्। उत्तर=ऊपर, क्योंकि वह (उत् हततर) ऊंचा गया हुआ होता है। उत् हततर-उत्तर। अवर—अधोर=नीचे गया हुआ। अधस् अर-अधोर-अधर। अर—'ऋ' गतौ धातु से 'अच्' प्रत्यय। अधः—न धावतीति अधस्। 'नञ्' पूर्वक गत्यर्थक 'धाव्' धातु से 'असुन्' तथा 'आव्' का लोप (उणा० ४. १८९)। 'अधः' में उर्ध्व-गति का निषेध है, अर्थात् नीचे।

उपर्युक्त मंत्राशय के अधिक स्पष्टीकरण के लिये अगली ऋचा है—

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्। देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥१०.९८.७

शन्तनुः शंतनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा।

पुरोहितः, पुर एनं दधति । होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत् । देवश्रुतं, देवा एनं शृण्वन्ति । वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं । रराणो रातिरभ्यस्तः । बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् सोऽस्मै वाचमयच्छत् । बृहदुपव्याख्यातम् ॥ ३ । १२ ॥

(यत् होत्राय वृतः देवापिः) जब वर्षकामेष्टि-यज्ञ के लिए वरण किए हुए सत्संगी विद्वान् ने (शन्तनवे पुरोहितः) राष्ट्र के लिये शन्ति की इच्छा रखने हारे राजा का पुरोहित होकर (कृपयन्) कृपा-दृष्टि से (अदीधेत्) उस यज्ञ को पूर्ण किया, तब (देवश्रुतं) ईश्वरीय नियमों ने यजमान राजा की प्रार्थना को सुन लिया, और (वृष्टिवनिं रराणः बृहस्पतिः) उस वर्षा-याचक को वृष्टि प्रदान करते हुए वेद-पति परमेश्वर ने (अस्मै वाचं अयच्छत्) इस राजा को स्वास्थ्य प्रदान किया ।

शंतनु—(क) शं तनोः अस्तु-शरीर की शान्ति हो, ऐसी कामना वाला (ख) शं अस्मै तन्वाः अस्तु-अथवा, इस प्रजा-वर्ग के लिये शरीर की शान्ति हो-ऐसी इच्छा वाला राजा। पुरोहित—इस को यज्ञ-कर्म में आगे स्थापित करते हैं। पुरस् धा क्त, दधातेर्हि (पाणि० ७.४.४२) से 'धा' को 'हि' आदेश । अदीधेत्=अन्वध्यायत्=अनुकूल चिन्तन किया, अर्थात् पूर्ण किया। देवश्रुतं— देवाः एनं शृण्वन्ति इति देवश्रुत्, तं देवश्रुतं। रराणः-यङ्लुगन्त 'रा' दाने धातु से 'शानच्' और धातु को द्वित्व। बृहस्पति=ब्रह्म=वेदपति परमेश्वर। 'वाक्'— यह सब इन्द्रियों का उपलक्षण है । बुभुक्षा से जो इन्द्रियें क्षीण, तथा शिथिल पड़ गई थीं, उन्हें वृष्टि से दुष्काल-नाश द्वारा पूर्ववत् ठीक स्वस्थ अवस्था में किया । 'बृहत्' की व्याख्या १·७ में की जा चुकी है।

* चतुर्थपाद *

४. द्युलोक, तथा आदित्य के ६ सामान्य नाम

साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च । यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्टात्तानि व्याख्यास्यामः । आदित्यः कस्मात् ? आदत्तेः रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषां, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा । अल्पप्रयोगं त्वस्यैतद् आर्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक् । 'सूर्यमादितेयम्, अदितेः पुत्रम् । एवमन्यासामपि देवतानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति, तद्यथैतद्—(१) मित्रस्य, वरुणस्य, अर्यम्णः, दक्षस्य, भगस्य, अंशस्य, इति । (२) अथापि मित्रावरुणयोः–'आदित्या दानुनस्पती' । दानपती । (३) अथापि मित्रस्यैकस्य–'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन' इत्यपि निगमो भवति । (४) अथापि वरुणस्यैकस्य—'अथा वयमादित्य व्रते' । व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः । इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म, वारयतीति सतः । अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम् ॥ १ । १३ ॥

अगले ६ नाम द्युलोक, तथा आदित्य के वाचक सामान्य हैं । परन्तु, आदित्य-वाची जो नाम मुख्यतया प्रयुक्त होते हैं, उन की व्याख्या आगे (१२अ०३,४पा०) करेगें । आदित्य—i आदत्ते रसान्—सूर्य प्रत्येक पदार्थ के रसों को अपनी रश्मियों द्वारा आहरण करता है । 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातु से 'यक्' प्रत्यय (उणा.४.११२) और पाणि०७.४.४२ से 'दा' को 'दद्' आदेश । ii आदत्ते भासं ज्योतिषां—सूर्योदय के होने पर अन्य चन्द्र नक्षत्रादिकों की ज्योतियें हरण कर ली जाती हैं । iii आदीप्तः भासा-सूर्य ज्योति से प्रदीप्त है । आ दीप् यक्—आदाप्य आदित्य । vi अदितेः पुत्रः-सूर्य अदिति, अर्थात्

अविनाशी प्रकृति, या परमेश्वर का पुत्र है। ऋग्वेद में इस सूर्य का यह 'आदित्य' नाम, जो कि सूक्तभाक् हो, स्वल्प प्रयोग वाला है। सूक्तभाक् उस देवता का नाम है जो कि संपूर्ण सूक्त का एक ही देवता हो। सूर्य-वाची ऐसा सूक्तभाक् 'आदित्य' ऋग्वेद में बहुत थोड़ा प्रयुक्त है। आर्चाभ्याम्नाय—ऋचाः अभि अधिकतया आम्नायन्ते अभ्यस्यन्तेऽत्र स ऋचाभ्याम्नायः, स एव आर्चाभ्याम्नायः, ऋचायें जिस वेद में अधिकतया पठित हैं, वह ऋग्वेद 'आर्चाभ्याम्नाय' कहलाता है।

अब यास्काचार्य यह बतलाते हैं कि ऋग्वेद में 'आदित्य' नाम किन२ देवताओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'आदितेय' भी 'आदित्य' का ही एक रूपान्तर है, अतः पहले उसी का प्रयोग दर्शाते हैं—

'**यदेदेनमदधुः······सूर्यमादितेयम्**' आदि मंत्र में 'आदितेय' वैश्वानर का विशेषण है। आदितेय=अदिति का पुत्र। मंत्र की व्याख्या ७ अ० २६ ख० में देखिए। एवं, अन्य देवताओं की भी आदित्य-वचन से स्तुतियें है, जैसे यह उदाहरण-समूह है—(क) '**इमा गिर आदित्येभ्यः**' आदि मंत्र में मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग, और अंश-इन को 'आदित्य' नाम से कहा गया है। मंत्र का अर्थ १२ अ० ४ पा० में देखिए। 'इमा गिरः' आदि मंत्र का सारा सूक्त (ऋ० २. २७) आदित्य-देवताक है। (ख) **मित्रावरुण** की 'आदित्य' नाम से स्तुति है, जैसे ऋ० २.४१. ६ का निम्नलिखित मंत्र है—

ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती। सचेते अनवह्वरम्॥

देवता-मित्रावरुणौ। वे उत्पन्न पदार्थों के सम्राट्, जल को वृष्टि-द्वारा पैदा करने हारे, तथा सुख आदि के प्रदाता, आदित्य से उत्पन्न होने हारे मित्रावरुण-दिन रात-प्राणिओं को (अनवह्वरं सचेते) सुख पहुँचाते हैं। यहां आदित्य 'मित्रावरुण' देवताओं का विशेषण है।

(ग) अकेले 'मित्र' देवता के लिये विशेषण-रूप में प्रयोग यहां है—

प्र स मित्र मर्त्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥ ३. ५९. २.

देवता—मित्रः। (आदित्य मित्र ! सः मर्त्तः प्रयस्वान् अस्तु) हे अविनाशी मित्र प्रभो ! वह मनुष्य सफल-प्रयत्न होता है, (यः ते व्रतेन प्रशिक्षति) जो कि तेरे सत्य-व्रत के अनुसार अपने को सिधाता है। (त्वोतः न हन्यते, न जीयते) वह तेरे से रक्षित हुआ २ न किसी से मारा जाता है, और न जीता जाता है। (एनं अंहः न अन्तितः अश्नोति, न दूरात्) इस महात्मा को किसी प्रकार का भी दुःख, या पाप न समीप से ही प्राप्त होता है, न दूर से। अर्थात्, इसे न अन्तरीय मनोवृत्तियें ही कष्ट पहुंचा सकती हैं, न कोई बाह्य पदार्थ।

(घ) अकेले 'वरुण' देवता के लिये 'आदित्य' का प्रयोग यहां है—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ १. २४. १५

देवता—वरुणः। (वरुण ! अस्मत् उत्तमं पाशं उत् श्रथाय) हे वरणीय परमात्मन् ! हमारे अत्यन्त दृढ बन्धन को उत्तमता से शिथिल करो, और (अधमं अवश्रथाय) छोटे बन्धन को वैसे ही छोटे उपाय से शिथिल करो, और (मध्यमं विश्रथाय) मध्यम-श्रेणी के बन्धन को मध्यमतया शिथिल करो। (अथ आदित्य ! वयं तव व्रते) और, हे अविनश्वर वरुण ! हम तेरे द्वारा उपदिष्ट यम नियमादि व्रतों के पालन में तत्पर रहते हुए (अदितये अनागसः स्याम) अखण्डित मुक्ति के लिये पाप-रहित हों।

व्रत=कर्म, यह कर्ता को शुभ या अशुभ फल से ढाँपता है। वृणोति आच्छादयतीति व्रतम्। 'वृ' धातु से 'अतच्' और किद्वात्,

तथा यणादेश। हिंसा, असत्य, चोरी आदि से निवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त यम नियम संबन्धी यह दूसरा 'व्रत' शब्द भी इसी 'वृ' धातु से बनता है। वारयतीति व्रतम्। ये यम नियमादिक मनुष्य को पापाचरण से हटाते हैं। वृ णिच् अतच्, णिच् का लोप। 'व्रत' का तीसरा अर्थ 'अन्न' है। यतः, यह रस शोणितादि में परिवर्तित होता हुआ शरीर को आच्छादन करता है ॥१।१३॥

अब सामान्य ६ नामों का निर्वचन करते हैं—

(१) 'स्वः' आदित्यो भवति। सु अरणः—सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौ-र्व्याख्याता (२) 'पृश्निः' आदित्यो भवति। प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा। अथ द्यौः, संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (३) 'नाकः' आदित्यो भवति। नेता रसानां, नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः, कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। 'नवा अमुं लोकं जग्मुषे किंचनाकम्' नवा अमुं लोकं गतवते किंचनासुखं, पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति (४) 'गौः' आदित्यो भवति गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। (५) 'विष्टप्' आदित्यो भवति। आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषां, आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः, पुण्यकृद्भिश्च।

(६) 'नभः' आदित्यो भवति, नेता रसानां, नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः, न न भातीति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता ॥ २। १४ ॥

(१) स्वः=आदित्य। (**क**) सु अरणः—सु ईरणः, यह सूर्य

पूर्णतया अन्धकार को दूर भगाने वाला है। सु अर्-स्वः। (ख) स्वृतो रसान्, यह रसों के प्रति ग्रहणार्थ गया हुआहै। 'सु' पूर्वक 'ऋ' गतौ धातु। सु अर्-स्वः। (ग) स्वृतो भासं ज्योतिषां—चन्द्र पृथिव्यादिक ज्योतिर्लोकों के प्रकाश के प्रति गया हुआ, अर्थात् उन्हें प्रकाशित करने वाला। (घ) स्वृतो भासा-दीप्ति से संगत, अर्थात् दीप्तिमान्। इन्हीं चारों निर्वचनों से 'स्वः' का अर्थ द्युलोक भी होता है, क्योंकि आदित्यादि प्रकाशमान लोक इस में गति करते हैं, सूर्यादि लोकों में द्रव पदार्थ भी विद्यमान हैं अतः उनके प्रति भी गया हुआ है, ज्योर्तिलोकों की दीप्तियों से व्याप्त है, और दीप्ति से परिपूर्ण है।

(२) पृश्नि=आदित्य (क) प्राश्नुते एनं वर्णः--सूर्य को शुभ्र वर्ण प्राप्त होता है-ऐसा निर्वचन नैरुक्त करते हैं। 'प्र' पूर्वक 'अशूङ्' व्याप्तौ से 'नित्' प्रत्यय (उणा०४.५२)। प्र अश् नि-पृ अश् नि—पृश्नि। (ख) संस्प्रष्टा रसान्—रसों को ग्रहण करने हारा है। स्पृश् नि—पृश्नि। (ग) संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां—चन्द्रादि प्रकाशित लोकों के प्रकाश का स्पर्श करने वाला, अर्थात् उन्हें प्रकाश देने हारा। (घ) संस्पृष्टो भासा-अथवा, दीप्ति से संयुक्त। पृश्नि=द्युलोक, यतः वह सूर्यादि ज्योतिर्लोकों तथा पुण्यकर्मा जीवात्माओं से युक्त है।

(३) नाक=आदित्य। (क)नेता रसानां-रसों का नायक अर्थात् उन्हें लेजाने वाले नायक-नाक (ख) नेता भासां—प्रकाश का नायक। (ग) ज्योतिषां-प्रणयः। चन्द्रादि लोकों का चलाने हारा। यतः, सूर्य के आधीन ही इनकी गति है। नायक-नाक। नाक=द्युलोक। 'क' सुख-वाची है, उसके निषेध, अर्थात् दुःख का निषेध है। क=सुख, अक=दुःख, नाक=अत्यन्त सुख। द्युलोक अत्यन्त सुख का स्थान है-इस की पुष्टि में यास्क 'नवा अमु लोकं' आदि किसी ब्राह्मण का प्रमाण देते हैं कि उस

द्युलोक में प्राप्त जीवात्मा को कुछ भी 'अक' असुख, अर्थात् दुःख नहीं मिलता, क्योंकि पुण्यकर्मा आत्मा ही वहां जाते हैं, उन्हें दुःख हो नहीं सकता, और पापी आत्मा वहां जाने नहीं पाते। **इस वचन से यह भी स्पष्टतया ज्ञात होता है कि द्युलोक ही स्वर्ग—स्थान है, अन्य कोई स्वर्गलोक नहीं।**

(४) **गो**=आदित्य। यह रसों को लेजाता है, और अन्तरिक्ष में गति करता है। गो=द्युलोक, यह पृथिवी से अतिदूर गया हुआ है, और इस में सूर्यादि ज्योतिर्लोक गति करते हैं।

(५) **विष्टप्**=आदित्य। यह रसों से युक्त है, स्वयं-प्रकाशमान ज्योतिर्लोकों की दीप्ति से युक्त है, और प्रभा से संयुक्त है। विष्टप्=द्युलोक। यह ज्योतिर्लोकों, तथा पुण्यकर्मा जीवात्माओं से युक्त है। 'विश' प्रवेशने धातु से 'टप' प्रत्यय। (उणा० ३.१४५)।

(६) **नभस्**=आदित्य। (क) नेता रसानाम्—रसों को लेजाने हारा। 'णीञ्' प्रापणे धातु से 'असुन्' और 'य्' को 'भ्' (उणा० ४. २११) नयस्—नभस्। (ख) नेता भासां—प्रकाश—प्रापक। नयन भास्—नभास्—नभस्। (ग) ज्योतिषां प्रणयः—प्रकाश का स्थान। पूर्ववत् 'णीञ्' से असुन्। (घ) 'भनः' एव स्यात् विपरीतः। भासनार्थक 'भन्द्' धातु निघण्टु (१. १६) में पठित है, उस से 'असुन्' प्रत्यय (उणा० ४. १८६) भन्दस्—भनस्। 'भनस्' के 'भ' 'न' का आद्यन्त-विपर्यय करने से नभस् सिद्ध होता है। (ङ) न न भाति। अथवा सूर्य अत्यन्त प्रकाशमान होने से 'नभस्' है। न भातीति नभस्, न नभस्-नभस्। 'नञ्' पूर्वक 'भा' धातु से 'असुन्' और एक 'न' का लोप। इन्हीं निर्वचनों से द्युवाची 'नभस्' की सिद्धि हो सकती है॥ २।१४॥

* पञ्चम पाद *

५. रश्मि-वाची नाम | रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश। रश्मिः, यमनात्। तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः।

अगले १५ नाम रश्मि-वाची हैं। सूर्य-रश्मियें जल को, और रासें घोड़े को काबू रखती हैं। 'यम्' धातु से 'इन्' प्रत्यय, और 'य' को 'रश' आदेश (उणा० ४.११८.४०)। उन रश्मि नामों में से खेदा, किरण, गो, रश्मि, अभीशु—ये आदि से पांच नाम घोड़ों की रासों से समान हैं। अर्थात्, ये पहले पाँचों नाम सूर्य-किरण, तथा घोड़े की रासें—इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

६. दिशा-वाची नाम | दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। दिशः कस्मात्? दिशतेः, आसदनात्, अपिवाऽभ्यशनात्। तत्र 'काष्ठाः' इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठा दिशो भवन्ति, क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति, इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति,। आदित्योऽपि 'काष्ठा' उच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। आज्यन्तोऽपि 'काष्ठा' उच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते, क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्॥ १। १५॥

अगले ८ नाम दिशा-वाची हैं। दिश् -(क) 'दिश्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय। इन्हीं से गति-मार्ग निर्दिष्ट होता है। (ख) ये प्रत्येक पदार्थ के आसन्न हैं, इन से कोई पदार्थ दूर नहीं। 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय। सद्—दस्—दिश्। (ग) ये सर्व-व्यापक हैं, कोई ऐसा प्रदेश नहीं जो कि इन से खाली हो। 'अश्' धातु से 'क्विप्'। अश्—दिश्। उन दिशा-वाची नामों में 'काष्ठा' भी पठित है। वह अनेक पदार्थों का वाचक है। जैसे—(क) दिशा—ये प्रत्येक

पदार्थ को प्राप्त होकर स्थित हैं। अर्थात्, दिशायें प्रत्येक पदार्थ के पास पहुंची हुई हैं, और निश्चल हैं। क्रान्त्वा स्था-क्रास्था-काष्ठा। (ख) उपदिशा-परस्पर को उलांघ कर स्थित हैं, अर्थात् ये परस्पर में मिली हुई नहीं, मध्य में दिशाओं का व्यवधान है। (ग) आदित्य। यह अपनी परिधि में घूमकर स्थित है, अर्थात् अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता। (घ) आज्यन्त, **अर्थात् संग्राम-प्रदेश**। यह कुछ दूर जाकर स्थित होता है, समाप्त हो जाता है। संग्राम-भूमि सीमित होती है। (ङ) **स्थावर जल**—तालाब, समुद्र आदि का खड़ा जल इधर उधर से बह कर स्थित होता है। १।१५॥

(च) एवं, अस्थावर,चल-जल को भी 'काष्ठा' कहते हैं। क्रान्त्वा अस्थिताः भवन्ति—यह मेघवर्ती जल इधर उधर गति करता रहता है, स्थित नहीं होता। क्रा अस्था-क्रास्था-काष्ठा। इस मेघवर्ती जल के लिये 'काष्ठा' शब्द का प्रयोग निम्न मंत्र (ऋ०१.३२.१०) में है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानाम्—इत्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः, शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं, द्राघतेः। तमः, तनोतेः। आशयत्,आशेतेः। इन्द्रशत्रुः—इन्द्रोऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा, तस्मादिन्द्रशत्रुः॥ २।१६॥

देवता—इन्द्रः। (अनिवेशानानां अतिष्ठन्तीनां काष्ठानां मध्ये शरीर निहितं) कहीं न रुकने वाले अस्थावर जलों में मेघ निहित है। (आपः वृत्रस्य निण्यं विचरन्ति) जब वे जल मेघ के निम्न-प्रदेश की ओर जानते हुए के समान विचरते हैं, तब (इन्द्रशत्रुः दीर्घं तमः

आशयत्) मघ गाढ़ अन्धकार को फैला देता है ।

इस मंत्र में रूपकालंकार से वर्षाकालीन मेघ का वर्णन है । वर्षाकालीन बादल की काली घटा उठती है, उस में जल के अधिक घने होने के कारण वह नीचे की ओर झुक जाता है, और दूर २ तक फैल कर गाढ़ अन्धकार कर देता है। इसी भाव को अलङ्कार के रूप में वेद ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—जैसे कोई शत्रु दूसरे शत्रु के कमजोर स्थान को जानकर उस ओर से भागने की चेष्टा करता है, एवं मानो मेघवर्ती जल निम्न–प्रदेश की ओर भागने के लिये गया । परन्तु मेघ ने उसे रोकने के लिये गाढ़ अन्धकार फैला दिया, जिससे शत्रु को कुछ न दीखे, और वह भाग न सके ।

शरीरं=मेघः । हिंसार्थक 'शॄ' अथवा 'शम् ' धातु से 'इरन्' प्रत्यय (उणा०४.३०) । मेघ–शरीर नष्ट हो जाता है । शमार–शरीर । निण्य=निर्णाम=निम्न–प्रदेश । दीर्घ—'द्राघृ' आयामे धातु से 'अप्' प्रत्यय (पाणि० ३.३.५७) और 'द्राघ' को 'दीर्घ' आदेश जैसे कि पाणि०६.४.१५७ में 'दीर्घ की जगह 'द्राघ' आदेश किया है । तमस्–'तनु' विस्तारे धातु से 'असुन्' (उणा०४.१८६) । तनस्—तमस् । आशयत्—'आङ्' पूर्वक 'शीङ्' धातु का 'लङ्' में रूप है । इन्द्रशत्रुः–इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुः । शत्रु—जो शमन करने वाला, या छेदन करने हारा हो, वह शत्रु कहलाता है । 'शम्' या 'शदल' शातने से 'क्रुन्' प्रत्यय (उणा०४.१०३) । शम् रु–शत्रु–शत्रु । शत्रु–शत्रु ।। २ । १६ ।।

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मंत्रवर्णाः, ब्राह्मणवा-

दाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार, तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति—

यह 'वृत्र' कौन है ? निरुक्तकार कहते हैं कि 'वृत्र' का अर्थ मेघ है, और ऐतिहासिक मानते हैं कि यह त्वाष्ट्र नामी असुर है। परन्तु ऐतिहासिकों का पक्ष ठीक नहीं। जल, और विद्युत् के मिलने से वृष्टि होती है, यहां उपमा-रूप में युद्ध के स्वरूप हैं। विद्युत्-रूपी वज्र जल पर प्रहार करता है, प्रहार करने से मेघ-रूपी शत्रु छिन्न भिन्न हुआ २ वृष्टि—जल के रूप में पृथिवी-तल पर आ गिरता है। एवं, वह उपमा के रूप में मेघ तथा विद्युत् के युद्ध का वर्णन है, किन्हीं मनुष्यों का युद्ध इस में नहीं पाया जाता। इस के अतिरिक्त दूसरा हेतु यह भी है कि 'अहि' शब्द वाले मन्त्रों के स्वरूप, तथा ब्राह्मण-वचन पाये जाते हैं। अर्थात् मंत्रों और ब्राह्मणों में 'वृत्र' की न्याई 'अहि' को भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा है, और यह 'अहि' निस्सन्देह मेघ-वाची है। अतः वृत्र का अर्थ भी मेघ ही करना होगा, 'त्वाष्ट्र' असुर नहीं। इस की पुष्टि में आगे जो वेद-मत्र दिया गया है, उसका आशय यास्क पहले इस प्रकार देते हैं— वृत्र ने शरीर की वृद्धि से जल के स्रोत रोक लिये, उस वृत्र के मारे जाने पर जल बह निकला। इस अर्थ के कहने वाली यह ऋचा है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥ १.३२.११

दासपत्नीः दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि। अहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः। अहिः, अयनात् एति अन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव, निर्ह्रसित उपसर्गः आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग् भवति।

पणिः, पणनात् । वणिक्, पण्यं नेनेक्ति । अपां बिलमपिहितं यदासीत् । बिलं भरं भवति बिभर्तेः । वृत्रं जघ्निवान्, अपववार तत् । वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्ततेर्वा, वर्धतेर्वा । 'यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति' विज्ञायते । 'यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति' विज्ञायते । 'यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति' विज्ञायते ॥ ३ । १७ ॥

देवता—इन्द्रः । (दासपत्नीः अहिगोपाः आपः) मेघ से छिपाया हुआ दुष्काल-रक्षक वृष्टि-जल, (पणिना गावः इव निरुद्धाः अतिष्ठन्) जैसे बनिया गायों को किसी बाड़े में रोक रखता है, एवं मेघ से रोका हुआ था । (वृत्रं जघन्वान्) तब मेघ को मारते हुए इन्द्र, अर्थात् विद्युत् ने (यत् अपां बिलं अपिहितं आसीत्) जो जल निकलने का द्वार ढका हुआ था (तत् अपववार) उसे खोल दिया, और एवं, वृष्टि होने लगी ।

दास—'दसु' उपक्षये धातु से 'ट' प्रत्यय (उणा० ५. १०) । दुष्काल शुभ-कर्मों का नाश करता है । अहि—'इण्' गतौ धातु से 'इन्' प्रत्यय (उणा० ४. ११८) । अयि-अहि । मेघ अन्तरिक्ष में गति करता है । सर्प-वाची 'अहि' शब्द भी इसी 'इण्' धातु से सिद्ध होता है । अथवा, आहन्तीति अहिः-यहां 'आ' उपसर्ग ह्रस्व किया हुआ है (उणा० ४. १३८) । चलने हारा, तथा काटने वाला होने से साँप को 'अहि' कहा गया । पणि-वणिक् । पणि-व्यवहारार्थक 'पण् धातु से 'इन्' । बनिया व्यापारी होता है । वणिक्—पण्यं नेनेक्ति=व्यापार के योग्य वस्तुओं को शोधता है । बनिया नित्यप्रति बेचने वाले पदार्थों को शुद्ध करता है, जिससे मट्टी आदि के द्वारा खराब होकर कम कीमत के न हो जावें । शुद्ध्यर्थक 'णिजिर्' धातु से 'क्विप्' । पण्य निक्-वणिक् । उणादि (२.७०) में 'पण' धातु से

'इजि' प्रत्यय, और 'प' को 'व' आदेश करके 'वणिक्' सिद्ध किया है। बिल—यह जल आदि से भरा हुआ होता है। भर-भल-बिल। वृत्र—यह 'वृञ्' आच्छादने धातु से 'क्त्र' प्रत्यय (उणा० ४.१६४), और 'वृतु' वर्तने, या 'वृधु' वृद्धौ से 'रक्' प्रत्यय (उणा० २.१३) करने पर सिद्ध होता है। मेघ अन्तरिक्ष को आच्छादन करता है, चौमासे में वर्तमान रहता है, और वृद्धि करता है—फैलता है। इन्हीं तीनों निर्वचनों की पुष्टि में यास्क कहीं के ब्राह्मण-वचन उद्धृत करते हैं—मेघ ने जो अन्तरिक्ष को आच्छादन किया, वह ही उस मेघ-रूपी वृत्र का वृत्रत्व है। मेघ जो अन्तरिक्ष में वर्तमान रहा, वह ही उस मेघ-रूपी वृत्र का वृत्रत्व है। और, मेघ जो फैला, वह ही उस मेघ-रूपी वृत्र का वृत्रत्व है। **'पाणिना गावः' से वैश्य के गो-पालन धर्म का निर्देश किया गया है॥ ३। १७॥**

---

* षष्ठ पाद *

७. रात्रि-वाची नाम। **रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः। रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तचारीणि। उपरमयतीतराणि, ध्रुवीकरोती। रातेर्वा स्याद्दानकर्मणः, प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः॥ १। १८॥**

अगले २३ नाम रात्रि के वाचक हैं। रात्रि—(क) यह उल्लू चोर, व्यभिचारी आदि नक्तंचारी प्राणियों को रमण कराती है। प्ररामयित्री-रात्रि। (ख) काम काज के मनुष्यों, एवं अन्य दिवाचारी पशु पक्षियों को अपने २ कामों से उपरत करती है—हटाती है, और उन्हें निद्रा के द्वारा टिका देती है। उपरामयित्री-रात्रि। (ग) अथवा, दानार्थक 'रा' धातु से 'त्रिप्' प्रत्यय (उणा० ४.६७)। इस में ओस

प्रदान की जाती है, रात्रि में ही ओस पड़ती है। अवश्याय=ओस।

८. उषा-वाची नाम | उषोनामान्युत्तराणि षोडश। उषाः कस्मात्? उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपरः कालः। तस्या एषा भवति—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥१.११३.१

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततमं अजनिष्ट विभूततमं। यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय, रात्रिरादित्यस्य, एवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानं। स्त्रीयोनिः, अभियुत एनां गर्भः॥ २। १६॥

अगले १६ नाम उषा-काल के वाचक हैं। उषस्—'उच्छी' विवासे धातु से 'असि' प्रत्यय, और किद्भाव (उणा० ४.२३४)। उच्छ् स्—उषस्। उषा-काल अन्धकार को निर्वासित करता है। यह उषा रात से पिछला समय है। इस की पुष्टि के लिये 'इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः' आदि मंत्र है। इस मंत्र का देवता 'उषाः' है। अब मंत्र का अर्थ देखिए—

(ज्योतिषां श्रेष्ठं इदं ज्योतिः आगात्) ज्योतियों के मध्य में श्रेष्ट यह उषा-ज्योति प्राणिओं को प्राप्त होती है। (चित्रः प्रकेतः विभ्वा अजनिष्ट) यह अद्भुत, प्रसिद्धतम, और सर्वत्र फैली हुई उषा-ज्योति प्रादुर्भूत होती है। (यथा प्रसूता रात्री सवितुः सवाय) जैसे, उत्पन्न हुई २ रात्रि आदित्य के उदय के लिये स्थान को रिक्त करती है, (एवा उषसे योनिं आरैक्) एवं, उषा-काल के लिये अपना स्थान खाली करती है। एवं, इससे स्पष्टतया ज्ञात हुआ कि रात्रि से पिछले काल का नाम 'उषा' है।

चित्रः=चित्रं। प्रकेतः=प्रकेतनं=प्रज्ञाततमं। विभ्वा=विभूततमं।

एव=एवं। योनिं=स्थानं। 'स्त्री-योनि' को भी योनि कहते हैं, क्योंकि इस से गर्भ मिला हुआ होता है। पहले २.८ में 'अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव, परियुतो भवति' कहा है। अतः ज्ञात होता है 'योनि' शब्द स्त्रीलिङ्ग, पुलिंग-दोनों में प्रयुक्त होता है। २। १९॥

तस्या एषा अपरा भवति—

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णंचरत आमिमाने॥१.११३.२.

रुशद्वत्सा—सूर्यवत्सा। रुशदिति वर्णनाम, रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह, साहचर्याद्वा, रसहरणाद्वा। रुशती श्वेत्यागात्। श्वेत्या, श्वेततेः। अरिचत् कृष्णा सदनान्यस्याः, कृष्णवर्णा रात्रिः। कृष्णं कृष्यतेः, निकृष्टो वर्णः। अथैने संस्तौति—समानबन्धू—समानबन्धने। अमृते—अमरणधर्माणौ। अनूची—अनूच्यौ, इतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्णं चरतः, ते एव द्यावौ, द्योतनात्। अपि वा द्यावा चरतः, तया सह चरत इति स्यात्। आमिमाने—आमिन्वाने—अन्योऽन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे॥ ३। २०॥

उस उषा-काल की पुष्टि के लिये यह दूसरी ऋचा है—

(रुशद्वत्सा, रुशती, श्वेत्या आगात्) जब प्रकाशमान सूर्य-रूपी बछड़े वाली, दीप्तिमती, तथा शुभ्र-वर्णा उषा प्राणियों को प्राप्त होती है, तब (कृष्णा अस्याः सदनानि आरैक्) कृष्ण वर्ण की रात इसके स्थानों को रिक्त कर देती है। (समानबन्धू) समान बन्धन वालीं, (अमृते) प्रवाह से नित्य, (अनूची) अनुक्रम से प्राप्त होने वालीं (आमिमाने) एक दूसरे के ऊपर अपने को करने वालीं, (द्यावा) और अपने २ प्रकाश से प्रकाशमान, उषा तथा रात्रि (वर्णं चरतः) अपने २ स्वरूप को पाती हैं। अथवा, (द्यावा वर्णं चरतः) सूर्य

के कारण अपने २ स्वरूप को प्राप्त करती हैं । एवं, इस मंत्र में भी रात्री से अपर काल को ही उषा कहा गया है।

रुशत्=शुभ्रवर्ण । यह 'रुशत्' शब्द दीप्त्यर्थक 'रुच्' धातु से 'अति' प्रत्यय (उणा० २. ४४) करने पर सिद्ध होता है । रुचत्—रुशत् । यह प्रकाशमान सूर्य उषा–रूपी धेनु का बछड़ा है । जैसे बछड़ा धेनु के साथ पीछे २ रहता है, अथवा उसका दुग्ध–रस आहरण करता हैं, एवं सूर्य भी उषा के साथ २ पीछे आता है, और तज्जन्य ओस–रस का आहरण करता है । 'श्वित्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय (पाणि० ३. ३. १८) करने से 'श्वेत' शब्द सिद्ध होता है । 'श्वेत' से 'मतुप्' अर्थ में 'यप्' प्रत्यय (पाणि० ५.२.१२०)। कृष्ण—'कृष्' धातु से 'नक्' प्रत्यय (उणा० ३. ४) । काला रंग निकृष्ट होता है । अथैने संस्तौति—मंत्र के पूर्वार्ध में अकेली उषा का वर्णन करने के पश्चात्, उत्तरार्ध में उषा तथा रात्रि–इन दोनों का इकट्ठा वर्णन करते हैं । समानबन्धू–उषा सूर्योदय के साथ और रात्रि सूर्यास्त के साथ, एवं दोनों समान–बन्धन 'सूर्य' के साथ बंधी हुई हैं । द्यावा—'द्युत्' धातु से 'डौ' प्रत्यय (उणा० २.६४) करने से 'द्यौ' शब्द सिद्ध होता है । 'द्यौ' के प्रथमा–द्विवचन में 'द्यावौ' रूप बनता है, उसी का वेद में रूपान्तर 'द्यावा' होता है, जैसे–नरा, नासत्या, अश्विना, आदि । और तृतीया–एक वचन में भी 'द्याम' रूप होता है, अतः यास्क ने इस के दोनों अर्थ उपर्युक्त मंत्र में किये हैं । 'आमिमाने' का अर्थ 'अन्योऽन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे' करते हुए यास्क ने 'आ' को 'अधि' अर्थ में माना है । रात्रि तथा उषा परस्पर में मिली हुई हैं । रात्रि का कुछ भाग उषा में रहता है, और उषा का कुछ भाग रात्रि में ॥ ३ । २० ॥

९. दिन–वाची नाम | **अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्, उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि—**

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः। वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ १. ९. ६

अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लंचाहरर्जुनं, विवर्तेते रजसी वेद्याभिः वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। वैश्वानरो जायमान इव उद्यन्नादित्यः सर्वेषां ज्योतिषां राजा अवाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि॥ ४। २१॥

अगले १२ नाम दिन के वाचक है। अहन्—'आङ्' पूर्वक 'हृ' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय (उणा० १. १५८)। आहन्–अहन्। इस में करने वाले कर्म करते हैं। उस 'अहन्' की 'अहश्च कृष्णं' आदि वैश्वानर–देवताक ऋचा में नैघण्टुक वर्णन है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

(जायमानः राजा वैश्वानरः न) उदय होते हुए सब ज्योतिओं के राजा जिस सूर्य की न्याईं, (अग्निः ज्योतिषा तमांसि अवातिरत्) अग्रणी राजा विद्या–ज्योति से अविद्या–अन्धकार को दूर करता है, उस सूर्य के कारण (कृष्णं अहः च, अर्जुनं अहः च रजसी) काला दिन, और श्वेत दिन–ये दोनों रात दिन (वेद्याभिः विवर्तेते) मनुष्यों के लिये ज्ञातव्य अपनी २ प्रवृत्तियों के साथ परस्पर में विरुद्ध–भाव से वर्तमान हैं।

जैसे भाषा में पहले ब्रह्म–मुहूर्त से लेकर दूसरे ब्रह्म–मुहूर्त से पूर्व तक के समय का नाम भी दिन है, उसी प्रकार यहां **'अहन्'** शब्द प्रयुक्त है। रात दिन के जोड़े के लिये आगे ४.२९ में 'रजसी' शब्द पठित है। कृष्ण दिन=रात, शुक्ल दिन=दिन। अवातिरत्=अवाहन्।

१०. मेघ–वाची नाम | **मेघनामान्युत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मा-**

त्? मेहतीति सतः। आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। उपर उपलो मेघो भवति, उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि, उपरता आप इति वा। तेषामेषा भवति—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ १०.२७.२३

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम, प्रतमो भवति। कृन्तत्रम् अन्तरिक्षं, विकर्त्तनं मेघानां। विकर्त्तनेन मेघानामुदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः—पर्जन्यो वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति। अनूपाः,अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव अनूप्यते उदकेन, अपिवाऽन्वाविति स्याद् यथा प्रागिति, तस्यानूप इति स्याद्ध यथा प्राचीनमिति। द्वा बृबूकं वहतः पुरीषं—वाय्वादित्यौ उदकं। बृबुकमित्युदकनाम ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः, भ्रंशतेर्वा। पुरीषं पृणातेः, पूरयतेर्वा॥५।२२॥

अगले ३० नाम मेघ-वाची हैं। मेघ—'मिह' सेचन से कर्त्ता में 'घञ्'। मेह-मेघ। उन मेघ-नामों में 'उपर उपल' से पहले पहले 'फलिग' तक पर्वत के नामों के साथ सांझे हैं। अर्थात् 'फलिग' तक १७ शब्द मेघ, तथा पर्वत-दोनों अर्थों के वाचक हैं। 'उपर' से पूर्व कहना पर्याप्त था, उपर उपल दोनों से पूर्व क्यों कहा गया? इसका अभिप्राय यह है कि उपर, उपल वस्तुतः एक ही शब्द हैं, र ल के अभेद से 'उपर' शब्द ही 'उपल' हो गया है। इसीलिये यास्क ने भी दोनों का एक ही निर्वचन दिखलाया है। अतः दोनों इकट्ठे कह दिये। उपर=मेघ, इस में अभ्र (मेघ का धुन्धियाला पूर्व रूप, जिसे भाषा में 'अबर' के नाम से पुकारते हैं) आकर टिक

जाते हैं, अथवा इस में जल टिका हुआ होता है। 'उप' पूर्वक 'रम्' धातु से 'ड' प्रत्यय। उन उपरों के बारे में 'देवानां माने' आदि ऋचा है। मंत्र का देवता 'इन्द्र' है। ऋचा का अर्थ इस प्रकार है—

(देवानां माने प्रथमाः अतिष्ठन्) देवताओं के निर्माण में वायुएँ मुख्य हैं, क्योंकि वायुएँ ही जीवनाधार हैं, बिना वायु के जगत् की स्थिति असंभव है। (एषां कृन्तत्रात् उपराः उदायन्) इन वायुओं की प्रेरणा से अन्तरिक्ष से मेघ बरसते हैं। (त्रयः अनूपाः पृथिवीं तपन्ति) मेघ, वायु, और आदित्य-ये तीन अनुग्रह करने वाले देव शीत, उष्ण, तथा वर्षा के द्वारा पृथिवीस्थ ओषधिओं को पकाते हैं। (द्वा पुरीषं बृबूकं वहतः) और वायु तथा आदित्य-ये दो देव पालना और पुष्टि करने हारे वृष्टि-जल को हमारे लिये पहुंचाते हैं।

दुर्गाचार्य आदि भाष्यकारों ने जो माध्यमिक देवगण का अर्थ मेघ, और 'उपर' का अर्थ जल किया है—वह यास्क-व्याख्या के सर्वथा विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि मेघ-वाची 'उपर' को सिद्ध करने के लिये ही उपर्युक्त मंत्र दिया गया है।

प्रथम=मुख्य। प्रकृष्टतम-प्रतम-प्रथम। कृन्तत्र-अन्तरिक्ष, क्योंकि यह मेघों का विकर्तन-स्थान है, इसी में मेघ छिन्न भिन्न किये जाते हैं। और मेघों के काटने से वृष्टि-जल पैदा होता है। 'कृती' छेदने धातु से 'कत्रन्' प्रत्यय (उणा० ३.१०९)। तपन्ति=पाचयन्ति। अपने २ कर्मों से यथा-समय लोकों पर (अनुवपन) अनुग्रह करते हैं, अतः मेघ, वायु, तथा आदित्य को 'अनूप' कहा गया। अनूप-(क) अनुगृहीता। 'अनु' पूर्वक 'वप्' के संप्रसारण-रूप 'उप्' धातु से 'क' प्रत्यय (पाणि० ३.१.१३६)। (ख) जल-प्राय देश-यह जलके द्वारा अनुगृहीत होता है। यहां 'अनु' पूर्वक 'उप्' से करण-कारक में 'क' प्रत्यय

है। अथवा 'अनुगता आपोऽत्र'–इस निर्वचन से 'अन्वाप्' की जगह अनूप है, जैसे 'प्राक्' की जगह 'प्राचीन' होजाता है। बृबूक=उदक। शब्दार्थक 'ब्रू' धातु से 'ऊक' प्रत्यय (उणा० ४.४१)। ब्रृ–ऊक बृउ ऊक—बृबूक। अथवा, भ्रंशार्थक 'भ्रश्' धातु से 'ऊक'। भ्रशूक—बृबूक। जल शब्द करने में सहायक है। जब गला सूख जाता है, तब बिना जल पीये बोला नहीं जाता। और जल सदा नीचे की ओर गिरता है। पुरीष—पालनार्थक 'पृ' धातु, या वृद्ध्यर्थक 'पूरी' धातु से 'ईषन्' प्रत्यय (उणा० ४.२७)॥ ५ ।२२॥

---

* सप्तम पाद *

११. वाणी–वाची नाम। वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात्? वचतेः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत्–इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमाविवासेम धीतिभिः॥६.६१.२

इयं शुष्मेभिः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम, शोषयतीति सतः। बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः, वृद्धिकर्मणो वा। सानु समुच्छ्रितं भवति, समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः पारावतघ्नीं पारावारघातिनीं। पारं परं भवति, अवारमवरं। अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम॥१।२३॥

अगले ५७ नाम वाणी के हैं। वाक्—उच्यते अनया सा वाक्, सत्यविद्यां वक्तीति वाक् वेदवाणी। 'वच्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, और दीर्घ (उणा० २.५७)। उन वाणी–वाचक नामों में 'सरस्वती' शब्द

के नदी की न्याई, तथा देवता की न्याई वेद–मंत्र होते हैं। उन में जो देवता की न्याई है, उसकी व्याख्या आगे (११. १८) करेंगे। 'इयं शुष्मेभिः' आदि मंत्र में नदी की न्याई है। यद्यपि इस सूक्त का देवता 'सरस्वती' है, परन्तु यहां सरस्वती का अर्थ नदी है। 'देवता-वत्' से यास्क का अभिप्राय मध्यस्थानीय देवता अर्थात् वाणी, वेद-वाणी, या विद्युत् से है, नदी से नहीं। अब मंत्र का अर्थ देखिए—

(इयं शुष्मेभिः तविषेभिः ऊर्मिभिः) यह नदी प्रचण्ड बड़ी २ लहरों से (गिरीणां सानु) चट्टानों के उन्नत प्रदेशों को (बिसखाः इव अरुजत्) कमल–नाल को तोड़ने वाले मनुष्य की न्याईं बड़ी सुगमता से भग्न कर देती है। (अवसे) आत्म–संरक्षण तथा ज्ञानो-पार्जन के लिये (सुवृक्तिभिः धीतिभिः) सुप्रवृत्त विद्याओं तथा कर्मों के साथ हम उस (पारावतघ्नीं सरस्वतीं आविवासेम) पार वार तोड़ने वाली नदी का सेवन करें। एवं, यहां नदी–तट–निवास का आदेश किया गया है।

शुष्म=बल। 'शुष्' धातु से 'मक्' प्रत्यय (उणा० १.१४४) यह शत्रु को सुखा देता है। बिस=कमल–नाल। यह भेदनार्थक, या वृद्ध्यर्थक 'विस्' धातु से सिद्ध होता है। कमल–नाल (भिस) बड़ी शीघ्रता से टूटने हारा, मल–भेदी, तथा शीघ्र बढ़ने वाला है। सानु—(क) समुच्छ्रितं भवति=ऊंचा होता है। समुच्छ्रित—समु—सानु। (ख) समुन्नुन्नम्=ऊपर प्रेरित होता है, ऊपर की ओर गया हुआ होता है। समुन्नुन्न—समुन्नु—सानु। तविषेभिः=महद्भिः। पारावत=पारावार। अवत=अवार। पर–पार। अवर–अवार। सुवृक्तिभिः=सुप्रवृत्ताभिः कर्मभिः ॥ १ । २३ ॥

१२. उदक-वाची नाम | उदकनामान्युत्तराण्येकशतम्। उदकं

कस्मात् ? उनत्तीति सतः ।

अगले १०१ नाम उदक हैं । 'उदक' शब्द 'उन्दी' क्लेदने धातु से कर्ता में 'कुन्' प्रत्यय (उणा०२·३६) करने पर सिद्ध होता है।

१३.नदी-वाची नाम| **नदीनामान्युत्तराण्येकशतम्। नद्यः कस्मात् ? नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः । बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम्, आश्चर्यमिव प्राधान्येन । तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव । [विश्वामित्रः सर्वमित्रः । सर्वं संसृतं । सुदाः कल्याणदानः । पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः । पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा, अमिश्रीभावगतिर्वा ।] स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः संभेदमाययौ, अनुययुरितरे । स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव, गाधा भवतेति ॥ २।२४ ॥**

अगले १०१ नाम नदी के वाचक हैं । ये चलती हुई शब्द करती हैं, अतः इन्हें नदी कहते हैं । शब्दार्थक 'नद्' धातु से 'घञ्' और स्त्रीलिंग में 'ङीप्' प्रत्यय । वेद में इन नदियों का गौण-भाव से वर्णन बहुत है, प्रधानतया थोड़ा है। अर्थात्, नैघण्टुक देवता के रूप में तो नदियों का वर्णन अधिक पाया जाता है, परन्तु ऐसा वर्णन स्वल्प है, जहां मंत्रों का मुख्य देवता 'नदी' हो । जिस (ऋ० ३. ३३) सूक्त का मुख्य देवता 'नद्यः' है, उस में यह नित्य इतिहास बतलाते हैं—वेद-वेत्ता विश्वामित्र, पैजवन सुदास् राजा का पुरोहित था । [विश्वामित्र=सर्वमित्र , जो सब का हित-चिन्तक हो। सर्व-'सृ' गतौ धातु से 'वन्' प्रत्यय (उणा० १. १५३) । यह फैला हुआ होता है । सुदास्=कल्याणदान, शुभ-कर्म के लिये दान देने हारा । 'सु' पूर्वक 'दा' धातु से 'असुन्' प्रत्यय । पैजवन=पिज-वन का पुत्र । पिजवन=जिसके कर्म स्पर्धा के योग्य हों, अनुकरणीय हों।

स्पर्धनीयजवन-पिजवन । अथवा, जिस के कर्म साफ सुथरे हों, पाप मिश्रित न हों। अमिश्रितजवन-मिजवन-पिजवन । अतः, पैजवन वह हुआ जो अत्यन्त श्रेष्ठ कर्मों वाला हो, अर्थात् श्रेष्ठतम-कर्मा हो। **ऐसे स्थलों में सर्वत्र 'पुत्र' शब्द 'अत्यन्त' का द्योतक होता है, क्योंकि पिताके शुभ या अशुभ गुण पुत्र में पिता से अधिक आ जाया करते हैं।** वेद में अग्नि को बल का पुत्र कहा है (ऋ० २.७६) वहां उसका अर्थ अत्यन्त बलवान् ही अभिप्रेत होता है ।] वह विश्वामित्र सुदास् राजा से धन ग्रहण करके विपाट् शुतुद्री नदिओं के संगम-स्थल पर आया। अन्य शिल्पी आदि कर्मकर उसके पीछे २ आये। वहां पहुंचकर उस विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की कि तुम स्वल्प जल वाली हो जावो।

एवं, इस नदी-सूक्त में नदियों का वर्णन करते हुए वेद ने राजा का कर्तव्य बतलाया है कि वह नगरों की रक्षा के लिये नदियों के तटों को बांधों द्वारा पक्का बनवावे, अवार पार आने जाने के लिये उन पर पुल बंधवावे, और कृषि-रक्षा के लिये उनमें से नहरें आदि निकलवावे। इन सब कर्मों से प्रजा की रक्षा होती है। इस सूक्त की निम्न ऋचाओं में उपर्युक्त वर्णन नदियों तथा वेदज्ञ शिल्पी के वार्तालाप के रूप में है।

पाठकगण विश्वामित्र, विपाट्, शुतुद्री आदि नामों को देखकर संदेह में न पड़ जावें कि इन से तो अनित्य इतिहास का ही पता चलता है। **जब वेद ही एक मात्र ज्ञान का आदिम स्रोत था, और वैदिक भाषा ही सृष्टि की आदि में मनुष्यों की भाषा थी, तब इन्हीं वेदों में से चुन २ कर नदी आदिकों के नाम रक्खे जाने थे। ये नाम वैदिक नामों से भिन्न कैसे हो सकते थे। इसी आशय को स्पष्ट करने वाला मनुस्मृति का यह श्लोक है—**

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ १. २१ ॥

सब पदार्थों के पृथक् २ नाम , कर्म, और व्यवस्थायें वैदिक शब्दों से ही सृष्टि की आदि में परमेश्वर ने निर्माण की हैं। वेद सब सत्य-विद्याओं के पुस्तक हैं। वेद ने सब पदार्थों का सत्य-ज्ञान देते हुए उन के भिन्न २ नाम बतला दिये हैं, विद्वान् मनुष्य उन्हीं नामों को भिन्न २ पदार्थों के लिये लोक में प्रयुक्त करता है।

अपि द्विवदपि बहुवत्। तद्यद् द्विवदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतद् बहुवत्—

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥ ३.३३.५

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने। ऋतावरीः ऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम, प्रत्यृतं भवति। मुहूर्तमेवैरयनैः, अवनैर्वा। मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः, ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः। मुहुर्मूढ इव कालो यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णं अभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेः, प्रक्ष्णुतः कालः। कालः कालयतेर्गतिकर्मणः। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनस ईषया स्तुत्या, प्रज्ञया वा अवनाय। कुशिकस्य सूनुः, कुशिको राजा बभूव क्रोशतेः शब्दकर्मणः, क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्मणः। साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा॥ ३। २५॥

उस नदी-सूक्त में नदियों का वर्णन द्विवचन, तथा बहुवचन, दोनों में आता है। जो द्विवचन में वर्णन है उसकी व्याख्या आगे (९. ३२) करेगें। 'रमध्वं मे वचसे' आदि मंत्रों में बहुवचन में वर्णन है, जो इस प्रकार है—(ऋतावरीः) प्रभूत जल वाली नदियो! (मे सोम्याय वचसे) मेरे शान्ति-संपादक, या ऐश्वर्य-सम्पादक वचन की पूर्ति के लिए (मुहूर्तं एवैः) कुछ काल के लिये अपने

वेग से (उपरमध्वम्) उपराम होजावो, अर्थात् मन्द वेग वाली बन जावो ! (कुशिकस्य सनुः) प्रजा के लिये हितकर बातों का प्रकाश करने वाला मैं (अवस्युः) नगर संरक्षण की इच्छा रखता हुआ, या गमनागमन का मार्ग बनाने की चाहना करता हुआ (बृहती मनीषा) महती दिली इच्छा, या महती विद्या के द्वारा (सिन्धु प्र अच्छ अह्वे) नदी-संगम को भली प्रकार इस वेग की मन्दता के लिये पुकारता हूं।

'साम्य वचन' क्या है ? इस का उत्तर हमें 'अवस्युः' पद से ठीक २ मिल जाता है। 'अव' धातु के अनेक अर्थ हैं, जिन में से रक्षा तथा गति-यह दो अर्थ यहां अभीष्ट हैं। राजा का पुरोहित बांध के द्वारा नगर की, तथा नहर के द्वारा कृषि आदि की रक्षा करता है, और नदियों पर पुल के द्वारा गमनागमन का मार्ग खुला रखता है। यदि ये काम पूर्ण हो जावें तो राष्ट्र में शान्ति स्थापित रहती है, और ऐश्वर्य का संपादन होता है। ऋत=उदक, यह प्रत्येक स्थान में प्राप्त हो जाता है। 'ऋ' धातु से 'क्त' प्रत्यय (उणा० ३. ८६)। एवैः= अयनैः, अवनैः। गत्यर्थक 'इण्' या 'अव' धातु से 'वन्' प्रत्यय (उणा० १. १५२)। मुहु ऋतु-मुहु र्तु-मुहूर्त । ऋतु=काल। मुहूर्त=कुछ काल। मुहुः=मूढः इव कालः=थोड़ा सा समय, जितना की अभीक्ष्ण होता है। अभीक्ष्ण, तथा मुहुः—दोनों समानार्थक हैं। 'मुहुः' अव्यय 'मुह' धातु से 'उसि' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है (उणा०२.१२०)। ऋतु—गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'तु' प्रत्यय (उणा०१.७२) काल गति-शील है। अभिक्षण—अभीक्ष्ण, अर्थात् क्षण मात्र सामने रहने वाला। क्षण—अत्यन्त छोटा काल। हिंसार्थक 'क्षण' धातु से यह सिद्ध होता है। काल—गत्यर्थक 'काल' धातु से 'घञ्' प्रत्यय। प्र अच्छ अह्वे=प्राभिह्वयामि। अच्छ=अभि।

कुशिक—(क) उत्तम वाणी वाला अर्थात् विद्वान्। शब्दार्थक 'कुश' धातु से 'ठक्' प्रत्यय। कुशिक-कुशिक। (ख) विद्या से प्रकाशित। प्रकाशनार्थक 'कंश' धातु से 'ठक्'। कंशिक—कुशिक। (ग) हितकर बातों का बतलाने हारा।-कुशिको राजा बभूव-यह कहते हुए यास्क ने प्राचीन कुशिक राजा का स्मरण दिलाते हुए उपर्युक्त तीनों निर्वचनों को स्पष्ट किया है। पता लगता है कि कोई प्राचीन 'कुशिक' राजा उत्तम वाणी वाला, विद्वान्, तथा हितकर बातों को सदा जतलाने हारा था। अत एव उसका यहां उदाहरण देकर कुशिक के शब्दार्थ को स्पष्ट किया है। यास्क की यह शैली आगे भी सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि वह वेद-गत किसी शब्द के तत्त्वार्थ को समझाने के लिये,उस तत्त्व-ज्ञान को अपने जी वन में ढाले हुए किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम प्रस्तुत कर देता है। उस व्यक्ति का वह नाम ठीक२ अन्वर्थक होने के कारण वेद-मंत्र के उस शब्द का रहस्य विद्यार्थियों को पूर्णतया भास जाता है। इसी शैली का निर्देश भागवत पुराण ने १.४.२८ में इस प्रकार किया है—भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः। अर्थात् भारतेतिहास के मिष से वेद का ही अर्थ प्रदर्शित किया है। यास्क-भाष्य को समझने के लिये इस शैली को भी भुलाना नहीं चाहिए। ३।२५॥

नद्यः प्रत्यूचुः—

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥ ३.३३.६

इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहुः। रदतिः खनतिकर्मा। अपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत्सविता सुपाणिः, कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः, प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्य ऊर्णोतेः,

ऊर्णोतेरित्यौर्णवाभः ॥ ४ । २६ ॥

नदियों ने प्रत्युतर दिया—

(इन्द्रः नदीनां परिधिं वृत्रं अपाहन्) सूर्य ने जलों को घेरने वाले मेघ का नाश किया, और एवं (वज्रबाहुः अस्मान् अरदत्) किरण-रूपी वज्र को हाथ में लिये हुए उस सूर्य ने हमें खोदा है। (सुपाणिः देवः सविता अनयत्) और वह प्रकाशमान प्रेरक सूर्य हमें पकड़कर समुद्र की ओर लाया है। (वयं उर्वीः तस्य प्रसवे यामः) हम नदियें उस सूर्य की आज्ञा में चल रही हैं। अर्थात्, सूर्य जैसा महान् देव हमें बनाता है, और वह ही हमें चलाता है। इस लिये वह ही हमें वेग की मन्दता के लिये आज्ञा दे सकता है, तुम्हारा इस आज्ञा देने में कोई सामर्थ्य नहीं। एवं, इस मंत्र में बड़े सुन्दर शब्दों में नदियों की उत्पत्ति, तथा उनका नीचे समुद्र की ओर बहना बतलाया गया। और साथ ही यह भी बतला दिया कि नदियों का रोकना कोई साधारण काम नहीं, इस में बड़े यत्न की अपेक्षा है।

'अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्' की व्याख्या २.१७ में हो चुकी है। वहां लिख आये हैं कि वृत्र का अर्थ मेघ है, उस मेघ ने जलों को रोका हुआ है, और सूर्य या विद्युत् उस मेघ को छिन्न भिन्न करता है। सुपाणिः-कल्याणपाणिः। पाणि—पूजार्थक 'पण' धातु से 'इण्' प्रत्यय (उणा० ४.१३३)। दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार द्वारा पूज्य देव की मनुष्य पूजा करते हैं। नदी-वाचक 'उर्वी' शब्द निघण्टु में पठित है। आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' धातु से 'उ' प्रत्यय (उणा० १.३०)। ऊर्णु उ-उरु। 'उरु' से 'ङीष्' (पाणि० ४.१. ४४)। अथवा 'वृञ्' आच्छादने के संप्रसारण—रूप 'उर्' से 'उ' प्रत्यय है—ऐसा और्णवाभ निरुक्तकार मानता है। नदियें बहुत स्थान

को जल से आच्छादन करने वाली हैं ॥ ४।२६ ॥

प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः—

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।
निते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥ ३.३३.१०

आशृणवाम ते कारो ! वचनानि । याहि दूरादनसा रथेन च । निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रं । मर्य्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमै, इति वा ॥ ५ । २७ ॥

नदियों ने प्रत्याख्यान करके अन्त में उस शिल्पी की बात सुनली, और कहा, (कारो ! ते वचांसि आशृणवाम) हे शिल्पिन् ! हमने तेरे वचनों को सुन लिया । (अनसा रथेन ययाथ) तू गड्डे, और रथ के साथ निकल जा । (दूरात्) क्योंकि तू दूर से आया हुआ है, अतः तेरी इच्छा पूर्ण करनी चाहिये । (पीप्याना योषा इव ते निनंसै) हम पुत्र को दूध पिलाने वाली स्त्री के समान नीचे होगई हैं, (शश्वचै मर्याय कन्या इव ते) और, जैसे पिता को आलिङ्गन करने के लिये लड़की नीचे झुक जाती है, एवं हम तेरे लिये नीचे झुक गई हैं ।

इस प्रकार अन्त में वेद ने आज्ञा दी कि अधिक प्रयत्न करने पर नदियों का वेग रोका जा सकता है, और फिर पुल, बांध, तथा नहरें आदि बनाई जा सकती हैं ।

निनंसै=निनमाम, निनमै । 'नम्' धातु के ये दोनों रूप क्रमशः परस्मैपद, तथा आत्मनेपद में हैं ॥ ५ । २७ ॥

१४. अश्व-वाची नाम | अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः । तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत् । अश्वः कस्मात् ? अश्नुतेऽध्वानं, महाशनो भवतीति वा । तत्र दधिक्रा इत्येतद्द दधत्क्रामतीति वा, दधत्क्रन्दतीति

वा, दधदाकारी भवतीति वा। तस्याश्ववद्देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद्देवतावद् उपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतदश्ववत्—

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा अनुसन्तवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्॥ ४.४०.४॥

अपि स वाजी वेजनवान् क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानं ग्रीवायां बद्धः। ग्रीवा गिरतेर्वा, गृणातेर्वा, गृह्णातेर्वा। अपि कक्ष आसनीति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः, कर्म वा प्रज्ञां वा। अनुसन्तवीत्वत्, तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। पथामङ्कांसि, पथां कुटिलानि। पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा पन्थतेर्वा। अङ्को ऽञ्चतेः। आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्।

अगले २६ नाम अश्व के वाचक हैं। उन में 'अव्यथयः आदि अन्तिम ८ नाम बहुवचनान्त हैं। अश्व-(क) मार्ग को व्यापन करता है—बड़ी तेजी से दौड़ता है। 'अशूङ् व्याप्तौ धातु से 'क्वन्' प्रत्यय (उणा० १. १५१)। (ख) अथवा, यह बहुत खाने वाला होता है। 'अशु' भोजने से 'क्वन्' प्रत्यय। उन अश्व-नामों में 'दधिक्रा' शब्द भी पठित है। उसके ये निर्वचन हैं-(क) दधत् क्रामति' सवार को धारण करते ही चल पड़ता है। दधत् पूर्वक 'क्रम्' धातु से 'विट्' और अनुनासिक 'म्' को आत्व (पाणि० ३. २.६७,६.४.४१)। दधत् क्रा-दधिक्रा। (ख) दधत् क्रन्दति, सवार को धारण करके हिनहिनाता है। दधत् क्रन्द् विट्-दधत् क्राद्-दधिक्रा। (ग) दधत् आकारी भवति-सवार को धारण करके विशेष आकार वाला होता है। 'दधत्' तथा 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से क्विप्, तथा 'ऋ' को यणादेश। दधत् आकृ-दधत् क्र्आ-दधिक्रा। दधिक्रा के अश्व की न्याईं, तथा देवता की न्याईं वेद-मंत्र होते है। उन में जो देवता की न्याईं

है, उस की व्याख्या आगे (१०. १६) करेंगें। 'उत स्य वाजी' आदि मंत्र में अश्व की न्याईं हैं। यद्यपि इस सूक्त (४. ४०) का देवता 'दधिक्रा' है परन्तु यहां उसका अर्थ अश्व है। देवतावत्' से यास्क का अभिप्राय मध्यस्थानीय देवता इन्द्र, या वायु से है। अब मंत्र का अर्थ देखिए—

(उत स्यः वाजी) और वह वेगवान् घोड़ा (ग्रीवायां, कक्षे, अपि आसनि बद्धः) गर्दन, कांख, और मुख में बांधा हुआ (क्षिपाणिं तुरण्यति) चाबुक के इशारे से ही दौड़ पड़ता है। (दधिक्राः पथां अङ्कांसि अन्वापनीफणत्) ऐसा प्रशस्त घोड़ा मार्ग के कुटिल स्थलों को–उच्च नीच प्रदेशों को, अर्थात् टीले या गड्ढे आदिकों को एक के बाद एक करके फाँद जाता है। और एवं, (क्रतुं अनुसन्तवीत्वत्) सवार के कर्म या विचार को तदनुकूल पूर्ण कर देता है।

ग्रीवा—'गॄ' निगरणे, 'गॄ' शब्दे, या ग्रहणार्थक 'ग्रह' धातु से 'वन्' प्रत्यय तथा धातु को 'ग्रीं' आदेश (उणा०१.१५४)। इस से अन्न निगला जाता है, शब्द किया जाता है, और गर्दन से प्राणी पकड़ा जाता है। अपि कक्षे, आसनि–इति व्याख्यातम्—'आस्य' की व्याख्या १.८ में की है। उसी आस्य को पाणि०.६.१.६३ से 'आसन्' आदेश हो जाता है। 'कक्ष' की व्याख्या २.१.३ में की गई है। क्रतु=कर्म, प्रज्ञा। संतवीत्वत्—'सम्' पूर्वक 'तनु' विस्तारे धातु की पहली प्रकृति से यह आख्यात-रूप है। 'प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च। णयन्तो णयन्तसनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते'। के अनुसार धातुयें ६ प्रकार की हैं। उन में से 'संतवीत्वत्' धातु के पहले असली रूप का शब्द है। पथिन्—गत्यर्थक पत्, पद्, या पथि धातु से 'इनि' प्रत्यय (उणा०४.१२)। अङ्कस्–'अञ्चू'

धातु से 'असुन्' प्रत्यय (उणा० ४.२१६) अञ्चस् अङ्कस्। यद्यपि 'अञ्चू' धातु सामान्यतः गत्यर्थक है, परन्तु यहां कुटिल गति के अर्थ में मानी गई है। आपनफिणत्—'आङ्' पूर्वक 'फण' धातु का यङ्लुगन्त रूप है।

१५-१७ खण्ड | **(१५) दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय। (१६) ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव एकादश। (१७) तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि॥ ६। २८॥**

(१५) अगले अश्व-वाची १० नाम विशेष २ देवताओं के साथ आदिष्ट प्रयोग वाले हैं—ऐसा वेदज्ञ लोग साहचर्य-ज्ञान के लिये बतलाते हैं। इन्द्र के साथ 'हरी' का प्रयोग आता है। ताण्ड्य ब्राह्मण (६.१.१) में लिखा है 'पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति'। एवं, दोनों पक्ष इन्द्र (सूर्य) के दो 'हरि' हैं। 'ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐत० ब्रा० २.३.६) इस में इन्द्र (जीवात्मा) के हरी (धारण करने वाले) ऋक् तथा साम वेद कहे हैं। इसी प्रकार अन्य ६ का भी भिन्न २ देवताओं के साथ योग समझना चाहिए।

(१६) अगली ११ धातुएँ दीप्त्यर्थक हैं। (१७) उतने ही, अर्थात् ११ ही, प्रदीप्त होने वाले द्रव्य के नाम हैं॥६।२८॥

इति पर्यन्तं पाठविधिः कृतः। Shravan

तृतीय अध्याय।

* प्रथम पाद *

इस अध्याय के पहले दो पादों में निघण्टु का द्वितीयाध्याय, और अन्तिम दो पादों में तृतीयाध्याय व्याख्यात है।

१. कर्म-वाची नाम | **कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। कर्म कस्मात्? क्रियत इति सतः।**

अगले २६ नाम कर्म के वाचक हैं। जो किया जावे वह कर्म कहलाता है। कर्मन्—'कृ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय (उणा० ४.१४५)।

२. अपत्य-वाची नाम | **अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। अपत्यं कस्मात्? अपततं भवति, नानेन पततीति वा॥ १॥**

अगले १५ नाम सन्तान के वाचक हैं। अपत्य-(क) अपततं भवति, सन्तान पिता से पृथक् होकर वंश को फैलाने वाली होती है। 'अप' पूर्वक 'तनु' विस्तारे धातु से 'यक्' प्रत्यय (उणा० ४.११२)। (ख) न अनेन पतति—अथवा, सन्तान के जाने पर पितृ-वंश नष्ट नहीं होता, और न पिता वृद्धावस्था में दुःख को पाता है। 'नञ्' पूर्वक 'पत्' धातु से 'यक्'॥ १॥

औरस-पुत्र-लाभ ही अभीष्ट है। | **तद्यथा जनयितुः प्रजैवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः—**

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥७.४.७

परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यम् अरणस्य रेक्णः। अरणोऽपार्णो

भवति। रेक्ण इति धननाम रिच्यते प्रयतः। नित्यस्य रायः पतयः स्याम, पित्र्यस्येव धनस्य। न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति। शेष इत्यपत्यनाम, शिष्यते प्रयतः। अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति। मा नः पथो विदूदुष इति॥ २॥

उन पितृ-सेवा आदि कार्यों के लिये औरसादि पुत्रों में से मुख्यतः पुत्रता किसकी है? इस विषय का अब विवेचन किया जाता है। धर्म के जानने वाले पुरुष विवाद करते हैं कि क्या क्षेत्र वाले पुरुष का अपत्य है, या वीज वाले का? इस पर यास्काचार्य उत्पन्न करने वाले, अर्थात् वीजवाले पुरुष की सन्तान है-इस विषय में प्रमाण के तौर पर ऋग्वेद के दो मंत्रों का उल्लेख करते हैं। उन में से पहले मंत्र 'परिषद्यं ह्यरणस्य' का अर्थ इस प्रकार है—

(अरणस्य रेक्णः परिषद्यं हि) बेगाने की सन्तान त्यक्तव्य ही है, अर्थात् दूसरे की सन्तान को अपनी सन्तान नहीं समझना चाहिए। (नित्यस्य रायः पतयः स्याम) इस लिये हम निश्चित, स्थिर सन्तान के मालिक हों। (अग्ने ! अन्यजातं शेषः न अस्ति) हे परमेश्वर! दूसरे से उत्पन्न हुई २ सन्तान हमारी नहीं होती, (अचेतानस्य) मूढ़ या प्रमादी मनुष्य की ऐसी सन्तान होती है। (पथः मा विदुक्षः) अतः, हे अग्ने! इस धर्म-पथ से हमें मत च्युत करो, हमें औरस पुत्र प्रदान करो।

परिषद्यं=परिहर्तव्यम्=परित्यक्तव्यम्। न उपसर्तव्यम्=ऐसी सन्तान प्राप्तव्य नहीं। अरणः=अपार्णः=अपगतः। रेक्णस्=धन, प्रयतः रिच्यते—यह स्वामी के मरने पर रिक्त रह जाता है, यहीं छूट जाता है। 'रिच्' धातु से 'असुन्' और 'नुट्' का आगम (उणा० ४.१९९)। (नित्यस्य रायः०) जैसे, पुत्र पैत्रिक संपत्ति का निश्चित तौर पर

मालिक होता है, इसी प्रकार हम भी निश्चित तौर पर संतान के मालिक हों। और यह तभी हो सकता है जब कि सन्तान हमारे से उत्पन्न हो। शेप=अपत्य, प्रयतः शिष्यते—पिता के मरने पर सन्तान अवशिष्ट रह जाती है। अचेतानस्य=अचेतयमानस्य=प्रमत्तस्य। यहां पर धन वाची 'रै' तथा 'रेक्णस्' शब्द सन्तान के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अतः, पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि वेद में सन्तान आदिक को भी धन के नाम से निर्दिष्ट किया गया है॥ २॥

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधाचिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥ ७.४.८

नहि ग्रहीतव्योऽरणः, सुसुखतमोऽप्यन्योदर्यः। मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्र इति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति, यत आगतो भवति। ओक इति निवासनामोच्यते। ऐतु नो वाजी वेजनवान्, अभिषहमाणः सपत्नान्, नवजातः। स एव पुत्र इति॥३॥

इस विषय के अधिक प्रतिपादन के लिये यह अगली ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—(अरणः नहि ग्रभाय) बेगाना पुत्र कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए। (सुशेवः उ अन्योदर्यः मनसा मन्तवै) और अत्यन्त सुखकारी होने पर भी दूसरे की स्त्री के पेट से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी नहीं सोचना चाहिए कि यह मेरा पुत्र है, (अध पुनः इत् ओकः चित् एति) क्योंकि ऐसा पुत्र फिर भी अपने उसी स्थान को चला जाता है, जहां से कि आया होता है। (नः वाजी, अभीषाट्, नव्यः ऐतु) अतः, हमें बलवान्, शत्रुओं का पराभव करने वाला, तथा नवजात या स्तुत्य पुत्र प्राप्त हो। (सः) वह ही सच्चा पुत्र है। अध=अथ=यतः। ओकम्=निवास।

'उच' समवाये धातु से 'असन्' प्रत्यय (उणा० ४.२१६) ॥३॥

दाय भाग के अधिकारी कौन है ? | अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति । पुत्र-दायाद्य इत्येके—

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्संशग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ ३.३१.१.

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्म्मणे दुहितुः पुत्रभावम् । दुहिता दुर्हिता–दूरे हिता, दोग्धेर्वा । नप्तारमुपागमद्द दौहित्रं पौत्रमिति । विद्वान् प्रजननयज्ञस्य, रेतसो वा–अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य—विधानं पूजयन् । अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति । तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवो ऽब्रवीत ॥

इस 'शासद्वह्निः' आदि ऋचा को कई कन्या के दायभागित्व में प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं, और कई पुत्र के दायभागी होने में । जो आचार्य इस मंत्र से कन्या का दायभाग सिद्ध करते हैं, वे केवल मंत्र के पूर्वार्ध को ही पेश करते हैं, उत्तरार्ध को छोड़ देते हैं । यदि उत्तरार्ध–सहित संपूर्ण मंत्र को देखा जावे तो उनका पक्ष पुष्ट नहीं होता । संपूर्ण मंत्र से पता लगता है कि जब किसी के पुत्र उत्पन्न न हो, तो वह अपनी कन्या को पुत्रस्थानीय समझ ले, और एवं उस पुत्री से उत्पन्न होने वाला दौहित्र उसका पौत्र होता है । इससे तो स्पष्टतया यह ही परिणाम निकलता है कि किसी पुत्र के न होने पर कन्या को पुत्र–स्थानीय मानने से ही, उसे दाय-

भाग का अधिकार है, अन्यथा नहीं । यदि कन्या को पुत्रस्थानीय न माना जाता, तो उसे कोई अधिकार न होता । अतः दूसरे आचार्य इस मन्त्र से पुत्र का दायभागी होना ही सिद्ध करते हैं ।

पूर्वपक्ष के अनुसार यास्काचार्य भी मंत्र के पूर्वार्ध का ही पहले अर्थ देते हैं, जो इस प्रकार है—(वह्निः दुहितुः शासत्) विवाहित पुरुष सन्तान कर्म के लिये अपनी पुत्री के पुत्रभाव को प्रख्यापित करता है । (ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्) और एवं, गर्भाधान-यज्ञ, या अङ्ग अङ्ग से पैदा हुए, हृदय से प्रकट हुए, और माता के गर्भाशय में पहुंचे हुए वीर्य के विधान को समान जानता हुआ (नप्त्यं गात्) उस पुत्री से पौत्र को पाता है, अर्थात् दौहित्र को पौत्र समझता है।

गर्भाधान-यज्ञ के मंत्र, और गर्भाधान-विधि, पुत्र तथा पुत्री—दोनों के पैदा करने में समान हैं । इसी प्रकार वीर्य का प्रक्षेप भी एक जैसा है । जब कन्या, और पुत्र की उत्पत्ति एक ही धर्म-मर्यादा से हुई है, तो कन्या के साथ पुत्र-भाव से न बर्तने में कोई कारण नहीं दीख पड़ता । एवं, इस मंत्रार्थ में पुत्री को भी पुत्र ही कहा गया है, अतः पुत्री का भी दायभाग में अधिकार है।

दुहितृ—(क)दुर्हिता = दूरे हिता। दुर्हिता-दुहिता । यहां दूर अर्थ में 'दुर्' का प्रयोग किया गया है, जैसे कि "सा वा एषा देवता दूर्नाम, दूरं ह्यस्याः मृत्युः"—इस बृहदारण्यकोपनिषद् के वचन (१.३.६) में मृत्यु से दूर होने के कारण प्राण का 'दुर्' नाम बताते हुए 'दुर्' को दूरार्थक माना है । इस निर्वचन से स्पष्टतया ज्ञात होता कि कन्या का विवाह दूर देश में करना चाहिए समीप में नहीं । समीप-प्रदेश में विवाह करने से अनेक हानिओं की संभावना है । (ख) अथवा, 'दुह' धातु से 'तृन्'

प्रत्यय, और इडागम (उणा० २. ६५) । पुत्री सदा पिता से कुछ न कुछ पदार्थ दोहती रहती है । ऋत=यज्ञ, वीर्य । माता के गर्भाशय में 'ऋत' अर्थात् पहुंचने वाला होता है अतः इसे 'ऋत' कहा गया ।

एवं उपर्युक्त मंत्रार्द्ध से सिद्ध हुआ कि बिना किसी भेद के सामान्यतः स्त्री पुरुष-ये दोनों पुत्र दाय-भाग के अधिकारी हैं । यह बात ऋचा और श्लोक से भी कही गई है। 'अंगादंगात्' आदि वचन ऋग्वेद की किसी शाखा का प्रतीत देता है । गोभिल गृह्य सूत्र २.८.२१, तथा मानव गृ०सू० १.१८.६ में प्रवास से लौट कर पुत्र के सिर पर दोनों हाथ धरकर इस वचन को उच्चारण करने का विधान किया है । इसी प्रकार 'अविशेषेण पुत्राणां' आदि श्लोक भी किसी प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ का है । दोनों वचनों के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(क) हे पुत्र ! तू मेरे अंग २ से उत्पन्न हुआ है, और मेरे हृदय से प्रकटा है, इसलिये तू पुत्र नाम वाला मेरा ही स्वरूप है । तू सौ शरद् ऋतुओं तक जीवन धारण कर । यहां शरद् ऋतु का विशेषतया उल्लेख इस लिये किया गया है कि आश्विन, कार्तिक की-इस ऋतु में ही रोगों का प्रकोप अधिक होता है, अतः उन रोगों से रक्षा के निमित सौ शरद् ऋतुओं की आयु मांगी गई है ।

(ख) बिना किसी भेद के सामान्यतः स्त्री पुरुष—दोनों पुत्रों का धर्मानुसार दायभाग होता है—यह सृष्टि की आदि में स्वायम्भुव मनु ने कहा है ।

"स्वायम्भुव मनु सृष्टि के आदि में पहला मनु हुआ है, उसके बाद स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष—यह पांच मनु और हो गये हैं, सातवां मनु वैवस्वत था जिसके नाम से मनुस्मृति अत्यन्त प्रसिद्ध है । उस सातवें मनु ने भी अपने स्मृति-ग्रन्थ में 'यथैवात्मा

तथा पुत्रः पुत्रेन दुहिता समः । तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्' ॥ (९.१३०)-यह वचन कहा है ।

उपर्युक्त दोनों वचनों में से ऋचा से तो कन्या तथा पुत्र की उत्पत्ति में अभेद, और श्लोक से दोनों के दायभागी होने में अभेद दिखलाया गया है । यह ही मंत्र के पूर्वार्द्ध का आशय है ।

द्वितीय पक्ष
कन्या का अधिकार नहीं

न दुहितर इत्येके । (क) तस्मात्पुमान्दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते । (ख) तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च । (ग) स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः । पुंसोऽपीत्येके, शौनःशेपे दर्शनात् ॥ ४ ॥

कन्यायें दायभागिनी नहीं—ऐसा कई आचार्य मानते हैं । इस के लिये वे लोग किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ के दो प्रमाण उद्धृत करते हैं, और एक युक्ति देते हैं । उन में से पहला प्रमाण तो यह है—"इस लिये पुरुष दायभागी है, स्त्री दायभागिनी नहीं" । और दूसरा, "इसलिये गृह में उत्पन्न कन्या को विवाह-काल में दूसरे को प्रदान कर देते हैं, परन्तु पुत्र को नहीं" । अर्थात् कन्या तो दूसरे घर में चली जाती है, और पुत्र पितृ गृह का स्वामी बनता है । और, युक्ति यह है कि कन्याओं का दान, विक्रय, तथा परित्याग किया जाता है, पुत्र का नहीं । विवाह में धर्म पूर्वक बिना कुछ लिये कन्या-दान प्रसिद्ध ही है । वर-पक्ष से कुछ निश्चित रकम लेकर जो कन्या का विवाह किया जाता है, वह कन्या-विक्रय है । एवं, स्वेच्छा-विचरण के लिये कन्या को घर से निकाल देना कन्या-परित्याग है । यदि कन्या भी दाय-भाग की अधिकारिणी होती तो पुत्र की न्याई उसका दानादि न किया जाता । अतः, सिद्ध होता है कि कन्या दायभागिनी नहीं ।

परन्तु पहले पक्ष वाले इस हेतु को नहीं मानते। वे कहते हैं कि दान, विक्रय, तथा अतिसर्ग तो पुरुषों का भी होता है। स्मृति-ग्रन्थों में दत्तक, क्रीतक पुत्र प्रसिद्ध ही हैं। किसी विशेष हेतु से पुत्र को भी घर से निकाल दिया जाता है। सगर का पुत्र असमंजस, विजयसिंह का पुत्र सिंहबाहु आदि घर से निकाले ही गये थे। 'शुनःशेप' के आख्यान में शुनःशेप का विक्रय देखा जाता है। अजीगर्त के शुनःशेप, शुनःपुच्छ, शुनोलाङ्गूल—ये तीन पुत्र थे। एक समय अजीगर्त बुभुक्षा से अत्यन्त पीड़ित हुआ २ जंगल में विचर रहा था। तब हरिश्चन्द्र ने १०० रु० देकर शुनःशेप को खरीद लिया। अतः, दान विक्रय, तथा अतिसर्ग की युक्ति से हम कोई परिणाम नहीं निकाल सकते।

सिद्धान्त पक्ष—अभ्रातृका कन्या का अधिकार है।

अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम्।

अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥ अथर्ववेद १.१७.१

अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मानः, इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

जिस कन्या का कोई भाई नहीं, उसके विषय में यह पूर्वोक्त वचन है—ऐसा अन्य मत है। अर्थात्, 'अविशेषेण पुत्राणां' आदि श्लोक में जो **धर्मतः** वचन है, उस से यह ही पता लगता है कि भाई के न होने पर कन्या भी धर्मानुसार दायभाग का अधिकार रखती है। इसी बात को पूर्वोल्लिखित मनु-श्लोक (९.१३०) में स्पष्ट किया गया है। एवं, 'तस्मात् पुमान्दायादः' आदि ब्राह्मण-वचन का भी यह ही अभिप्राय है कि भाई, बहिन-दोनों के होने पर पुत्र दायभागी हैं, कन्या नहीं। इसी पक्ष की पुष्टि के लिये यास्क 'अमूर्या

यन्ति' आदि वेद–मंत्र का उल्लेख करते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१.१७.१) में कुछ पाठ–भेद के साथ पाया जाता है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—(अमूः याः लोहितवाससः सर्वाः जामयः यन्ति) ये जो वस्त्रों को लोहू लोहान करने वाली सारी नाड़ियें बह रही हैं, (अभ्रातरः योषाः इव) वे भाई रहित कन्या की न्याई (हतवर्त्मनः तिष्ठन्ति) बन्द मार्ग वाली होकर ठहर जाती हैं। जैसे भाई रहित कन्या सन्तान–कर्म, अर्थात् माता पिता की वृद्धावस्था में अन्नादि के द्वारा सेवा के लिये विवाह से रुक जाती है, उसी प्रकार ये नाडियें गर्भ के पोषण के लिये रक्त–स्राव से रुक गई हैं। जब गर्भ स्थित हो जाता है, तब उस गर्भ की पुष्टि के लिये स्त्रियों का मासिक–धर्म बन्द हो जाता है।

एवं, इस मंत्र में अभ्रातृका कन्या का विवाह–निषेध उपमा रूप में वर्णित है। इसी सिद्धान्त को मनु ने ३.११ में इस प्रकार कहा है—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया॥

अर्थात् जिस कन्या का कोई भाई न हो, उससे बुद्धिमान् विवाह न करे, क्योंकि शायद वह पुत्रिका–धर्म का पालन करने वाली हो। 'पुत्रिका' उस पुत्र–समान कन्या का नाम है जिस का प्रथम पुत्र अपने नाना की गोद में धर्मानुसार देना पड़े। जो पुरुष इस नियम को निवाहने में तत्पर हो, वह बेशक उस कन्या से विवाह करे दूसरा नहीं।

'पिण्डदानाय' का अर्थ मैनें 'अन्नादि के द्वारा सेवा के लिये' इस कारण से किया है कि मनु० ३.११ के **'अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्। यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्'॥**

इस श्लोक में 'स्वधाकरम्' का प्रयोग है, और 'स्वधा' शब्द अन्न-वाची सुप्रसिद्ध है।

एवं, सन्तान-कर्म के लिये अभ्रातृका कन्या के विवाह-निषेध से यह भी स्पष्ट परिणाम निकलता है कि ऐसी कन्या का दायभाग में अधिकार है। इस विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिये अगली ऋचा है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥ १. १२४.७

अभ्रातृकेव पुंसः पितॄनेत्यभिमुखी, सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय, न पतिं। गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्तः सभास्थाणुः, गृणातेः, सत्यसंगरो भवति। तं तत्र याऽपुत्रा, याऽपतिका साऽरोहति, तां तत्राक्षैराघ्नन्ति, सा रिक्थं लभते। श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते, गुरतेः, अपगूर्णो भवति। श्मशानं= श्मशयनं। श्म=शरीरं। शरीरं शृणातेः, शम्नातेर्वा। श्मश्रु लोम, श्मनि श्रितं भवति। लोम लुनातेः, लीयतेर्वा। 'नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद्गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः" इत्यपि निगमो भवति। रथोऽपि गर्त उच्यते, गृह्णातेः स्तुतिकर्मणः, स्तुततमं यानम्। "आरोहथो वरुण मित्र गर्तम्" इत्यपि निगमो भवति। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु, उषा हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणीति चतस्र उपमाः। "नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति" इत्यभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः, पितुश्च पुत्रभावः।

देवता—उषा। (अभ्राता इव पुंसः प्रतीची एति) जैसे भ्रातृ-रहिता स्त्री लौटकर मातापितादिकों की ओर अन्नदानादि सन्तान कर्म के लिये आती है, एवं अभ्रातृका उषा पितृस्थानीय सूर्य की ओर

प्रकाश—प्रदान के लिये आती है। (धनानां सनये गर्तारुक् इव) जैसे धन–प्राप्ति के लिये कोई पति–पुत्र–विहीना स्त्री न्याय–सभा–मण्डप पर आरोहण करती है, एवं उषा प्रकाश–रूपी धन–लाभ के लिये अन्तरिक्ष पर आरूढ़ होती है। (सुवासाः पत्यै उषती जाया इव) जैसे मासिक रजोदर्शन–काल में अपवित्र वस्त्रों को धारण किये हुई स्त्री, उसके पश्चात् उत्तमोत्तम स्वच्छ तथा सुन्दर वस्त्र धारण करके पति की इच्छा रखती हुई, उसके साथ रमण करती है, एवं रात्रि–काल में अन्धकार–रूपी मैले वस्त्रों को पहिने हुई उषा, उस रात्रि के पश्चात् प्रकाश–रूपी सुन्दर वस्त्रों को धारण करके सूर्य के साथ रमण करती है। (हस्रा इव उषाः अप्सः निरिणीते) और जैसे, हंसने वाली स्त्री श्वेत–दाँतों को प्रकाशित करती है, एवं उषा जगत् के रूपों को दर्शाती है। एवं, यहां चार उपमाओं से उषा–काल का वर्णन किया गया है।

'अमूर्या यन्ति' आदि मंत्र में 'भ्रातृ–हीना कन्याओं की न्याईं ठहरें'–इससे अभ्रातृका कन्या के विवाह–निषेध, तथा उसके पुत्र–भाव का अनुमान होता था। परन्तु इस ऋचा में पहली उपमा के द्वारा यह प्रत्यक्ष कर दिया कि वह भ्रातृ–हीना स्त्री उलटी पितृ–गृह की ओर आती है, अर्थात्, उसकी सन्तान नाना की सन्तान होती है। इसलिये अपनी सन्तान चाहने वाले को वह नहीं ब्याहनी चाहिये।

'गर्तारोहिणी' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यहां यास्काचार्य देशाचार की व्यवस्था का आश्रय लेते हैं, और कहते हैं कि दाक्षिणात्यों में यह रीति प्रचलित है कि यदि किसी स्त्री का पुत्र या पति न रहे, और उसके पास अपने पोषण के लिये धन न हो, तो वह स्त्री धन–लाभ के लिये राज–सभा के मंच पर आरूढ़ होती है, उसको

वहां राजपुरुष प्रश्नोत्तरों से (जिरह से) दबाते हैं । यदि वह इस प्रकार दबती नहीं, और प्रश्नों के उत्तर ठीक २ देकर सच्ची मालूम पड़ती है, तब उसे धन दे दिया जाता है । संस्कृत=कोषों में 'अक्ष' शब्द इन्द्रिय–वाची भी प्रसिद्ध है । अतः, यहां 'अक्ष' का अर्थ 'वागिन्द्रिय' करते हुए तज्जन्य प्रश्नोत्तर किया है । जिन भाष्यकारों ने 'अक्ष' का अर्थ 'पासा' करके उन से मारने का अभिप्राय प्रकट किया है, वह यहां संगत नहीं होता । एवं, इस देशाचार की व्यवस्था से 'गर्त' का भाव स्पष्ट किया गया है ।

गर्त—(क) सभास्थाणु= राज–सभा का मंच, क्योंकि वहां सत्य ही बोला जाता है । 'गृ' शब्दे धातु से 'तन्' प्रत्यय (उणा० ३.८६) । (ख) श्मशान—भूमि, यह लोक–विनाश के लिये उद्यत रहती है । 'गुरी' उद्यमने धातु से 'तन्' प्रत्यय, गूर्त–गर्त । श्मशयन–श्मशान, अर्थात् शरीरों का सदा के लिये शयन–स्थान । श्मन्=शरीर । हिंसार्थक 'शृ' या 'शम्' धातु से 'शरीर' सिद्ध होता है (देखो निरु० २.१६) । 'श्मन्' शब्द भी 'शम्' धातु का ही रूप है । श्मश्रु=दाढ़ी मूंछ के लोम, ये शरीर के आश्रित रहते हैं । 'श्मन्' पूर्वक 'श्रिञ्' धातु से 'डु' प्रत्यय । लोमन्—'लूञ्' या 'लीङ्' श्लेषणे धातु से 'मनिन्' प्रत्यय (ऊणा० ४.१५१) । लोम काटे जाते हैं, और ये शरीर, या वस्त्रों पर आश्लिष्ट हो जाते हैं । 'गर्त' शब्द श्मशानार्थक होता है—इसकी पुष्टि के लिये यास्काचार्य 'नोपरस्याविष्कुर्यात्' आदि किसी ब्राह्मण का निगम, अर्थात् स्पष्ट प्रमाण पेश करते हैं । उसका अर्थ यह है कि यजमान यज्ञ–भूमि में उपर को नंगा न रक्खे । यदि वह उसे नंगा रखेगा, तो यजमान श्मशान में स्थिति वाला, अर्थात् (प्रमायुक) शीघ्र मरने वाला होगा । यहां

'गर्तेष्ठाः' का अर्थ 'प्रमायुकः' करते हुए ब्राह्मण ने स्पष्ट तौर पर 'गर्त' को श्मशानार्थक प्रदर्शित किया है। यज्ञ-स्तम्भ का जो अन-छिला हिस्सा गाड़ने के लिये रखा जाता है, उसे यहां 'उपर' कहा गया है। उस उपर को यज्ञ-भूमि में सदा ढांप के रखना चाहिए, खुला न रखना चाहिए। खुला रखने से आँखों को बुरा लगता है, और उससे यज्ञ की शोभा नष्ट होती है। यजमान के दिल में इस आवश्यक बात को भली प्रकार बैठाने के लिये 'प्रमायुक' शब्द से अत्युक्ति-पूर्ण भय दर्शाया है। (ग) रथ, यह यान प्रशस्त होता है। स्तुत्यर्थक 'गॄ' धातु से 'तन्'। रथ-वाची 'गर्त' शब्द निम्न मंत्र में है—

हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं च दितिं च ॥ ५.६२.८

देवता—मित्रावरुणौ। (वरुण ! मित्र !) हे निर्वाचित राजन्, तथा सब के हितचिन्तक मंत्रिन् ! (उषसः व्युष्टौ, सूर्यस्य उदिता) उषा-काल के निकलने, और सूर्य के उदय होने पर (हिरण्यरूपं अयःस्थूणं गर्तं आरोहथः) आप दोनों सुवर्ण की न्याईं चमकने वाले, तथा सुवर्ण-स्तम्भों वाले रथ पर सवार हूजिए, (अतः) और तत्पश्चात् (अदितिं दितिं च चक्षाथे) अदीन-आत्मपक्ष को, और दीन-प्रजापक्ष को स्वयं देखिए। अर्थात् यदि किसी राज-पुरुष, और प्रजा-पुरुष में पारस्परिक कोई झगड़ा हो जावे, तो राजा तथा मंत्री का कर्तव्य है कि वे स्वयं घटना-स्थल पर पहुंच कर यथार्थ बात की स्वयं खोज करें, और फिर निष्पक्ष-भाव से ठीक२ निर्णय करें।

'गर्त' के प्रसंग से 'श्मशानसंचयोऽपि' से लेकर यहां तक 'अभ्रातेव पुंसः' मंत्र से असंबद्ध अन्य व्याख्या करने के पश्चात् 'जायेव पत्ये कामयमाना' से पुनः उपर्युक्त मंत्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या

की गई है। मंत्र व्याख्या के पश्चात् यास्काचार्य मंत्रोक्त सिद्धान्त की पुष्टि में 'नाभ्रात्रीं' आदि किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं कि भ्रातृ-हीना कन्या से विवाह न करे, क्यों कि वह अपने पिता की सन्तान होती है। एवं, इस वचन से अभ्रातृका का विवाह-निषेध, और अपने पिता का पुत्र-भाव स्पष्ट है।

जैसे कि मैंने पहिले लिखा है कि 'शासद्वह्निः' आदि मंत्र के पूर्वार्ध को लेकर पूर्वपक्ष वाले अपना यह मत सिद्ध करते हैं कि पुत्री को भी दाय-भाग का अधिकार है, परन्तु वास्तव में वह सिद्धान्त इस मंत्र से पुष्ट नहीं होता। पूर्व-पक्ष के अनुसार उस प्रकरण में यास्क ने मंत्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ कर दिया है। अब सिद्धान्त-पक्ष में उस के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हुए प्रमाणित करते हैं कि 'शासद्वह्निः' आदि मंत्र से भी अभ्रातृका कन्या का ही दाय सिद्ध होता है, भाई वाली का नहीं। जिस कन्या का भाई होगा, उस कन्या को दाय-भाग का कोई अधिकार नहीं—

पिता यत्र दुहितुरप्रत्तायाः रेतःसेकं प्रार्जयति, सन्दधात्यात्मानं सङ्गमेन मनसेति ॥ ५ ॥

पहले मंत्रार्ध के साथ मिला कर संपूर्ण मंत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—विवाहित पुरुष सन्तान-कर्म के लिये अपनी पुत्री के पुत्र-भाव को प्रख्यापित करता है। और एवं, गर्भाधान यज्ञ, या गर्भाशय में पहुंचे हुए वीर्य के विधान को समान जानता हुआ उस पुत्री से पौत्र को पाता है, अर्थात् दौहित्र को पौत्र समझता है। (यत्र पिता दुहितुः सेकं ऋञ्जन्) जब पिता न दी हुई कन्या के पति को समझाता है, अर्थात् कन्या-दान से पहले उस के भावी पति से यह संकेत कर लेता है कि इस मेरी पुत्रिका का पुत्र

मेरा दौहित्र नहीं, परन्तु मेरा पौत्र होगा, (शग्म्येन मनसा संदधन्वे) तब वह पिता अपने आप को सुखी मन से धारण करता है, अर्थात् उसका पुत्र-सन्ताप नष्ट हो जाता है, और वह अपने आप को सुखी पाता है। सेकं=रेतः सेकं=पतिं । ऋञ्जन्—गत्यर्थक 'ऋजि' का रूप है ॥ ५ ॥

एवं, तीन मंत्र और एक अन्य प्राचीन शास्त्र के वचन से सिद्ध किया गया कि अभ्रातृका कन्या को दाय का अधिकार है । अब चौथे मंत्र से यह सिद्ध करते हैं कि भ्रातृमती कन्या को दाय का अधिकार नहीं । एवं, अन्वय, व्यतिरेक से स्पष्टतया सिद्ध हो जावेगा कि भ्रातृ-हीना कन्या को ही दाय का अधिकार वेद द्वारा प्रतिपादित होता है, भ्रातृ-साहिता को नहीं । यह ही सिद्धान्त पक्ष है—

अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति । ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ।

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।

यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥ ३·३१·२

न जामये भगिन्यै । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्, जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति । तान्व आत्मजः पुत्रो रिक्थं प्रारिचत् प्रादात् । चकारैनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य । यदि ह मातरो जनयन्त वह्निं पुत्रम्, अवह्निं च स्त्रियम्, अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान्दायादः, अन्यतरोऽर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै ॥ ६ ॥

इस 'न जामये तान्वः' आदि ऋचा को कई आचार्य बहिन के दाय के निषेध में प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं, और कई यह मंत्र पुत्रिका के ज्येष्ठ-भाग का निषेध करता है—ऐसा मानते हैं । प्रथम पक्ष में मंत्रार्थ इस तरह है—(तान्वः जामये रिक्थं न आरैक्) आत्मज पुत्र बहिन को धन नहीं देता, अर्थात्

भाई के कारण बहिन को दाय–भाग नहीं प्राप्त होता, (सानितुः गर्भं निधानं चकार) परन्तु वह भाई पाणि–गृहीता पति के गर्भ को धारण करने वाली बना देता है। अर्थात् उसका भली प्रकार पालन पोषण, और विवाह आदि करना भाई का ही कर्तव्य है, जिससे उसकी बहिन गृहस्थ में जाकर वीर सन्तानों को पैदा करने में समर्थ हो सके। (यदि मातरः वह्निं जनयन्त) यदि माता पिता वोढा पुत्र, और अवोढा कन्या को पैदा करते हैं, तो (सुकृतोः अन्यः कर्ता) शुभ कर्म करने वाले उन दोनों में से एक पुत्र सन्तान का कर्ता होता है जिससे वह दाय–भाग का अधिकारी बनता है, (अन्यः ऋन्धन्) और दूसरी कन्या भली प्रकार पाल पोस कर अन्य को, अर्थात् पति को प्रदान कर दी जाती है।

दूसरे पक्ष में अर्थ यह होगा—आत्मज पुत्र की उपस्थिति में कन्या को दाय–भाग नहीं मिलता, परन्तु उसे पाल पोस कर गृहस्थ–धर्म के योग्य बना दिया जाता है। यदि माता पिता पुत्रिका बनाने के पश्चात् पुत्र को उत्पन्न करें, तो उन में से एक पुत्र सन्तान–कर्म का कर्ता होता है, और दूसरी पुत्रिका को (ऋन्धन्) आधा दाय–भाग दे दिया जाता है। अर्थात्, जैसे बड़े पुत्र को अन्य पुत्रों की अपेक्षा अधिक दाय का अधिकार होता है, वह उसे प्राप्त नहीं। हां, पुत्रिका बनाने के कारण आधा हिस्सा अवश्य मिल जाता है। इसी आशय को मनु (९. १३४) ने इस प्रकार कहा है—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रो ऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥

अर्थात्, यदि पुत्रिका बनाने के पश्चात् पुत्र पैदा हो जावे, तो उन में दाय–भाग बांटने के समय समान २ विभाग करना चाहिए, क्योंकि

पुत्रिका के बड़े होने पर भी दाय-भाग में उस की ज्येष्ठता नहीं।
'जामि' शब्द पुल्लिंग है, अतः 'निधान' शब्द भी पुल्लिंग ही पढ़ा गया है। वह्निश्च अवह्निश्च वह्निः, 'पुमान् स्त्रियाः' करके पुमान् 'वह्नि' शेष रहा। वह्नि—स्त्री का वहन करने वाला, अर्थात् पुत्र, और अवह्नि—कन्या। जामि=भगिनी. इस में अन्य पुरुष, अर्थात् पति अपत्य को पैदा करता है। 'जनी प्रादुर्भावे धातु से 'इञ्' प्रत्यय (उणा ४. १२५) जानि-जामि। अथवा, गत्यर्थक 'जम' धातु से 'इञ्'। यह दूसरे गृह में प्रायः करके जाने वाली होती है। जा=अपत्य, जो पैदा किया जावे। 'जा' शब्द भी 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय, और 'टाप्' करने पर सिद्ध होता है। तान्वः=आत्मजः। सनितुः=हस्तग्राहस्य, संभजनार्थक 'षण' धातु का प्रयोग है। अर्धयित्वा=पाल पोस कर, अथवा आधा भाग करके ॥ ६ ॥

※ द्वितीय पाद ※

३. मनुष्य-वाची नाम | **मनुष्यनामान्युत्तर पञ्चविंशतिः। मनुष्याः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः—मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे, मनोरपत्यं, मनुषो वा। तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति—**

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्॥ १०.५३.४

तदद्य वाचः परमं मंसीय येनासुरानभिभवेम देवाः। असुराः असुरता स्थानेषु, अस्ताः स्थानेभ्य इति वा, अपि वा असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। सोऽदेवानसृजत तत्सु-

राणां सुरत्वम्, असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते। ऊर्जाद उत यज्ञियासः—अन्नादाश्च, यज्ञियाश्च। ऊर्गित्यन्न-नामोर्जयतीति सतः, पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्—गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके, चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात् निषदनो भवति, निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः॥

अगले २५ नाम मनुष्य-वाची हैं। इनको मनुष्य इस लिये कहा जाता है कि (क) ये सोच विचार कर कर्मों को फैलाते हैं, बिना विचारे ही अनेक प्रकार के कर्मों को नहीं बढ़ाते। 'मन्' तथा 'षिवु' तन्तु सन्ताने-इन दोनों धातुओं के योग से बहुल द्वारा औणादिक 'ष्यन्' प्रत्यय, मन् ष् य-मनुष्य। (ख) प्रशस्त मन वाले से जो पैदा हुए हैं, वे मनुष्य हैं। पतित मन की अवस्था में पैदा करने से सन्तान पशुवत् ही होती है, मनुष्य नहीं बन सकती। मनस्यमानेन सृष्टाः—मनष्टाः-मनुष्याः। 'मनस्' धातु प्रशस्त मन वाला-इस अर्थ में है। (ग) मनन-शील की सन्तान मनुष्य होगी। मनु, और मनुष्-ये दोनों शब्द मनन-शील अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (पाणि०४.१.१६१) से 'मनु' शब्द से 'यत्' प्रत्यय, और षुक् का आगम; और 'मनुष्' से केवल 'यत्' करने पर ही मनुष्य सिद्ध हो जायगा। उन मनुष्य-नामों में बहुवचनान्त 'पंचजन' शब्द के अनेक मन्त्र आते हैं, जैसे 'तदद्य वाचः' आदि है। मंत्र का देवता 'देवाः' है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—(देवाः अद्य वाचः तत् प्रथमं मंसीय) विद्वानो! आज मैं वाणी का वह श्रेष्ठ वीर्य समझता हूं, (येन असुरान् अभिभवाम) जिस से कि हम दुष्ट-जनों को तिरस्कृत करें। (ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः) अन्न को खाने वाले, और

यज्ञ का संपादन करने वाले पांचों जनो ! (मम होत्रं जुषध्वम्) तुम सब मेरे यज्ञ का सेवन करो, अर्थात् मेरे यज्ञ में सम्मिलित होवो ।

आशय—यह वेदमन्त्र बड़े महत्त्व का है । इस में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं-(१) मनुष्य को अपनी वाक्-शक्ति ऐसी वीर्यवान् बनानी चाहिए कि असुरों के दुष्ट कर्मों का प्रतिवाद खंडन-रूप में बड़े जोरों से करे, किसी कारण विशेष से डरे नहीं । (२) यज्ञ में आने के अधिकारी वे ही हैं जो अन्न भक्षक हों, मांस भक्षक न हों । और साथ ही वे यज्ञ में आकर शान्ति से बैठें जिस से वे यज्ञ की शोभा को बढ़ा सकें, न कि बातचीत आदि कुचेष्टाएं करते हुए यज्ञ में विघ्न करने वाले हों। (३) मनुष्य-मात्र जो ऊर्जाद, और यज्ञिय हो-उसे यज्ञ में आने का अधिकार है, चाहे वह शूद और अतिशूद्र क्यों न हो ।

अभि असाम=अभिभवेम । असुर=(क) जो स्थानों में सुरत, अर्थात् आराम से रहनेवाले नहीं, अर्थात् चपल मनुष्य । नञ्-सु-रम् । (ख) उत्तम स्थानों से प्रक्षिप्त मनुष्य, अर्थात् पतित जन। 'असु' क्षेपणे धातु से 'रण्' प्रत्यय (उणा० १.४२) । (ग) निन्दित प्राण वाले मनुष्य । 'असु' से निन्दा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय, जैसे कि "**भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः**।। इस कारिका में निन्दा अर्थ में 'मतुप्' का विधान है। (घ) 'सु' अर्थात् सुष्ठु भाव से देव हुए, और असु .. भाव अर्थात् दुष्टता के कारण असुर हुए । अतः, दुष्ट मनुष्य का नाम 'असुर' है । ऊर्जादः=अन्नादः । 'ऊर्ज्' का अर्थ अन्न है । 'ऊर्ज' बल प्राणनयोः से कर्त्ता में 'क्विप्' । बल, और जीवन-शक्ति को देने के कारण अन्न को 'ऊर्ज्' कहते हैं । 'ऊर्ज्' का दूसरा नाम 'पक्व' है, अर्थात् पके हुए

अन्न का नाम ही 'ऊर्ज्' है, कच्चे का नहीं । पका हुआ अन्न सुप्रवृक्ण अर्थात् सुगमता से काटा जाने वाला होता । पञ्चजन=गन्धर्व, पितर, देव, असुर, और राक्षस । औपमन्यव के मत में ४ वर्ण, और निषाद–ये पंचजन हैं । मनुष्यों को हम पांच विभागों में ही बांट सकते हैं । एक विभाग वर्ण–धर्म के अनुसार, और दूसरा आश्रम–व्यवस्था के अनुसार । वर्ण–धर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और चारों वर्णों के धर्म से च्युत राक्षस– ये पंचजन हैं । और, आश्रम-व्यवस्था से ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी सन्यासी, और आश्रम–धर्म से च्युत निषाद–ये पंचजन हैं । ये ही दोनों मनुष्य जाति–विभाग के तरीके निरुक्त में दर्शा दिये गये हैं । गन्धर्व–गां वेदवाणीं धारयतीति गन्धर्वः ब्रह्मचारी । ब्रह्मचर्य–आश्रम ही वेद–वाणी के ग्रहण करने का काल है । पितरः=वानप्रस्थी लोग । देवाः=सन्यासी लोग । असुराः=गृहस्थी लोग । रक्षांसि=आश्रम धर्म से च्युत मनुष्य । रहसि क्षिणोति इति रक्षः, अर्थात् जो मनुष्य स्पष्ट में तो किसी आश्रम में है, परन्तु अस्पष्ट रूप से आश्रम–धर्म का नाश करता है । गन्धर्व आदि चारों शब्द उपर्युक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हैं, इस के लिये बृहदारण्यकोपनिषद् (१. ५. १६) का प्रमाण है । उस में लिखा है "**अथ त्रयो वाव लोकाः, मनुष्यलोकः, पितृलोको देवलोक इति । सो ऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्म्मणा, कर्म्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः, देवलोको वै लोकानाᳬ श्रेष्ठः, तस्मात् विद्यां प्रशंसन्ति ।**" 'लोक' आश्रय के लिये प्रयुक्त होता है, उसी भाव को कहने वाला आश्रम शब्द है । मनुष्यलोक पुत्रोत्पत्ति से ही जीता जा सकता है, अन्यथा नहीं । अतः, मनुष्यलोक गृहस्थाश्रम को बताता है । कर्म से पितृलोक जीता जाता है, वानप्रस्थी

ही कर्म प्रधान होते हैं। ज्ञान से देवलोक जीता जाता है, और यही लोक उपर्युक्त तीनों लोकों से श्रेष्ठ है। सन्यासाश्रम ज्ञान–प्रधान है, अतः, देवलोक सन्यास–आश्रम हुआ। परिशेष से गन्धर्वलोक ब्रह्मचर्याश्रम के लिये प्रयुक्त होगा। जिसको उपनिषद् ने मनुष्यलोक के नाम से कहा है, उसी का निरुक्त ने 'असुराः'–इस नाम से व्यवहार किया है, यतः, असुर का अर्थ है प्राण–धारी मनुष्य। बृहदारण्यक में भी गृहस्थी के लिये सामान्य मनुष्य शब्द ही रक्खा है। निषाद=नितरां सादयति विनाशयति इति निषादः=वर्ण–धर्म का नाश करने वाला, निषण्णं स्थितमस्मिन् पापकमिति निषादः=धर्मच्युत, पापी। 'नि' पूर्वक 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु धातु से रूप-सिद्धि है।

"यत्पाञ्चजन्यया विशा" पञ्चजनीनया विशा। पञ्च पृक्ता संख्या-स्त्रीपुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा ॥ १ । ७॥

'पञ्चजन' उपर्युक्त दोनों विधिओं से मनुष्य–विभाग के लिये ही आया है–इस की सिद्धि के लिये निरुक्तकार दूसरा मंत्र देते हैं जो यह है—

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत।
अस्तृणाद् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः॥ ८. ६३.७

मंत्र का देवता 'इन्द्र' है। मंत्रार्थ इस प्रकार है— (यत् पाञ्चजन्यया विशा इन्द्रे घोषाः असृक्षत) जब पांचों जनों की समूह रूप प्रजा से राजा के लिये सहायक शब्द निकलते हैं, तब (सः विपः, अर्यः, मानस्य क्षयः) वह मेधावी, समर्थ, और मानमर्यादा का निवास–स्थान राजा (बर्हणा) सामर्थ्य–वृद्धि के कारण (अस्तृणात्) शत्रुओं का नाश करता है। पञ्चन्=पांच की संख्या जो संपृक्त है, अर्थात् स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुंसक लिंग–इन तीनों लिंगों में जिसके सामान्य रूप बनते हैं। 'पृची' संपर्चने से 'अनङ्' प्रत्यय। पृञ्च् अन्–पञ्ज् च् अन् —पञ्चन् ॥ १ । ७ ॥

४. बाहु—वाची नाम | बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बाहु कस्मात्? प्रबाधते आभ्यां कर्माणि।

अगले १२ नाम बाहु-वाची हैं। इन से मनुष्य कर्मों को बिलोडता है, अर्थात् अनेक क्रियायें करता है, अतः इन्हें बाहु कहा गया। 'बाधृ' विलोडने से 'उ' प्रत्यय, और 'ध' को 'ह' (उणा. १. २७)।

५. अङ्गुलि—वाची नाम | अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुलयः कस्मात्? अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा, अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा, अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा, अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा, अङ्कनाः भवन्तीति वा, अञ्चनाः भवन्तीति वा, अपि वा अभ्यञ्चनादेव स्युः। तासामेषा भवति—

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः। दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः। १०. ९४. ७

अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति अवन्ति कर्माणि। कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्। अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि। दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः- धूः धूर्वतेर्वधकर्मणः। इयमपीतरा धूः एतस्मादेव विहन्ति वहं, धारयतेर्वा ॥२।८॥

अग्रिम २२ नाम अंगुलि वाची हैं। अंगुलि शब्द के यास्क ने ७ निर्वचन दिये हैं। (क) कर्मों में अग्रगामिनी होती हैं। 'अग्र' पूर्वक 'गम्' से बहुल द्वारा औणादिक 'डुलि' प्रत्यय। अग्रगुलि–अंगुलि। (ख) कर्मों में आगे जाने वाली होती हैं। 'गल' स्रवणे–अग्र गल् डुलि –अग्रगुलि–अंगुलि। (ग) कर्मों को पहले करने वाली होती हैं। अग्र कृ डुलि–अग्रकुलि–अंगुलि। (घ) कर्मों में अग्रसारिणी होती हैं। अग्र सृ डुलि–अग्रसुलि–अंगुलि। (ङ) चिह्न डालने वाली

होती हैं। 'अकि' लक्षणे धातु से 'डुलि'। अंक् डुलि-अंकुलि-अंगुलि। (च) पूजा करने वाली हैं। जब किसी को प्रणाम करना होता है, तो अंगुलियें जोड़ कर ही किया जाता है। 'अंचु' गतिपूजनयोः अंच् डुलि-अंचुलि-अंगुलि (छ) मालिश इन्हीं से की जाती है। 'अंजू' व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु धातु से 'डुलि'। म्रक्षण=मालिश करना। अंज् डुलि-अंजुलि -अंगुलि। उणा० ४ २ में 'अगि' गतौ धातु से 'उलि' प्रत्यय करके 'अंगुलि' बनाया गया है। उन अंगुलिओं के लिये 'दशावनिभ्यः' आदि ऋचा है। मंत्र का देवता 'ग्रावाणः' है। मंत्रार्थ इस प्रकार है— हे मनुष्यो! (दशावनिभ्यः) रक्षा करने वाली दश अंगुलियों से युक्त, (दशकक्ष्येभ्यः) कर्मों को प्रकाशित करने वाली दश अंगुलियों से युक्त, (दशयोजनेभ्यः) पदार्थों को दृढ़ जोड़ने वाली दश अंगुलियों से युक्त, (दशयोक्त्रेभ्यः) वस्तुओं को मिलाने वाली दश अंगुलियों से युक्त, (अभीशूभ्यः) कर्मों में व्यापृत दश अंगुलियों से युक्त, (अजरेभ्यः) युवक, (दश दश धुरः युक्ताः वहद्भ्यः) और दुष्ट-घातक दश दश अंगुलियों से युक्त, नेताजनों को (अर्चत) सत्कृत करो।

'दशावनिभ्यः' आदि सात चतुर्थ्यन्त पद द्वितीयार्थ में प्रयुक्त हैं। धुरः=धूर्भिः-तृतीयार्थ में प्रथमा है। युक्ताः=युक्तान्-द्वितीयार्थ में प्रथमा है। सायणाचार्य ने इसीप्रकार विभक्ति-व्यत्यय मान कर अर्थ किया है। अवनि- 'अव' रक्षणे से 'अनि' प्रत्यय। (उणा० २. १०२)। कक्ष्या-'काशृ'दीप्तौ से बहुल द्वारा'स'प्रत्यय (उणा० ३. ६२)। काश् स-कश् स-कक्ष, कक्षेषु प्रकाशकेषु साधुः कक्ष्यः-'कक्ष' से 'यत्' प्रत्यय। योक्त्र-युनक्ति अनेनेति योक्त्रम्, 'युजिर्' योगे धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय (पाणि. ३. १८२)। योजन-

'युजिर्' से 'कृत्यलुटो: बहुलम्' से करण में 'ल्यु' प्रत्यय। अभीशु—'अभि' पूर्वक 'अशूङ्' व्याप्तौ से बहुल द्वारा 'उ' प्रत्यय। (उणा० १.७)। अभि अश् उ—अभि इश् उ—अभीशु। धुर्—'धुर्वी' हिंसायां से 'क्विप्' (पाणि० ३.२. १७७)। धुर्व्-धुर्। (ख) जूए वाची 'धुर्' शब्द भी इसी 'धुर्वी' धातु से बनता है। धूर्वति विहन्ति हिनस्ति वहं अश्वादिकं वोढारं या सा धूः—यह वोढा अश्वादिक की गर्दन पर घाव आदि कर देता है। अथवा, 'धृ' धारणे धातु से भी 'धुर्' सिद्ध हो सकता है, यतः अश्वादिक जूए को धारण करता है ॥२।८॥

६—१६ खण्ड | **(६) कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश। (७) अन्ननामान्युत्तराणि अष्टाविंशतिः। अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः, अत्तेर्वा। (८) अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। (९) बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। बलं कस्मात्? बलं भरं भवति, बिभर्तेः। (१०) धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव। धनं कस्मात्? धिनोतीति सतः। (११) गोनामान्युत्तराणि नव। (१२) क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश। (१३) क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश। (१४) गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम्। (१५) क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। क्षिप्रं कस्मात्? संक्षिप्तो विकर्षः। (१६) अन्तिकनामान्युत्तराणि एकादश। अन्तिकं कस्मात्? आनीतं भवति॥ ३।९॥**

अगली १८ धातुयें इच्छार्थक हैं। अगले २८ नाम अन्न-वाची हैं। अन्न=(क) प्राणियों के लिये झुका हुआ होता है। आ नम् क्विप्—आम्न—अम्न—अन्न। (ख) अद्यते इति अन्नम्। अद् क्त—अन्न। उणा० ३.१० में 'अन' प्राणने धातु से 'न' प्रत्यय द्वारा अन्न बनाया गया है,

यतः यह जीवन प्रदान करता है। आगे १० धातुयें खाने अर्थ में हैं। आगे २८ नाम बल-वाची हैं। बलं=भरं, 'डुभृञ्' धारणपोषणयोः से 'अच्'प्रत्यय; यतः, बल धारण और पोषण करने वाला है। आगे २८ ही नाम धन-वाची हैं। धन=तृप्त करने वाला होता है। 'धि' धातु से उणा०२.८१ से बहुल द्वारा'क्यु'प्रत्यय। धि क्यु-ध् अन्-धन। धातुपाठ में 'धिवि'धातु तर्पणार्थक पढ़ी है,परन्तु यहां 'वि'धातु स्वादिगणी मानी गई है। आगे ६ नाम गाय-वाची हैं। आगे १० धातुयें क्रोधार्थक हैं। अगले ११ नाम क्रोध-वाचक हैं। अगली १२२ धातुयें गत्यर्थक हैं। अगले २६ नाम शीघ्र-वाची हैं। क्षिप्र=संक्षिप्त,अर्थात् विकर्ष= आकृष्ट। 'क्षिप' प्रेरणे से 'रक्' प्रत्यय (उणा०२.२३)। अगले १ नाम समीप-वाची हैं। अन्तिक-यह सन्मुख लाया हुआ होता है। 'आङ्' पूर्वक 'नी' धातु से 'तिक' प्रत्यय ॥३।६॥

१७. संग्राम-वाची नाम | **संग्रामनामान्युत्तराणि षट्चत्वारिंशत्। सग्रामः कस्मात? सङ्गमनाद्वा, सङ्गरणाद्वा संगतौ ग्रामौ इति वा। तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति—**

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाडभी द्वा किमु त्रयः करन्ति। खले न पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥ १०.४८.७

अभिभवामीदम्, एकमेकः अस्मि, निष्षहमानः सपत्नान्। अभिभवामि द्वौ, किं मा त्रयः कुर्वन्ति। एका इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयस्तीर्णतमा संख्या। चत्वारश्चलिततमा संख्या। अष्टौ अश्नोतेः। नव न वननीया, न अवाप्ता वा। दश दस्ता, दृष्टार्था वा। विंशतिर्द्विदशतः। शतं दशदशतः। सहस्रं सहस्वत्। अयुतं, नियुतं, प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम्। अम्बुदो मेघो भवति, अरणमम्बु तद्दोऽम्बुदः, अम्बुमत भातीति वा, अम्बुमद्

भवतीति वा । स यथा महान् बहुर्भवति वर्षस्तदिवाबुदम् । खले न पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि-खले इव पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि । खल इति संग्रामनाम खलतेर्वा, स्खलतेर्वा । अयमपीतरः खल एतस्मादेव समास्कन्नो भवति । किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः-ये इन्द्रं न विविदुः, इन्द्रो ह्यहमस्मि; अनिन्द्रा इतर इति वा ॥४।१०॥

अगले ४६ नाम युद्ध-वाची हैं । संग्राम=(क) इसमें योद्धा लोग एकत्रित होते हैं । संगम-संग्राम । (ख) इस में कोलाहल बहुत होता है । 'सम्' पूर्वक 'गॄ' शब्दे । (ग) संगतग्राम-संग्राम, इस में दो ग्राम दो देश, या दो दल इकट्ठे होते हैं । उन संग्राम-नामों में 'खल' शब्द के अनेक मंत्र आते हैं, जैसे 'अभीदमेकम्' आदि मंत्र है । मंत्र का देवता 'इन्द्र वैकुण्ठ' है, जिसका अर्थ सर्वत्र अप्रतिहत गति-सर्वव्यापक परमेश्वर है । मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—(इदं अभि) इस जगत् को मैं स्वाधीन रखता हूं । (एकः एकं अस्मि) अकेला अकेले को दबाता हूं, (निष्षाट् द्वा अभि) शत्रुओं का तिरस्कार करता हुआ दो को भी अकेला दबाता हूं । (उ त्राः किं करन्ति) और तीन भी मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं ? कुछ नहीं । (खले पर्षान् न भूरि प्रतिहन्मि) जैसे धान्य-करण-स्थान में अनेक पूलों को कुचल दिया जाता है, एवं संग्राम में मैं अनेक निष्ठुरों (पर्ष=परुषों) को कुचल देता हूं । (अनिन्द्राः शत्रवः किं मा निन्दन्ति) मेरे परमैश्वर्य को न जानने वाले नास्तिक लोग, या ऐश्वर्यरहित पापीजन मुझे क्या निन्दते हैं ।

'अभीदं' में 'अभि' उपसर्ग के साथ 'अस्मि' क्रिया का संबन्ध, और 'एकमेको अस्मि' में 'अस्मि' के साथ 'अभि' का संबन्ध है । एक=१, यह संख्या अन्य सब संख्याओं मे पहुंची हुई है, एकता सब में विद्यमान रहती है । 'इण्' गतौ से 'कन्' प्रत्यय (उणा० ३.४३) ।

द्वि=२, यह संख्या एक की अपेक्षा आगे गई हुई होती है। 'द्रु' गतौ से 'ड्वि' प्रत्यय। त्रि=३, यह संख्या एक, दो-दोनों से आगे तरी हुई है। 'तॄ' धातु से 'ड्रि' प्रत्यय (उणा०५.६६)चतुर्=४, यह संख्या तीन से भी आगे चली हुई है। 'चल' धातु से 'उरन्' प्रत्यय (उणा०५.५८)। चल् उर्-चतुर्। 'पञ्चन्' की व्याख्या ३.७ में हो चुकी है, और षट्-वाची 'षष्' की ४.२६, तथा 'सप्तन्' की ४.२७ में करेंगे, अतः इस प्रकरण में यास्क ने उन की व्याख्या नहीं की। अष्टन्=८, यह संख्या बहुत व्यापक है। 'अशूङ्' व्याप्तौ से 'कनिन्' और 'तुट्' का आगम (उणा०१.१५७)। नवन्=९, यह संख्या सेवनीय नहीं, अर्थात् प्राप्त नहीं। नौ की संख्या ऐसी है कि यदि किसी को ९ पदार्थ देने हों, तो प्रायः करके दश ही पूरे कर दिये जाते हैं। 'नञ्' पूर्वक संभजनार्थक 'वन्' धातु से 'क्विप्'। दशन्—(क) **दस्ता**, यहां संख्या क्षीण हो जाती है-समाप्त हो जाती है। अन्तिम संख्या १० की ही है, इसके आगे इन्हीं १० संख्याओं के योग से अन्य संख्यायें बनती हैं। 'दसु' उपक्षये से 'कनिन्' प्रत्यय (उणा०१.१५६) दस् अन्—दशन्। (ख) **दृष्टार्था**, अथवा, इस संख्या का अर्थ एकादश, द्वादश आदि में बार २ देखा जाता है। दृश् अन्—दशन्। विंशति=२०, 'द्विदशन्' से 'ति' प्रत्यय। द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सः विंशतिः। द्विदशति—विशति—विंशति (पाणि०५.१.५९)। शत=१००, दशदशन् से 'शत' शब्द सिद्ध होता है। दश दशतः परिमाणमस्य संघस्य, शतम्। दशदशन्-शद-शत (पाणि०५.१.५९)। सहस्र=१०००, यह संख्या बलवान् होती है। हज़ार दुर्बल सूत्रों के मिलाने से जो मोटा रस्सा बनता है, उस में बड़ा बल होता है। एवं, सहस्र दुर्बल मनुष्य भी मिलकर

बड़े बलवान हो जाते हैं। 'सहस्र' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय। अयुत, नियुत, और प्रयुत-इन में से प्रत्येक अपने से पहली २ संख्या का दश गुणा है। अर्थात्, अयुत=दश सहस्र, नियुत=लक्ष, प्रयुत=दश लक्ष। अर्बुद=करोड़। अर्बुद, और अम्बुद-ये दोनों शब्द मेघ-वाचक हैं। अम्बु-जल, यह सब जगह प्राप्त होता है। 'ऋ' धातु से 'उ' प्रत्यय और 'बुक्' का आगम (उणा० १.२७) अर्बु-अम्बु। उस जल का जो देने वाला है, वह अम्बुद, या अर्बुद। यह अर्बुद की संख्या (अम्बुमत्) मेघ प्रतीत देती है, या मेघ होती है; अर्थात्, बरसता हुआ मेघ जैसे बहुत बड़ा होता है, उसी प्रकार अर्बुद की संख्या भी बहुत बड़ी है। इन सब संख्याओं का उल्लेख यजु० १७.२ में है। पर्ष-पूला, या परुष। खल-संग्राम, हिंसार्थक 'खल' या 'स्खल' धातु से 'घ' प्रत्यय (पाणि० ३.३.११८)। इसमें योद्धा मारे जाते हैं। खल—धान्य-करण स्थान, जिसे कि खलियान कहा जाता है। यह भी इसी 'खल' या 'स्खल' धातु से बनता है, यहां पूले पीसे जाते हैं। अनिन्द्राः-(ये इन्द्रं न विविदुः) जो परमेश्वर को नहीं जानते, वे नास्तिक 'अनिन्द्र' हैं। अथवा, परमेश्वर ही परमैश्वर्यवान् है, अन्य कोई परमैश्वर्यवान् नहीं, अतः अन्य सब मनुष्य अनिन्द्र हुए॥४।१०॥

१८. व्याप्त्यर्थक धातुयें | **व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे सामनी—आक्षाणः=आश्नुवानः, आपानः=आप्नुवानः।**

१९. वधार्थक धातुयें | **वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत्। (क) तत्र वियात इत्येतत् वियातयितः इति, वियातयेति वा। (ख) "आखण्डल प्रहूयसे" आखण्डयितः, खण्डं खण्डयतेः। (ग) तळिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म, ताडयतीति सतः।**

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि। या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः॥२.२३.९

त्वया वयं सुवर्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्यः आददीमहि। याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिकेऽरातयोऽदानकर्माणो वा, अदानप्रज्ञा वा, जम्भय ता अनप्नसः। अप्न इति रूपनाम, आप्नोतीति सतः। विद्युत्तळिद्भवतीति शाकपूणिः, सा ह्यवताडयति दूराच्च दृश्यते। अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्, 'दूरे चित् सन्तळिदिवातिरोचसे" दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यस इति।

अगली १० धातुयें व्याप्ति अर्थ में है। उन में आनशाण, आपान दो पद हैं। आनशाणः=आश्नुवानः। आपानः=आप्नुवानः।

आगे ३३ धातुयें वधार्थक हैं। उन धातुओं में वियातः, तळित्, और आखण्डल--ये तीन नाम-पद हैं। वियातः, आखण्डल---ये दोनों संबोधन-पद हैं। (क) वियातयितः--वियातः!---हे यातना देने वाले। 'वियातयितृ' के स्थान पर 'वियातृ' संक्षिप्त रूप है। (ख) अथवा, वियातयः---वियातः!, वियातयते इति वियातयः, पाणि० ३.१.१३८ से अन्ययों बहुलम् (पा०३.१.८५) में बहुल द्वारा 'श' प्रत्यय, जैसे धारयतीति धारयः, पारयतीति पारयः, प्रयोग बनते हैं। यहां प्रथमैकवचन, संबोधन में प्रयुक्त है, अन्यथा 'वियातः' का अर्थ 'वियातयः' होता। निरुक्त में 'तत्र वियात इत्येतत् वियातयत इति'-ऐसा पाठ है। मेरी सम्मति में वियातयित इति'-ऐसा पाठ ही शुद्ध है। देवराज यज्वा ने निघण्टु भाष्य में यह पाठ भेद दिया भी है। 'वियातः' प्रयोग चारों वेदों में नहीं मिलता, सम्भवतः किसी शाखा का होगा।

(ख) आखण्डल=आखण्डयितः । 'आङ्' पूर्वक 'खडि' भेदे धातु से बहुल द्वारा 'अलच्' प्रत्यय (उणा० ५.७०) । आ खडि अल—आखण्डल । खण्डः—खण्ड्यते ऽवदीर्यते इति खण्डः, उणा० १.११४ से 'ड' प्रत्यय । खाण्ड को भी 'खण्ड' कहते हैं, उसी का अपभ्रंश खाण्ड है । 'आखण्डल' का मंत्र यह है—

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः। आखण्डल प्रहूयसे ॥ ८.१७.१२

देवता—इन्द्रः (शाचिगो शाचिपूजन आखण्डल !) बुद्धि पूर्वक वाणी वाले, विद्या का सत्कार करने वाले, और शत्रुओं का दलन करने वाले राजन् ! (ते रणाय) तेरे आराम के लिये (अयं सुतः) यह ऐश्वर्य तय्यार है । (प्रहूयसे) उसके लिये तू बुलाया जाता है । रणाय=रमणाय । शाचि=शची ।

(ग) तळित्-यह समीप, और वध के सांझे अर्थ वाला है, अर्थात् इसके उपर्युक्त दोनों अर्थ होते हैं । 'तळित्' अन्तिक–वाची नामों में निघण्टु–पाठित है । वहां 'तड' धातु समीपार्थक मानी गई है। वध अर्थ में चुरादिगणी 'तड' आघाते धातु से 'इति' प्रत्यय (उणा० १. ६८)। 'त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते' आदि मंत्र में 'तळित' शब्द समीपार्थक है । मंत्र का देवता 'ब्रह्मणस्पति' है। मंत्रार्थ यह है—(ब्रह्मणस्पते त्वया सुवृधा) राष्ट्रपते राजन् ! उत्तम वृद्धि करने वाले तुम्हारे द्वारा (वयं मनुष्या) हम शत्रुजनों से (स्पार्हा वसु आददीमहि) उत्तम वस्तुओं को लेलें । (याः नः दूरे) जो हमारे से दूर, (याः तळितः अरातयः) और जो समीप शत्रु (अभिसन्ति) जहां कहीं हैं, (ताः अनप्नसः जम्भय) उन बहुरूपी, या कुरूपी शत्रुओं को नष्ट करो ।

मनुष्या=मनुष्येभ्यः, सुपां सुलुक् से 'भ्यस्' की जगह 'आ' ।

अराति=कृपण, या कर न देने वाला प्रात्र। अदानकर्मा=न देने वाला। अदानप्रज्ञः=दान के विरुद्ध सम्मति वाला। अप्नस्=रूप, आप्नोति आश्रयम् इति अप्नस्। 'आप्लृ' धातु से 'असुन्' प्रत्यय, नुडागम, और ह्रस्व (उणा०४. २०८)।

शाकपूणि का मत है कि 'दूरेचित्सन्ताळिदिव' आदि मंत्र में 'ताळित्' विद्युत्-वाची है। क्योंकि, अवताडयतीति तळित्, वह घात करती है, और दूर से समीप की न्याईं दीखती है। एवं, विद्युत् में अन्तिक और वध—ये दोनों भाव आजाते हैं। परन्तु यास्क का मत है कि नहीं, 'तळित्' का अन्तिक नाम ही अभिप्रेत है विद्युत् नहीं। वह मंत्र इस प्रकार है—

यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्ङसि दूरे चित्सन्तळिदिवातिरोचसे। रात्र्याश्चिदन्धो अति देव पश्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥१.९४.७

देवता—अग्निः। (अग्ने ! यः विश्वतः सुप्रतीकः, सदृङ् असि) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! जो आप सर्वत्र साधुतया दृष्टिगोचर हो, और सबको समान न्याय-दृष्टि से देखने वाले हो, (दूरे चित् सन् तळित् इव आतिरोचसे) वह आप हमारे से दूर होते हुए भी समीप की न्याईं दीखते हो। (देव ! रात्र्याः चित् अन्धः अतिपश्यासि) सर्वप्रकाशक ! रात्रि के अन्धकार, या प्रलयकालीन प्रलय को भी आप भलीप्रकार देखते हो। (वयं तव सख्ये मा रिषाम) हम आपकी मित्रता में रह कर पतित न हों।

२०. वज्र-वाची नाम | **वज्रनामान्युत्तराण्यष्टादश। वज्रः कस्मात्? वर्जयतीति सतः। तत्र कुत्स इत्येतत् कृन्ततेः। ऋषिः कुत्सो भवति, कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। अत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति, तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति॥ ५। ११॥**

अगले १८ नाम–पद वज्र–वाची हैं। वर्जयति प्राणैः, सुखेन वा इति वज्रः। 'वृजी' वर्जने से 'रन्' प्रत्यय (उणा. २.२८)। वृज् र–वर्ज्र–वज्र। 'वज्र' नामों में 'कुत्स' शब्द भी पठित है। कृन्तति इति कुत्सः, 'कृती' छेदने धातु से 'स' प्रत्यय, तथा किद्भाव (उणा० ३.६६) कृन्त् स–कृत्स–कुत्स, पाणि० ३.१.१०३ से 'ऋ' को 'उ'। औपमन्यव के मत में 'कुत्स' का अर्थ ऋषि है जो कि वेद–मंत्रों का स्वाध्याय करता है। 'कृञ्' करणे से 'स' प्रत्यय। कृस–कुस–कुत्स। परन्तु यास्क का मत है कि ऋषि अर्थ में 'कुत्स' शब्द भी 'कृती' धातु से ही बनता है, यतः वहां भी 'कुत्स' ऋषि का कार्य वध ही है। उसके लिये दूसरे का वध किया जाता है। कृत्यते अस्मै सः कुत्सः। अपने मत की पुष्टि में 'तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघान'–यह तद्विषयक वेद–मंत्रों का आशय दिया है। सायणाचार्य ने भी निरुक्त के इस वाक्य का यही अर्थ किया है। वह ऋ० १.११.७ की व्याख्या में लिखते हैं 'एतच्च यास्केनोक्तम्-तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति। शुष्णं विप्रमित्यादि मंत्रे (१.१०३.८) चायमर्थो विस्पष्टः'। तद्विषयक एक वेद–मंत्र यहां दिया जाता है, जो यह है—

कुत्साय शुष्णमशुषं निबर्हीः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा।
सद्यो दस्यून्प्रमृण कुत्स्येन प्रसूरश्चक्रं बृहतादभीके॥ ४.१६.१२

मंत्र का देवता इन्द्र है। शत्रुमर्दन राजन्! (अह्नः प्रपित्वे) दिन के प्राप्त होने पर (कुत्साय) मंत्रद्रष्टा ऋषिवर्ग के लिये (शुष्णं) शरीरादि को सुखा देने वाले (कुयवं) तथा कुत्सित क्रियायें कराने वाले (अशुषं) दुःख को (निबर्हीः) नष्ट करो। (सहस्रा कुत्स्येन) अनेक सैनिकों के साथ वज्र–प्रहार से (दस्यून् प्रमृण) दुर्जनों को मारो। (सूरः चक्रं) और, प्रेरक शत्रु के चक्र को (अभीके बृहतात्) समीप आने पर काट दो॥ ५। ११॥

२१. ऐश्वर्यार्थक धातुयें
२२. ईश्वर-वाची नाम

ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः । ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि । तत्र इन इत्येतत्सनित ऐश्वर्येणेति वा, सनितमनेनैश्वर्यमिति वा ।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥ १.१६४.२१

यत्रा सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः अमृतस्य भागं उदकस्य, अनिमिषन्तः वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा अभिप्रयन्तीति वा, ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्यः । स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति । धीरो धीमान्, पाकः पक्तव्यो भवति, विपक्वप्रज्ञ आदित्यः । इत्युपनिपद्वर्णो भवतीत्यधिदैवतम् ।

(ख) अथाध्यात्मं—यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि अमृतस्य भागं ज्ञानस्य अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा अभिप्रयन्तीति वा; ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायिता आत्मा । स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति । धीरो धीमान्, पाकः पक्तव्यो भवति, विपक्वप्रज्ञ आत्मा–इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ ६।१२ ॥

अगली चार धातुयें ऐश्वर्यार्थक हैं । अगले ४ नाम ईश्वर–वाची हैं । उन में 'इन' शब्द भी पठित है । उसके दो निर्वचन हैं—
(क) सनित ऐश्वर्येण=ऐश्वर्य से संयुक्त । 'षण' संभक्तौ से बहुल द्वारा 'नक्' प्रत्यय (उणा० ३. १) । सन् न–इन् न—इन ।
(ख) सनितमनेन ऐश्वर्यम्–ऐश्वर्य–प्रदाता । 'षणु' दाने धातु से 'नक्' । देवराज यज्वा ने पहला निर्वचन 'इण्' धातु को संभजनार्थक मान कर उस से किया है । इ नक् –इन । 'इन' का प्रयोग 'यत्रा सुपर्णा' आदि मंत्र में है। इस का देवता 'विश्वेदेवाः' है। मंत्रार्थ यह है—

(क) **अधिदैवत अर्थ**—(यत्र सुपर्णाः) जहां पृथ्वी-

मण्डल पर सूर्यरश्मियें (अमृतस्य भागं) जल के भाग को (अनिमेषं विदथा) आलस्य रहित-निरन्तर-अपनी सत्ता से (अभिस्वरन्ति) पूर्णतया तपाती हैं, या उस पर पड़ती हैं (सः इनः) वह ऐश्वर्य-प्रदाता, (विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) सब पृथ्वी-मण्डल का रक्षक, (धीरः) और बुद्धि-प्रदाता आदित्य (अत्र मा पाकं)यहां मुझ निर्बल बुद्धि में (आविवेश) प्रविष्ट हो। अर्थात्, सूर्य मेधा-शक्ति को बढ़ाने वाला है, वह मेरी मेधा को बढ़ावे । एवं, यह उपनिषद्-वर्ण है, मेधा प्राप्ति के लिये वर्णन है। उपनिषेदे मेधायै वर्ण्यते ऽत्र स उपनिषद्वर्णः ।

सुपर्ण=किरणें, यतः इन का पड़ना सुखप्रद है। 'सु' पूर्वक 'पत्' धातु से बहुल द्वारा 'न' प्रत्यय (उणा० ३.६)। सुपत् न -सुपर्न-सुपर्ण। अमृत=उदक। विदथा-वेदनेन। 'विदथ' 'विद' सत्तायाम् का रूप है,और तृतीया-विभक्ति के 'टा' को 'सुपां सुलुक्' करके 'आ' होगया है। अभिस्वरन्ति='स्वृ' उपतापे धातुपाठ में पठित है, और गत्यर्थक निघण्टु में। धीर=धीमान्। 'धी' शब्द से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय। पाक=जो पकी बुद्धि वाला नहीं, परन्तु पक्तव्य है। आदित्य प्रज्ञा को पकाने वाला है—विपक्वा प्रज्ञा यस्मात् सः विपक्वप्रज्ञः।

(ख) **मन्त्र का अध्यात्म अर्थ यह है**—जिस आत्मा में पांचों ज्ञानेन्द्रियें ज्ञान के भाग को निरन्तर अपनी सत्ता से तपाती हैं, या उसे पहुंचाती हैं, वह ऐश्वर्य शाली, सर्व इन्द्रियों का रक्षक, और धीर परमात्मा मुझ अल्पमति के उस आत्मा में प्रविष्ट हो—यह मंत्रार्थ परमात्म-प्राप्ति-परक कहा जाता है।

सुपर्ण=इन्द्रियें,यतः ज्ञान प्राप्त कराने के कारण इन की गति सुखकारी है। अमृत=ज्ञान। पाक=जीवात्मा, यह पक्तव्य बुद्धि वाला, अर्थात् अल्पज्ञ है; और आत्मा-सर्वव्यापक परमात्मा-विपक्वप्रज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ है ॥६।१२॥

* तृतीय पाद *

अब अगले दो पादों में निघण्टु के तृतीयाध्याय की व्याख्या की जाती है।

१-११ खण्ड | **(१) बहुनामान्युत्तराणि द्वादश । बहु कस्मात् ? प्रभवतीति सतः । (२) ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश । ह्रस्वो ह्रसतेः । (३) महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः । महान् कस्मात् ? मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः, मंहनीयो भवतीति वा । तत्र ववक्षिथ, विवक्षसे—इत्येते वक्तेर्वा, वहतेर्वा साभ्यासात् । (४) गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः । गृहाः कस्मात् ? गृह्णन्तीति सताम् । (५) परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश । (६) सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः । सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः । खं पुनः खनतेः । (७) रूपनामान्युत्तराणि षोडश । रूपं रोचतेः । (८) प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश । (९) प्रज्ञानामान्युत्तराण्येकादश । (१०) सत्यनामान्युत्तराणि षट् । सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीति वा । (१०) अष्टा उत्तराणि पदानि-पश्यतिकर्माणो धातवश्चिक्यत्प्रभृतीनि च नामानि—आमिश्राणि ।**

अगले १२ नाम 'बहुत' अर्थ के वाचक हैं। बहुत्व में सामर्थ्य होता है। प्रभवतीति प्रभुः—पभुः—बहुः। अगले ११ नाम ह्रस्व वाचक हैं। देवराज यज्वा ने 'ह्रस्व' धातु न्यूनार्थक मानी है, उस से 'वन्' प्रत्यय (उणा० १·१५३)।

अगले २५ नाम 'महान्' अर्थ के वाचक हैं। महत्—

(क)शाकपूणि आचार्य कहता है कि मान से, अर्थात् विशेष गुणों के कारण आदर से, या परिमाण से अन्य निचले दर्जे वालों को छोड़ देता है, अतः वह महत् है। 'मा' 'हा' दोनों धातुओं के योग से

'अति' प्रत्यय (उणा० २. ८४)। माहत्-महत्। (ख) अथवा, बड़ी वस्तु पूजनीय होती है, अतः उसे 'महत्' कहते हैं। मंहत्-महत्। उन महद्वाची नामों में ववक्षिथ, और विवक्षसे—ये दो पद पठित हैं। वे 'वच' या 'वह' धातु के अभ्यस्त रूप 'ववच्' या 'ववह्' से सिद्ध होते हैं। ये दोनों पद देखने में तो आख्यात ही प्रतीत देते हैं, अत एव दुर्गाचार्य, देवराज यज्वा आदिकों ने इन्हें आख्यात ही माना है, परन्तु यास्काचार्य ने इन के आख्यात-पद होने का अन्य स्थलों की न्याईं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, अतः संभवतः ये दोनों पद नाम में भी प्रयुक्त होते हों।

अगले २२ नाम गृह-वाची हैं। 'गृह' शब्द यद्यपि नपुंसक-लिंग है, परन्तु पुल्लिङ्ग में नित्य बहुवचनान्त है। घर जो कुछ आये लेते जाते हैं, अत एव ये दुष्पूर होते हैं। 'ग्रह्' धातु के संप्र-सारण रूप 'गृह्' से 'घ' प्रत्यय। अगली १० धातुयें परिच-र्यार्थक हैं। अगले २० नाम सुख-वाची हैं। सुख—जो इन्द्रियों के लिये हितकारी हो वह 'सुख' कहलाता है। सुहित ख-सुख। ख=इन्द्रिय, इन्द्रियें सच्छिद्र होती हैं। अवदारणार्थक 'खनु' धातु से 'ड' प्रत्यय। अगले १६ नाम रूप-वाचक हैं। 'रूप' शब्द 'रुच' धातु से सिद्ध होता है (देखो १०६ पृ०)। अगले १० नाम प्रशस्य वाची हैं। अगले ११ नाम प्रज्ञा-वाचक हैं। अगले ६ नाम 'सत्य' के वाचक हैं। सत्य—(क) सत्सु तायते—यह सज्जनों में विस्तृत, या पालित होता है। 'तायृ' सन्तानपालनयोः। सत् ताय-सत्य। (ख) सत्प्रभवं सत्यम्—यह सज्जनों में विद्यमान रहता है। 'प्रभव' अर्थ में 'सत्' से 'यत्' प्रत्यय।

अगले ८ पद— दर्शनार्थक धातुयें, और 'चिक्यत्' आदि नाम—मि-

श्रित हैं। चिक्यत्, चाकनत्, अवचाकशत्—ये तीनों पद नाम, तथा आख्यात दोनों हो सकते हैं; विचर्षणिः, विश्वचर्षणि – नाम हैं; शेष तीन आख्यात हैं।

निरुक्त में 'अष्टा उत्तराणि पदानि पश्यतिकर्माणः उतरे धातवश्चायतिप्रभृतीनि च नामान्यामिश्राणि'—ऐसा पाठ पाया जाता है। परन्तु इस से अर्थ संगत नहीं होता। बहुत संभव यह ही है कि लेखक—प्रमाद से 'उत्तरे' अधिक लिखा गया हो, और 'चिक्यत्' की जगह 'चायति, कर दिया हो।

१२. संपूर्ण पद | नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय॥१।१३॥

संपूर्ण पदों के पाठ के लिये अगले ६ पद हैं। हिकं,नुकं, आदि जो आगे ६ निपात दिये गये हैं, वे एक एक निपात नहीं, परन्तु दो दो, या तीन तीन पद मिल कर एक निपात-पद बना हुआ है। उन समस्त निपातों का वेद में बहुत प्रयोग आता है, अतः वैसे ही यहां पढ़ दिये हैं, जिस से पाठक इन निपातों के साहचर्य से भली प्रकार परिचित रहें।

'कम्' निपात हि, नु, सु, और आ+हि—इनके पीछे आता है। 'कीम्' पद आ, और न—इन दो के पीछे आता है। 'किः' न, और मा–इन के पीछे प्रयुक्त होता है। आ, कृतम् के पूर्व आता है। प्रत्येक का एक २ उदाहरण यह है—

१. वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा **हिकं** भुवनानामभिश्रीः ॥१.६८.१

२. इमा **नुकं** भुवना सीषधाम ॥ १०.१५७.१

३. तिष्ठा **सुकं** मघवन्मा परागाः ॥ ३.५३.२

४. अर्वाञ्चमद्य.........मधुना **हिकं** गतम् ॥ २. ३७.५ (आहिकं)

५. **आकीं** सूर्यस्य रोचनात् ॥ ४.१४.६

६. **नकिरिन्द्र** त्वदुत्तरः ॥ ४.३०.१

७. माकिर्नेशन् माकीं रिषन् माकीं संशारि केवटे ।
 अथारिष्टाभिरागहि ॥ ६.५४.७

८. नकीमिन्द्रो निकर्तवे न शक्रः परिशक्तवे ॥ ८.७८.५

९. 'आकृतं' की जगह संभवतः 'माकीं' पाठ हो । यतः, जिस प्रकार नकिः, नकीम्—ये दो पद दिये हैं, उसी प्रकार माकिः, माकीम्-इन दोनों पदों को पाठ भी उचित जान पड़ता है। 'आकृतम्' का पाठ वेद में कहीं आता भी नहीं। यदि किसी शाखा में आया भी, तो बहुत अल्प प्रयोग होगा। ऋग्वेद में 'यद्वा समुद्रे अध्याकृते' (८.१०.१) यहां 'आकृते' प्रयोग आया है, और वह भी नाम है निपात नहीं ॥१।१२॥

१३. खण्ड | **अथात उपमाः । यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः तत् आसां कर्म ।**

अब उपमा-वाची शब्दों की व्याख्या करते हैं । जो वस्तु वह न हो, परन्तु उसके सदृश हो, वह इन उपमाओं का अर्थ है—ऐसा गार्ग्य मानता है । जैसे, हम कहते हैं कि महाराणा प्रताप 'सिंह' था। इस का अभिप्राय यह ही होता है कि महाराणा प्रताप शेर तो नहीं था, परन्तु शेर की न्याईं ओजस्वी, पराक्रमी, तथा निर्भय था । उपर्युक्त संस्कृत की रचना कुछ क्लिष्ट है, उसका अन्वय इस प्रकार है, यदतत्तत्सदृशम्-तत् आसां कर्म-इति गार्ग्यः ।

उपमा के दो भेद | **ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा, कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते । अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ।**

(क) किसी बड़े, या प्रसिद्ध गुण से किसी छोटे, या अप्रसिद्ध को उपमित किया जाता है । जैसे, यह 'पुरुष' सिंह है—यहां सिंह के पराक्रमादि बड़े गुण से पुरुष के न्यून पराक्रम को उपमित किया है। इसि प्रकार 'गाय की न्याईं गवय है'—यहां प्रसिद्ध गाय से आकारादि में समानता के कारण अप्रसिद्ध गवय को उपमित किया गया

है । (ख) और, कहीं छोटे गुण से किसी बड़े को उपमित करते हैं। परन्तु, यह उपमा वेद में ही पायी जाती है, लौकिक भाषा में नहीं । अतः, यास्काचार्य उदाहरण के तौर पर निम्न लिखित दो मंत्रों का उल्लेख करते हैं—

हीनोपमा के दो उदाहरण

'तनूत्यजेव तस्करावनगूं रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्' । तनूत्यक्, तनूत्यक्ता । वनगूं वनगामिनौ । अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते । तस्करस्तत्करो भवति, यत् पापकमिति नैरुक्ताः; तनोतेर्वा स्यात्सन्ततकर्मा भवति अहोरात्रकर्मा वा। रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । अभ्यधीताम्=अभ्यधाताम् । ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः ।

'तनूत्यजेव तस्करा' आदि मंत्र (ऋ०१०.४.६) के अर्थ को विस्पष्ट करने के लिये इस सूक्त के कुछ अन्य मंत्र देने आवश्यक हैं। यह सूक्त ७ मंत्रों का है । इस के दो मंत्र आगे भी यास्क ने दिये हैं, अतः संपूर्ण सूक्त की ही यहां व्याख्या की जाती है । इस सूक्त का देवता 'अग्नि' है । यहां 'अग्नि' से अभिप्राय वनस्थ आश्रमी से है, क्योंकि वनस्थ अग्नि-प्रधान होता है । वह गृहस्थ के अन्य सब सामान छोड़कर यज्ञोपकरणों को लेकर ही वन में जाता है, और वहां पांचों यज्ञ, तथा अन्य पद्तेष्टि आदि याग करता है । अतः वनी को 'अग्नि, कहा गया । अब आप क्रमशः सूक्त के मंत्र, और उनकी व्याख्या देखिए, उन से आप को वानप्रस्थाश्रमी के धर्मों का पूरा २ज्ञान होगा—

१. **प्र ते यक्षि प्र त इयर्मि मन्म भुवो यथा वन्द्यो नो हवेषु ।**
धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् ॥

(अग्ने !) हे वनस्थ ! (ते प्रयक्षि, ते मन्म प्रेयर्मि) मैं तेरी संगति करता हूं, और तेरे मन को प्राप्त करता हूं, (यथा

वन्द्यः हवेषु नः भुवः) जिससे वन्दनीय आप शिक्षा-दान में हमारे हों । (प्रत्न राजन् !) हे वृद्ध राजन् ! वनस्थ ! (इयक्षवे पूरवे) स्वाध्याय-यज्ञ करने की इच्छुक मनुष्य-जाति के लिये (धन्वन् प्रपा इव असि) मरु-भूमि में प्याऊ की न्याईं आप हो ।

मन्मन्=मनस् (निरु० ६. ६७) ।

२. यन्त्वा जनासो अभिसञ्चरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन ॥

(यविष्ठ !) हे ज्ञानप्रापक तथा अज्ञाननाशक वनस्थ ! (उष्णं व्रजं गावः इव) जैसे शीत-काल के समय गर्म गोशाला में गायें आकर रहती हैं, एवं (यं त्वा जनासः अभिसञ्चरन्ति) जिन आप के पास अविद्या से बचने के लिये विद्यार्थी लोग आकर रहते हैं, वह आप (देवानां मर्त्यानां दूतः असि) खिलाड़ी बालक-जनों को दुष्कर्मों से निवारण करने वाले हो । (महान्) एवं, महान् आप (रोचनेन) दीप्ति और प्रीति के साथ (अन्तः चरसि) विद्यार्थियों के अन्दर विचरते हो ।

दूतः=वारयति अनर्थान् (निरु० ५.३) । देव=खिलाड़ी, 'दिवु' धातु क्रीडार्थक है । रोचन-'रुच' दीप्तौ, 'रुच' प्रीतौ-दोनों धातुयें हैं ।

३. शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना।
धनोरधि प्रवता यासि हर्यञ्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः ॥

(शिशुं वर्धयन्ती माता न) जैसे माता बच्चे की वृद्धि करती हुई उसे पालती है, एवं हे वनस्थ ! (जेन्यं त्वा सचनस्यमाना बिभर्ति) जितेन्द्रिय आपको वेद-माता अपने में संयुक्त करने की इच्छा रखती हुई धारण करती है । (हर्यन्) वह आप जगन्माता की कामना करते हुए (धनोः अधि) प्रणव 'रूपी धनुष के

द्वारा (प्रवता यासि) प्रकृष्ट मार्ग से चलते हो । एवं, आप (अव-सृष्टः पशुः इव) छोड़े हुए पशु की न्याईं (जिगीषसे) मुक्ति–धाम को प्राप्त करने की इच्छा करते हो । जैसे छोड़ा हुआ पशु दिन भर इधर उधर घूमकर फिर अपने गोष्ठ में ही आजाता है, एवं आप भी अनेक जन्मों में इधर उधर घूमकर मुक्ति–धाम को पहुंचन की तय्यारी में हो ।

'स्तुता मया वरदा वेदमाता' (अथर्व० १९. ७१. १) में वेद को माता कहा है । 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा' (मुण्डक २. २. ४) में 'प्रणव' को धनुष बताया है ।

४. मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से ।
शये वव्रिश्चरति जिह्वया दन् रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन् ॥

(वयं मूराः) हम विद्यार्थी लोग मूढ़ हैं । (महित्वं न चिकित्वः) हम जगन्माता की महिमा को नहीं जानते । (अमूर अङ्ग अग्ने !) हे अमूढ़ मित्र वनस्थ ! (त्वं वित्से) आप उस के महत्त्व को समझते हो । (वव्रिः) वरण किये हुए आप (जिह्वया दन्) वाणी द्वारा शिक्षा देते हुए (शये चरति) अपने आश्रम में विचरते हो । (विश्पतिः सन्) और एवं, प्रजा–पालक होते हुए आप (युवतिं) ब्रह्म से मिलाने वाली ब्रह्म–विद्या का (रेरिह्यते) निरन्तर आस्वादन करते हो ।

शय=आश्रय=आश्रम । दन्=ददन् ।

५. कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः ।
अस्नातापो वृषभो न प्रवेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः ॥

(कूचित् सनयासु नव्यः जायते) जब कहीं भी पुरातन सन्ततिओं में नवीन सन्तति पैदा हो जावे, अर्थात् अपने पुत्रों में से

किसी के पुत्र उत्पन्न हो जावे, तब (पलितः) पक्क केशों वाला (धूमकेतुः) अग्नि–परिच्छद सहित (वने तस्थौ) वन में स्थित हो, (यं सचेतसः मर्ताः प्रणयन्त) जिस को समान चित्त वाले विद्यार्थी प्राप्त हों। और वह (अस्नातापः वृषभः न प्रवेति) उन अशुद्ध कर्मों वालों को वृषभ की न्याईं दृढाङ्ग, बलिष्ट, और ब्रह्मचर्य-व्रत से वीर्यवान् बनावे।

क्वचित्=क्वापि। धूमकेतु=अग्नि, यहां पर इसका अभिप्राय अग्नि–परिच्छद से है। प्रवेति—'वी' धातु प्रजननार्थक है। उपर्युक्त मंत्र के आधार पर ही निम्न लिखित मनु–श्लोकों का निर्माण है—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ ६. २
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ६.४
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। ६.८

६. तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः॥

हे वनस्थ! (तनूत्यजा वनर्गू तस्करा इव) शरीर की परवाह न करने वाले, वनगामी चोरों की न्याईं तेरी बाहुएँ (दशभिःरशनाभिः अभ्यधीतां) दसों अंगुलियों से यज्ञ–कर्मों को भली प्रकार धारण करें। (अग्ने! इयं ते नव्यसीमनीषा) हे वनस्थ! यह वानप्रस्थाश्रम–धारण संबन्धी तेरी नवीन मानसिक इच्छा है, (शुचयद्भिः अंगैः) अतः, पवित्र इन्द्रियों से (रथं न युक्ष्व) रथरूपी शरीर को उसकी पूर्ति के लिये संयुक्त कर।

यहां चोरों की हीनोपमा से अग्नि–मन्थन–बाहुओं, अर्थात् यज्ञ–कर्म में लगी हुईं भुजाओं को उपमित किया है। जिस प्रकार चोर शरीर की परवाह न करते हुए, और बनगामी रहते हुए अपना कार्य

सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार वनस्थ की बाहुएँ शरीर की परवाह न करती हुई आत्म-संरक्षण के लिये यज्ञ-कर्मों में दृढ़तया व्यापृत रहें। एवं, इस हीनोपमा से बाहुओं में, शारीरिक आराम को छोड़ते हुए दृढ़तया यज्ञ-कर्मों के संपादन का, उच्च गुण अभिप्रेत है।

तनूत्यजा=तनूत्यक्ता=तनूत्यक्तौ । 'तनूत्यजा' पद 'तनूत्यज्' का रूप है, इसे दर्शाने के लिये यास्क ने 'तनूत्यक' लिखा है। वन्र्गू=वनगामिनौ । तस्कर-(क) तत्कर -तस्कर, पाणि० ६. १. १५७ से 'सुट्' । 'तत्' पाप का वाचक है, चोर पापकारी होता है। (ख) ततकर-तत्कर-तस्कर । चोर सन्ततकर्मा होता है; दिन को तो कार्य करता ही है, रात्रि को चोरी करता है । एवं यह, दिन रात काम में लगा रहता है ।

७. ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्चेयं च गीः सदमिद्वर्धनी भूत ।
रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वो अप्रयुच्छन् ॥

(जातवेदः अग्ने !) हे विद्वान् वनस्थ ! (ब्रह्म च, नमः च, इयं गीः च) परमेश्वरार्चन, नम्रता और यह वेद-वाणी (ते सदम् इत् वर्धनी भूत) आपको सदैव वृद्धि देने वाले हों । (अप्रयुच्छन्) आप प्रमाद रहित होकर (नः तनयानि तोका रक्ष) हमारे पुत्र तथा पौत्रों की विद्या-द्वारा रक्षा कीजिए, (उत नः तन्वः रक्ष) और हमारे आत्मीयों की भी रक्षा कीजिए ।

एवं, संपूर्ण सूक्त के मनन से पाठकों को 'तनूत्यजेव' मंत्र का अर्थ विस्पष्ट हो गया होगा । हीनोपमा का दूसरा मंत्र (ऋ० १०. ४०. २) देखिए—

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

कस्विद्रात्रौ भवथः ? क दिवा ? काभिप्राप्तिं कुरुथः ? क वसथः ? को वां शयने विधवेव देवरम् ? देवरः कस्मात्, द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति, विधवनाद्वा, विधवनाद्वेति चर्मशिराः, ; अपि वा धव इति मनुष्यनाम, तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा। मर्यो मनुष्यो मरण-धर्मा। योषा, यौतेः। आकुरुते सहस्थाने॥ २। १४॥

यदि कोई स्त्री पुरुष अपने देश से देशान्तर में जावें, तो उस देशान्तर के राजकर्मचारी प्रवेश से पूर्व उनसे निम्न प्रकार प्रश्न पूछें—

(अश्विना) हे स्त्रीपुरुषो ! (कुह स्वित् दोषा) गत रात्रि को आप कहां थे ? (कुह वस्तोः) कल दिन को कहां रहे ? (कुह अभिपित्वं करतः) कहां पदार्थों की प्राप्ति की ? अर्थात्, भोजनादि कहां किया ? (कुह ऊषतुः) कहां तुह्मारा निवास स्थान है ? अर्थात्, किस देश के तुम बसने वाले हो ? (विधवा देवरं इव, योषा मर्यं न शयुत्रा सधस्थे वां कः आकृणुते) और, जैसे कोई विधवा स्त्री नियुक्त पति को, या अक्षत-योनि स्त्री पूर्व पति के छोटे भाई देवर को, अथवा विवाहिता स्त्री अपने पति को समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों को उत्पन्न करती है, एवं तुम्हारा परमप्रिय घनिष्ट मित्र कौन है ? जिसके साथ मिल कर तुम अपने धार्मिक, सामाजिक या व्यावहारिक आदि कृत्य पूर्ण करते हो।

इसी प्रकार के प्रश्नों का विधान शुक्रनीति (१. २६९) में पाया जाता है। वहां लिखा है कि राजा प्रति दो ग्रामों में एक पान्थ-शाला बनवावे। और शालाधिप प्रत्येक पान्थ से यह सवाल करे—कहां से आया ? क्यों आया ? कहां जाता है ? तेरी जाति और कुल क्या है ? तेरा निवासस्थान कहां है ? इत्यादि।

एवं, इस मंत्र में हानोपमाओं के द्वारा संगी, तथा परमप्रिय घनिष्ट मित्र के बारे में प्रश्न किया गया है।

शयुत्रा=शयने, शयन-वाची 'शयु' से सप्तम्यर्थ में 'त्रा' (पाणि० ५. ४. ५६)। **देवर**—द्वितीय वर—द्विवर—देवर। जो दूसरा वर हो, अर्थात् जिसकी विवाहिता स्त्री मर चुकी हो, उस नियुक्त पति को देवर कहते हैं। **विधवा**—(क) विधातृका-विधवा, जो पति-विहीना हो। (ख) 'वि' पूर्वक 'धूञ्' कम्पने धातु से 'अप्' प्रत्यय, और 'टाप्'। यह निराश्रित होने से सदा कम्पायमान रहती है। (ग) चर्मशिरा आचार्य कहता है कि 'वि' पूर्वक गत्यर्थक 'धावु' धातु से 'विधवा' सिद्ध होता है, क्यों कि विधवा प्रायः चलायमान चित्त वाली रहती है। (घ) अथवा, 'धव' शब्द मनुष्य वाची है, उस स्वकीय मनुष्य के वियोग से वह विधवा कहलाती है। **देवर**—स्तुत्यर्थक 'दिवु' धातु से 'अर' प्रत्यय (उणा० ३. १३२)। पति का छोटा भाई भावज का सदा आदर करता है, अतः उसे देवर कहा गया। इस 'देवरम्' पद का संबन्ध 'विधवा' और 'योषा' दोनों के साथ है, अतः यास्क ने अपने २ स्थान पर 'देवर' के दो निर्वचन करते हुए इस के भिन्न अर्थ ज्ञापित किये हैं। विधवा के साथ 'योषा' के पाठ से यहां 'योषा' का अर्थ सुहागिन, या अक्षत-योनि स्त्री है, एवं 'मर्य' शब्द उस पुरुष के लिये विवक्षित है जिसकी विवाहिता स्त्री जीवित हो। 'योषा' के साथ 'देवरम्' तथा 'मर्यम्'—दोनों का संम्बन्ध है। मर्य=मनुष्य, यह मरण धर्म वाला है। 'मृ' धातु से 'यत्' प्रत्यय (पाणि० ३. १. ९७)। योषा —'यु' धातु से 'स' प्रत्यय (उणा० ३. ६२)। यह पति से युक्त होती है।

इस मंत्र से निम्न लिखित तीन बातों पर प्रकाश डलता है,

पाठक उन्हें ध्यान में रक्खें—

(१) अश्विनौ, अर्थात् दम्पती से प्रश्न पूछने से पता लगता है कि देश विदेश में स्त्री पुरुषों को इकट्ठे रहना चाहिए, वियुक्त कभी नहीं होना चाहिए। मनु की भी (९. १३) यही आज्ञा है।

(२) विधवा के साथ विधुर, या विधुर के साथ विधवा का ही नियोग होना चाहिए, कुमार या कुमारी का नहीं।

(३) अक्षत-योनि स्त्री का अपने कुमार देवर के साथ पुनर्विवाह हो सकता है। इसी को मनु ने (९. ६९) **"तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः"** से अङ्गीकृत किया है।

श्रेष्ठोपमायें तो संस्कृत-साहित्य में भी बहुत अधिक पायी जाती हैं, **परन्तु जहां छोटे से बड़े को उपमा दी हो, ऐसी हीनोपमायें संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त नहीं होतीं। उनका प्रयोग वेद में बहुत पाया जाता है।** जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तब उसे लौकिक-व्यवहार और संस्कृत-साहित्य से प्रभावित होने के कारण ऐसी हीनोपमायें बड़ी खटकती हैं। उस ने संस्कृत-साहित्य में सदा पहले प्रकार की ही उपमायें पढ़ी और सुनी होती हैं, उसी प्रकार की उपमाओं में वह पला हुआ होता है। उस के मन में यह बात पूर्णतया जमी हुई होती हैं कि उपमायें सदा उच्च ही होनी चाहिए। इसी लिए वेदाध्ययन करते समय जब उस से विपरीत हीनोपमायें दीख पड़ती हैं तो वह असंगत भान होती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी वस्तु के गुण को दूसरी प्रसिद्ध वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। यह स्पष्टता जहां से हो सके, की जा सकती है चाहे वह हीनोपमा हो, और चाहे श्रेष्ठोपमा। अतः, इस भेद को ध्यान में रखते हुए वेद का स्वाध्याय करना चाहिए॥ २।१४॥

अथ निपाताः। पुरस्तादेव व्याख्याताः।

अब उपमा-वाची निपात हैं। उनकी सामान्यतः पहले ही (१.४) व्याख्या की जा चुकी है। अब निघण्टु में पठित उपमा-वाचकों में जो विशेषतः व्याख्येय हैं, उनकी व्याख्या करते हैं।

प्रथम 'इव' तथा छठे 'नु' की सोदाहरण व्याख्या १.४ में हो चुकी है, अतः अब यहां उन्हें छोड़ दिया गया है। 'न' के लिये भी यद्यपि मंत्र दिया जा चुका है, परन्तु 'अग्निर्न ये' से जिस मंत्र का संकेत निघण्टु ने किया है, वह व्याख्यात नहीं, अतः उसकी व्याख्या यहां की गई है। 'चित्' की व्याख्या में पहले वेद-मंत्र नहीं दिया, वह यहां दिया जाता है। निघण्टु में पांचवीं संख्या में जो 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय लुप्तोपमा से है। लुप्तोपमा की व्याख्या यास्क ने शब्दोपमा के पश्चात् की है। अब आप क्रमशः निघण्टु-पठित उपमा-वाची निपातों की व्याख्या देखिए—

२. यथा | यथेति कर्मोपमा। 'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति'। 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा'। 'आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा'। आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्याद्यावद्व्याप्तिभूत इति।

'यथा' यह क्रिया की उपमा के लिये आता है। जैसे—

(क) यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ ५.७८.८

(दशमास्य) हे दशमास वाले गर्भ! (यथा वातः एजति) जैसे वायु चलती है, (यथा वनं) जैसे वृक्ष हिलता है, (यथा समुद्रः) और जैसे समुद्र हिलचुल करता है, (एव त्वं जरायुणा सह अवेहि) इसप्रकार शान्त, तथा गम्भीर हिलता हुआ तू जरायु के साथ बाहर निकल। यहां 'एजति' क्रिया के लिये उपमायें दी गई हैं।

(ख) **अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।**
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १. ५०.३

देवता—सूर्यः । (अस्य केतवः रश्मयः)इस सूर्य की पदार्थ-ज्ञापक किरणें (जनान् अनुव्यदृश्रम्) मनुष्य आदि प्राणियों को अनुकूलता से समस्त पदार्थ दर्शाती हैं, (यथा भ्राजन्तः अग्नयः) जैसे कि प्रदीप्त अग्नियें वस्तु-स्वरूप को दर्शाती हैं । यहां 'अनुव्य-दृश्रम्' क्रिया के लिये उपमा दी गई है ।

अदृश्रम्—यह 'दृश्' धातु के लुङ् में प्रथम पुरुष के बहुवचन की जगह उत्तम पुरुषैकवचन है । शाखान्तर में 'अदृशन्नस्य केतवः' इस प्रकार प्रथम पुरुष का ही पाठ पाया जाता है ।

(ग) **यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।**
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ १०.९७.११

देवता—ओषधिः । (यत् अहं वाजयन्) जब मैं वैद्य, रोग-निदान को भली प्रकार जानता हुआ (इमाः ओषधीः हस्ते आदधे) इन ओषधियों को रोगी को देने के लिये हाथ में लेता हूं, तब (पुरा जीवगृभः यथा) जीव-ग्राही व्याध द्वारा मारे जाने से पहले ही जैसे जीव भय के कारण मर जाता है, एवं (यक्ष्मस्य आत्मा नश्यति) रोग का कारण-भूत आत्मा स्वयं नष्ट हो जाता है । यहां 'नश्यति' क्रिया के लिये उपमा है । जैसे भय के कारण प्राणी की हृदय-गति रुक जाती है, उसी प्रकार रोग का कारण शान्त हो जाता है।

आत्मन्-(क) 'अत सातत्यगमने से 'मनिन्' (उण० ४.१५३) । आत्मा सतत-गतिमान्, अर्थात् सक्रिय है । (ख) 'आप्लृ' व्याप्तौ से 'मनिन्' । आप् मन्-आत्मन् । परमात्मा सर्व-व्यापक है ।(ग) अथवा, 'आप्लृ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करने पर 'आत्मन्' शब्द जीवात्मा का वाचक भी है । यह व्याप्त तो नहीं,

परन्तु जितना व्याप्तीभूत है, उस से यह व्याप्त सा है। अर्थात्, जीव जिस छोटे या बड़े शरीर में विद्यमान रहता है, उस शरीर के रोम २ में जीवात्मा की शक्ति व्यापक रहती है, अतः जीवात्मा को अणु मानते हुए भी विभु कहा गया। यास्क की इस व्याख्या से दार्शनिकों के अणु-वाद, तथा विभु-वाद का पारस्परिक मत-भेद नहीं रहता।

३. न । 'अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः' अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णुरस्काः—भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः॥३।१५॥

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः।
प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते॥ १०.७८.२

देवता—मरुतः। हे मनुष्यो! (ये) जो आप (अग्निः न भ्राजसा) अग्नि की न्याईं तेजस्वी, (रुक्मवक्षसः) विशाल वक्षःस्थल वाले, (वातासः न स्वयुजः) वायुओं की न्याईं परस्पर में मिले हुए, (सद्यःऊतयः) सर्वदैव क्रियाशील, (प्रज्ञातारः न ज्येष्ठाः) ज्ञानी पुरुषों की न्याईं पूज्य, (सुनीतयः) साधु नीति वाले, (ऋतं यते सुशर्माणः न सोमाः) और यज्ञकर्ता, या सत्यवादी के लिये सुखदायी बन्धुओं की न्याईं सौम्य हो, वे देवजन आप हमें सौभाग्यशाली बनाइए। एवं, इस मंत्र का संबन्ध १०,७८,८ के 'सुभागान् नो देवा कृणुत' के साथ जोड़ने से अर्थ पूर्ण होता है॥३।१५॥

४. चित् । चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादानिधातोः।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥ १.४१.९॥

चतुरोऽक्षान्धारयत इति, तद्यथा कितवाद् बिभीयादेवमेव दुरुक्ताद्बिभीयात्। न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित्।

(चित् चतुरः ददमानात् आनिधातोः बिभीयात्) जैसे द्यूत-क्रीड़ा में चार पासों को हाथ में पकड़े हुए जुआरी से दूसरा जुआरी पासों

को नीचे फैंकने से पहले अत्यन्त भयभीत होता है, एवं सज्जन दुर्वचन से सदा डरता रहे, (दुरुक्ताय न स्पृहयेत्) दुर्वचन की कभी इच्छा न करे। ददमानात्=धारयतः, 'दद' धारणे।

७. आ | आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथाप्युपमार्थे उच्यते। "जार आ भगम्" जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता, स एव भासाम्। तथापि निगमो भवति "स्वसुर्जारः शृणोतु नः" इत्युषसमस्य स्वसारमाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा। अपि त्वयं मनुष्यजार एव अभिप्रेतः स्यात्। स्त्रीभगस्तथा स्यात्, भजतेः।

'आ' इस उपसर्ग आकार की पहले ही (१. ३) व्याख्या कर चुके हैं। अब यहां उपमा अर्थ में कहा जाता है। उस उपमा–वाची 'आ' का मंत्र यह है—

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥१०.११.१६

देवता–अग्निः। (जार आ भगम्) जैसे अन्धकार–विनाशक सूर्य द्यावापृथिवी को ज्योति पहुंचाता है, एवं (पितरा उदीरय) हे विवाहित पुरुष! तू माता पिता को सुख पहुंचा, (हर्यतः इयक्षति) चाहने वालों को दान दे, (हृत्तः इष्यति) और, हृदय से सब कर्म कर। (वह्निः विवक्ति) विवाहित पुरुष सुभाषित वचन बोले, (स्वपस्यते) और शुभ कर्म करे। (असुरः मती वेपते) बुद्धिमान् गृहस्थी मनन द्वारा पापादिकों से सदा कांपे। 'द्यौर्मे पिता' (ऋ० १. १६४. ३३) आदि मंत्र में द्यावापृथिवी को पिता माता कहा है। यहां भी 'असुर' शब्द गृहस्थी के लिये प्रयुक्त है (देखो निरु० ३. ७)।

जार=आदित्य, यह रात्रि का नाश करता है । और, वह सूर्य ही चन्द्र नक्षत्रादिकों की ज्योति को नष्ट करता है । सूर्योदय के होने पर अन्य तारागणों की ज्योति अदृश्य हो जाती है । ऐसा भी वेद-मंत्र है, जिसमें आदित्य को ज्योति-विनाशक कहा गया है । जैसे—

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥६.५५.५

देवता–पूषा । (मातुः दिधिषुं अब्रवम्) पृथिवी के धारण पोषण करने वाले पूषा सूर्य को मैं कहता हूं । (इन्द्रस्य भ्राता) वह विद्युत् का भाई, (मम सखा) हम मनुष्यों का मित्र, (स्वसुः जारः) और उषा का नाश करने वाला सूर्य (नः शृणोतु) हमें सुने । अर्थात्, सूर्य हमें सुशोभित वृष्टि दे, उत्तम वायु पहुंचावे, और हमारी मेधा-शक्ति को बढ़ावे–इत्यादि प्रकार से हमें सुख प्रदान करे ।

सूर्य को विद्युत् का भाई इसलिये कहा कि दोनों वृष्टिकर्ता हैं । उषा को सूर्य की बहिन इसलिये कहा गया कि जैसे भाई बहिन इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकार प्रातःकाल में उषा तथा सूर्य इकट्ठे रहते हैं, और दोनों मातृ-दुग्ध-रूपी ओस को हरते हैं ।

अथवा, **'जार आ भगम्'** को हीनोपमा मान कर उसका अर्थ इस प्रकार होगा–जैसे व्यभिचारी मनुष्य स्त्री-भग को सदा उठाता रहता है, अर्थात् उसी में रत रहता है, एवं हे विवाहित पुरुष ! तू अपने माता पिता को सुख पहुंचाने में रत रह । भग=ज्योति, स्त्री-भग ।

८. भूत । **मेष इति भूतोपमा । 'मेषो भूतोऽभियन्नयः' मेषो मिषतेः, तथा पशुः पश्यतेः ।**

मेष के साथ 'भूत' उपमा-वाची है । उसका मंत्र यह है—

इत्था धीमन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिं। मेषो भूतोऽभियन्नयः॥८.२.४०

देवता—इन्द्रः । (अद्रिवः) हे वज्रिन् राजन् ! (इत्था) सत्यवक्ता, (धीमन्तं) कर्मशील, (काण्वं) मेधावी, (मेध्यातिथिं)

तथा संगति के योग्य अतिथि को (मेषः भूतः अभियन्) मेढे की न्याईं प्राप्त होते हुए (अन्नः) आवश्यक सामग्री पहुंचायो । जैसे, मेढा ऊन रूपी उत्तम पदार्थ को प्रदान करता है, एवं हे राजन् ! तुम भी श्रेष्ठ अतिथियों को उत्तमोत्तम पदार्थ प्रदान करो ।

मेष—दर्शनार्थक 'मिष' धातु से 'घ' प्रत्यय । मेढा पशु है, अतः उसके प्रसंग से 'पशु' का भी निर्वचन कर देते हैं । दर्शनार्थक 'दृश्' धातु के रूपान्तर 'पश्' से 'उ' प्रत्यय (उणा०१.२७) ।

६,१० रूप, वर्ण | **अग्निरिति रूपोपमा । 'हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपांनपात्सेदु हिरण्यवर्णः' हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् ।**

अग्नि के लिये 'रूप' उपमा–वाची है । उसका मंत्र यह है—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपांनपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।
हिरण्ययात्परियोनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै ॥ २.३५.१०

देवता—अपांनपात् । (हिरण्यरूपः) अग्नि तेजःस्वरूप है, (सः हिरण्यसन्दृक्) वह सुवर्ण को दर्शाने हारी है । अर्थात् अग्नि के प्रभाव से ही सुवर्ण का निर्माण होता है, और यह अग्नि–प्रधान है । (उ सः इत् हिरण्यवर्णः) और वह अग्नि सुवर्ण–वर्ण की है । (हिरण्ययात् योनेः परिनिषद्य) तेजोमय पदार्थ से बाहर परिस्थित होकर (हिरण्यदाः) यह उत्तमोत्तम पदार्थों को देने हारी अग्नि (अस्मै अन्नं ददाति) इस मनुष्य–जाति के लिये अन्न को देती है ।

१०. था | **था इति च । 'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' प्रत्न इव, पूर्व इव, विश्व इव, इम इवेति । अयमेततरो ऽमुष्मात् । असावस्ततरोऽस्मात् । अमुथा यथासाविति व्याख्यातम्** ॥४।१६॥

'था' यह प्रत्यय उपमा–वाची है । प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि (पाणि० ५.३.१११) से इवार्थ में 'थाल्' प्रत्यय । 'था'

का पाठ निघण्टु में नहीं, परन्तु यास्क ने उसकी व्याख्या की है। अतः, निघण्टु में भी यह पाठ अवश्य होगा, लेखक-प्रमाद से छूट गया है, अन्यथा यास्काचार्य निघण्टु-पठित उपमा-वाची शब्दों के मध्य में ही इस की व्याख्या न करते। 'था' का मंत्र यह है—

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिराशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे॥ ५.४४.१

देवता—विश्वेदेवाः। राजा के योग्य समस्त दिव्यगुणों से सम्पन्न राजन्! (प्रत्नथा) सनातन धर्म की न्याईं, (पूर्वथा) प्राचीन राजाओं की न्याईं (विश्वथा) सर्व-प्रजा की अनुमति की न्याईं, (इमथा) तथा इस मंत्रि-मंडल की सहमति की न्याईं वर्तमान आप (ज्येष्ठतातिं) आयु में बड़े (बर्हिषदं) राजसिंहासन पर बैठने वाले, (स्वर्विदं) सुख पहुंचाने वाले, (प्रतीचीनं) प्रजा के प्रति चलने हारे, अर्थात् प्रजा से विमुख न होने वाले, (वृजनं) बलवान्, (आशुं जयन्तं) और, शीघ्र शत्रुओं को जीतने हारे अपने आप को (यासु अनुवर्धसे) जिन प्रजाओं में रह कर बढ़ाते हो (तं गिरा दोहसे) उस प्रजा-वर्ग को सुशिक्षा से पूर्ण करो।

ज्येष्ठताति- 'ज्येष्ठ' शब्द से प्रशंसा अर्थ में 'तातिल्' (पाणि० ५.४.४१) इमः=अयं। 'इमः' छान्दस प्रयोग है। इदम् सु-यहां 'इदोऽय् पुंसि' (पाणि० ७.२.१११) सूत्र नहीं लगा, परन्तु 'दश्च' (पाणि० ७.२.१०९) से 'द' को 'म' होगया। एवं 'इदमो मः' (पाणि० ७.२.१०८) से 'इदम्' के 'म्' को 'म्' नहीं हुआ परन्तु 'त्यदादीनामः' (पाणि०७.२.१०२) से 'अ' होगया। इदम्—एततरः अमुष्मात्, उस दूरवर्ती से यह समीपतर है। 'इण्' धातु से 'कमिन्' प्रत्यय, और 'द्' का आगम (उणा० ४.१५७)। अदस्—अस्ततरः अस्मात्, इस समीपवर्ती से वह दूर फेंका हुआ

है।अस्त–अतस्–अदस्। 'इदम्' समीप की वस्तु का निर्देश करता है, और 'अदस्' दूर की वस्तु का। इसी को हम भाषा में यह, तथा वह से पुकारते हैं। पाठकों को यह भेद ध्यान में रखना चाहिए। अमुथा=यथा असौ। वेद में 'असौ' के अर्थ में 'अमुः' प्रयुक्त हुआ है। अदस् सु–यहां 'अदस औ सुलोपश्च' (७.२.१०७) से 'अदस्' के 'स्' को 'औ' और 'सु' का लोप नहीं हुआ, परन्तु पाणि०८.२.८० से 'द्' को 'म्' 'और दकार के 'अ' को 'उ' होगया, 'त्यदादीनामः' से 'अदस्' के 'स्' को 'अ' ॥४।१६॥

११. वत् | वदिति सिद्धोपमा। ब्राह्मणवत्, वृषलवत्। ब्राह्मणा इव, वृषला इवेति। वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा।

'वत्' यह उपमा-वाची प्रत्यय लोक, तथा वेद में बहुत प्रसिद्ध है। जैसे—ब्राह्मणवत्=ब्राह्मणों की न्याई, वृषलवत्=वृषलों की न्याई। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (पाणि०५.१.११५) से इवार्थ में 'वत्' प्रत्यय। वृषल-(क) वृषशील–वृषल। नीच या कामी मनुष्य बैल के स्वभाव वाला होता है।(ख) वृष अशील–वृषल, जो धार्मिक स्वभाव का नहीं, परन्तु पापी है। 'वृषल' का निर्वचन मनु (८. १६) ने इस प्रकार किया है—

> वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
> वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

उपमा-वाची 'वत्' के लिये निम्न मंत्र है—

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम्॥ १.४५.३

प्रियमेधः, प्रिया अस्य मेधा। यथैतेषां ऋषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः, कण्वप्रभवो यथा

प्राग्रम् । अर्चिषि भृगुः सम्बभूव । भृगुः भृज्यमानः, न देहे । अङ्गारेष्वङ्गिराः । अङ्गारा अङ्कनाः । अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिः,न त्रय इति । विखननाद्वैखानसः । भरणाद्भारद्वाजः । विरूपो नानारूपः । महिव्रतो महाव्रत इति ॥ ५।१७ ॥

देवता—अग्निः । (जातवेदः महिव्रत !) विद्वान्, तथा महाव्रती राजन् ! (प्रियमेधवत्, अत्रिवत्, विरूपवत्, अङ्गिरस्वत्) आप प्रिय बुद्धि वाले ब्रह्मचारी की न्याईं, तीनों तापों से रहित सन्यासी की न्याईं, और नानादर्शी योगी की न्याईं, और अग्नि-प्रधान वानप्रस्थी की न्याईं, (प्रस्कण्वस्य हवं श्रुधि) प्रकृष्ट विद्वान् गृहस्थ के निवेदन को सुनिए । अर्थात्, प्रियमेध आदि वेदवेत्ताओं की न्याईं वेद-स्वाध्यायी प्रस्कण्व के सुख दुःख को भी सुनिये । राजा का कर्तव्य है कि वह वेद का अनुशीलन करने वाले प्रत्येक प्रजा-पुरुष को किसी तरह का कष्ट न होने दे । चाहे वह सन्यासी हो, चाहे ब्रह्मचारी हो, और चाहे गृहस्थी हो-सब के साथ समान न्याय से वर्ताव करना चाहिये ।

प्रस्कण्व—(क)कण्वस्य पुत्रः प्रस्कण्वः । यहां पुत्र शब्द प्रकृष्ट अर्थ का द्योतक है, यह पहले लिखा जा चुका है । 'कण्व' का अर्थ मेधावी निघण्टु-पठित है । (ख) कण्वप्रभवः प्रस्कण्वः । यहां 'भव' का लोप है, जैसे कि प्रगतं अग्रं प्राग्रम् में 'गत' का लोप हो जाता है । **भृगु**—भृगु ऋषि अर्चिओं में पैदा होता है, अर्थात् तपस्वी । इस का शरीर कष्टों में अच्छी तरह भुना हुआ होता है, अतएव इसकी देह में आस्था नहीं होती । वह देह से आत्मा को पृथक् समझता है । भृज्जति तपसा शरीरम् इति भृगुः, 'भृजी' भर्जने से 'कु' प्रत्यय । (उणा० १. २८) । भर्ग=तेज, भृगु=

तेजस्वी । **'अङ्गिरस्'** ऋषि अङ्गारों में पैदा होता है, अर्थात् तपस्वी या अग्नि-प्रधान वनस्थ । अङ्गार-अङ्गिरस् । अंगार—'अकि' लक्षणे से 'आरन्' प्रत्यय, इन से आग लक्षित होती है । **अत्रि—** (**क**) अत्रैव तृतीयं ऋच्छत—अत्र त्रि-अत्रि । इसी तपस्या में रमे हुये तीसरे तपस्वी का नाम 'अत्रि' है । (**ख**) न त्रयः—अत्रि, अर्थात् जिसके तीनों ताप न हों । **वैखानस**—विखनसं ब्रह्माणं वेत्ति तपसा इति वैखानसः वानप्रस्थः—यह 'शब्द-कल्पद्रुम' ने निर्वचन किया है । इसकी पुष्टि में वह देवी भागवत (१.१९.१७) का प्रमाण देता है—

वैखानसा ये मुनयो मिताहारा जितव्रताः ।
तेऽपि मुह्यन्ति संसारे जानन्तोऽपि ह्यसत्यताम् ॥

विखनस्—विशेषेण खन्यते यः, विखनस् । ब्रह्म विशेष यत्नों से ही खोदा जाता है, ढूंडा जाता है, क्योंकि वह हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ है । **भारद्वाज**—भरद्वाज एव भारद्वाजः, ज्ञान या बल को धारण करने वाला । विरूप=नानारूप, विविध प्रकार के दर्शनों वाला । महिव्रत=महाव्रत, महत् और महि-दोनों शब्द समानार्थक हैं। ऋषि-प्रसंग से यहां अन्य ऋषि-वाची नामों का भी उल्लेख कर दिया गया । 'सम्बभूव' आदि भूतकालीन पदों का आशय १.२५ में देखिए ॥ ५ । १७ ॥

---

* चतुर्थ पाद *

लुप्तोपमा | **अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम् । श्वा काक इति कुत्सायाम् । काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम् । न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः । काकोऽपकालयितव्यो भवति । तित्तिरिस्तर-**

णात्, तिलमात्रचित्र इति वा। कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः, कपिरिव जवते, ईषत्पिङ्गलो वा, कम्नीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा। श्वाशुयायी, शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः, श्वसितेर्वा। सिंहः सहनात्, हिंसेर्वा स्याद्विपरीतस्य, सम्पूर्वस्य वा हन्तेः संहाय हन्तीति। व्याघ्रो व्याघ्राणात्, व्यादाय हन्तीति ॥ १। १८॥

लुप्तोपमा वाले वाक्यों को दूसरे आचार्य अर्थोपमा-वाक्य कहते हैं। अर्थात्, जिन में उपमा-वाचक 'इव' आदि शब्द नहीं बोले जाते, उन्हें अर्थोपमा कहा जाता है। सिंह, और व्याघ्र-ये प्रशंसा में प्रयुक्त होते हैं, और श्वा, काक निन्दा में। यदि हम किसी पुरुष को 'सिंह' कहें, तो वहां वीरता का उच्च भाव पाया जाता है, और यदि कुत्ता कह दें, तो वहां खुशामद आदि निन्दित भाव समझे जाते हैं। लुप्तोपमा का 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' आदि वेद-मंत्र आगे (६.६) व्याख्यात है, अतः यहां उसकी व्याख्या नहीं की।

'काक' यह कौवे के शब्द का अनुकरण है। कौवा 'काँ काँ' शब्द करता है, अतः उसे 'काक' कहा गया। एवं, शब्दानुकरण से पक्षि-वाचक नामों का निर्वचन शकुनिओं के बारे में प्रायः करके पाया जाता है। परन्तु औपमन्यव आचार्य मानता है कि पक्षि-वाचक शब्दों के निर्वचन में शब्दानुकरण नहीं। जैसे—

काक—'काल' धातु से 'कन्' प्रत्यय (उणा० ६.४३)। कौवा निकालने योग्य होता है।

तित्तिरि—(क) 'तृ' धातु से 'इ' प्रत्यय, और किद्वत् (उणा० ४.१४३)। तीतर पक्षी उछलने वाला होता है। (ख) अथवा, यह तिलमात्र चित्रित होता है। तिलचित्र-तिद्चिर-तित्तिर-तित्तिरि।

कपिञ्जल—(क) यह पक्षी वानर की न्याईं वर्ण से धूसर होता है। 'कपि' पूर्वक 'जॄ' धातु से 'अप्' प्रत्यय। कपिजर—कपिञ्जल। (ख) वानर की न्याईं कूदता फाँदता है। 'कपि' पूर्वक 'जू' धातु से 'डल' प्रत्यय। (ग) कुछ पिङ्गल वर्ण का होता है। कु पिंगल—कपिञ्जल। (घ) अथवा, यह सुन्दर शब्द का उच्चारण करता है। इस पक्षी की बोली बड़ी प्यारी लगती है। 'कमु' तथा 'पिजि' धातुओं के योग से 'कल' प्रत्यय (उणा० १. १०४)। कम् पिञ्ज् अल—कपिञ्जल।

श्वन्—(क) कुत्ता आशुयायी होता है। आशु, तथा शु दोनों समानार्थक हैं। 'शु' पूर्वक 'अय' गतौ धातु से 'कनिन्' प्रत्यय (उणा० १. १५९)। (ख) गत्यर्थक 'शव' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय। कुत्ता बहुत चलता है। (ग) अथवा, वधार्थक 'श्वस्' धातु से 'कनिन्'। कुत्ता शिकारी होता है।

सिंह—(क) यह अन्य प्राणिओं को दबाता है। 'सह' धातु से 'कन्' प्रत्यय (उणा० ५. ६२)। (ख) 'हिसि' हिंसायाम् से 'कन्' और आद्यन्त—विपर्यय। शेर मारने वाला होता है। (ग) अथवा, 'सम्' पूर्वक 'हन्' धातु से 'कन्'। संह—सिंह। यह इकट्ठा कर के मारता है।

व्याघ्र—(क) इसकी घ्राण—शक्ति बड़ी तीक्ष्ण होती है। वि, आङ् पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'क' प्रत्यय। (ख) अथवा, यह वापिस लाकर मारता है। व्याघ्र अपने जिस शिकार को पहली झपट में न मारले, उसको जहां जा पड़े, क्रोध से फिर उसी पहली झपट के स्थान पर वापिस लाकर मारता है ॥ १ । १८ ॥

१४—२८ खण्ड | **(१४) अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत्। (१५) मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः।**

मेधावी कस्मात् ? मेधया तद्वान् भवति। मेधा मतौ धीयते। (१६) स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश। स्तोता स्तवनात्। (१७) यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश। यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याच्ञो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येनं नयन्तीति वा। (१८) ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। ऋत्विक् कस्मात् ? ईरणः, ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा। (१९) याच्ञाकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश। (२०) दानकर्माण उत्तरे धातवो दश। (२१) अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः। (२२) स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ। (२३) कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश। कूपः कस्मात् ? कुपानं भवति, कुप्यतेर्वा। (२४) स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दशैव। स्तेनः कस्मात् ? संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः। (२५) निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट्। निर्णीतं कस्मात् ? निर्णिक्तं भवति। (२६) दूरनामान्युत्तराणि पञ्च। दूरं कस्मात् ? द्रुतं भवति, दुरयं वा। (२७) पुराणनामान्युत्तराणि षट्। पुराणं कस्मात् ? पुरा नवं भवति। (२८) नवनामान्युत्तराणि षडेव। नवं कस्मात् ? आनीतं भवति॥ २। १९॥

अगली ४४ धातुयें पूजार्थक हैं। अगले २४ नाम मेधावी वाचक हैं। मेधाविन्=मेधा वाला। 'मेधा' से 'मतुप्' अर्थ में 'विनि' प्रत्यय (पाणि० ५.२.१२१)। मेधा=धारणावती बुद्धि। मतिधा—मइधा—मेधा। अगले १३ नाम स्तोता अर्थ के वाचक हैं। स्तोतृ—'स्तु' धातु से 'तृन्' प्रत्यय (उणा० २.९४)।

अगले १५ नाम यज्ञ-वाची हैं। **यज्ञ—(क)** 'यज्ञ' शब्द यज-

नार्थक प्रसिद्ध है। 'यज' देवपूजासंगतिकरणदानेषु धातु से 'नङ्' प्रत्यय (पाणि० ३.३.९०)। (ख) इस से किसी अभीष्ट वस्तु की याचना की जाती है। प्रत्येक यज्ञ किसी न किसी फल-लाभ के लिये किया जाता है। याच्ञ—यज्ञ-यज्ञ। (ग) यजुर्वेदीय मंत्रों के उच्चारण से रस-हवि की आहुतियें दी जाती हैं, अतः यज्ञ यजुर्मन्त्रों से क्लिन्न होता है। यजुष् उन्न-यज् न-यज्ञ। (घ) यज्ञ में बैठने के लिये कृष्णमृग-चर्म बिछाये जाते हैं, अतः अजिन (मृग-चर्म) युक्त होने से इसे यज्ञ कहा गया। अजिन-इ अज् न-य् अज् न-यज्ञ। (ङ) इस शुभ-कर्म को यजुर्मन्त्र ले जाते हैं अर्थात् अन्त तक पहुंचाते हैं। यजुर्नय-यज् न-यज्ञ।

अगले ८ नाम ऋत्विक्-वाचक हैं। ऋत्विज्—(क) यह यजमान को यज्ञ के लिये प्रेरित करता है, उसे यज्ञ कराता है। प्रेरणार्थक 'ईर' धातु से निपातन द्वारा 'ऋत्विक्' सिद्ध किया गया है (पाणि० ३.२.५९)। (ख) शाकपूणि कहता है ऋक्-मंत्रों से यज्ञ करता है, अतः इसे ऋत्विक् कहते हैं। 'ऋच्' पूर्वक 'यज' के संप्रसारण-रूप 'इज' से 'क्विन्' प्रत्यय। ऋच् इज्—ऋत्विज्। (ग) अथवा, यह ऋत्वनुकूल यज्ञ करता है, अतः इसे ऋत्विक् कहा गया। ऋतु इज्—ऋत्विज्।

अगली १७ धातुयें याचनार्थक हैं। अगली १० धातुयें दानार्थक हैं। अगली ४ धातुयें अध्येषणार्थक हैं। अध्येषणा=बड़ों से आदर पूर्वक याचना। 'स्वप' 'सस'—यह दो धातुयें शयनार्थक हैं।

अगले १४ नाम कूप-वाचक हैं। कूप—(क) कुपान, इस में थोड़ा जल होता है। 'कु' पूर्वक 'पा' धातु से 'ड' प्रत्यय (पाणि० ३.२.१०१)। कुप-कूप, अन्येषामपि दृश्यते (पाणि०

५.३.१३७) से दीर्घ। (ख) अथवा, क्रोधार्थक 'कुप' धातु से 'क' प्रत्यय (पाणि० ३.१.१३५)। कोई अत्यन्त पिपासित पथिक किसी कूएँ पर पहुंचे, और वहां डोल आदि जल निकालने का साधन न हो, तो वह बड़ा कुपित होता है।

अगले १४ हीं नाम चोर के वाचक हैं। स्तेन—चोर में पाप एकत्रित होता है, अतः उसे स्तेन कहते हैं—ऐसा निरुक्तकार मानते हैं। संघातार्थक 'स्त्यै' धातु से 'इनच्' प्रत्यय (उणा०२.४६)। स्त्या इन—स्त्येन–स्तेन।

निर्णीत, और अन्तर्हित–दोनों अर्थों के वाचक अगले ६ नाम हैं। निर्णीत–'निर्' पूर्वक 'णिजिर' शौचपोषणयोः से 'क्त' प्रत्यय। निर्णिक्त–निर्णीत।

अगले ५ नाम दूरार्थक हैं। दूर–(क) गया हुआ होता है। गत्यर्थक 'दु' धातु से 'रक्' प्रत्यय (उणा०२.२०)। दुर–दूर, पाणि० ५. ३. १३७ से दीर्घ। (ख) अथवा, दुष्प्राप्य होता है। दुरय—दुर—दूर।

अगले ६ नाम पुराण–वाचक हैं। पुरा नव–पुराण, जो पहले नया था, अब नया नहीं रहा। अगले ६ ही नाम नवीन अर्थ के वाचक हैं। नयी वस्तु अभी लायी हुई होती है नय–नव ॥ २।१६॥

२६ खण्ड | द्विश उत्तराणि नामानि।

अगले २६ नाम दो दो करके एक अर्थ के वाचक हैं।

१. प्रपित्वे, अभीके | प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य। प्रपित्वे प्राप्ते, अभीकेऽभ्यक्ते। 'आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि' 'अभीकेचिदु लोककृत्' इत्यपि निगमौ भवतः।

प्रपित्व, और अभीक—यह दोनों समीपार्थक हैं। प्राप्त–प्रपित्व,

अभ्यक्त—अभीक । 'प्रपित्वे' का मंत्र यह है—

यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥ ८.४.३ ।

देवता—इन्द्रः। (यथा तृष्यन् गौरः अवेरिणं) ।जिस प्रकार प्यासा मृग मरु–भूमि को छोड़कर(अपाकृतं एति)जल वाले प्रदेश को प्राप्त होता है, एवं हे राजन् ! (आपित्वे प्रपित्वे) बन्धुत्व से समीपता होजाने पर अबान्धवों को छोड़ कर (नः तूयं आगहि) हमें शीघ्र प्राप्त हो, (कण्वेषु सचा सुपिब) और, विद्वानों के साथ मिल कर भली प्रकार ऐश्वर्य–पान करो ।

अवेरिणम्=अव इरिणम्=अपार्णम् । अपाकृतम्–अद्भिः आकृतम् अपाकृतम् । आप्यते इति आपिः बन्धुः ।

अभीके का मंत्र (ऋ० १०. १३३. १) यह है—

प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत । अभीकेचिदुलोककृत्संगे समत्सु वृत्रहाऽस्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधिधन्वसु ॥

देवता—इन्द्रः । (अस्मै इन्द्राय पुरोरथं शूषं प्र उ सु अर्चत) हे प्रजाजनो ! इस राजा के रथ के आगे रहने वाले बल का भली प्रकार आदर करो । (समत्सु अभीके चित् उ सङ्गे) जो राजा युद्धों में समीप से भी शत्रु से मुकाबला पड़ने पर (लोककृत्) डटने वाला, (वृत्रहा) और शत्रुओं का नाश करने हारा है । (चोदिता) हे राजन् ! सब के प्रेरक–शासक–आप (अस्माकं बोधि) हम प्रजा–जनों का ध्यान रखिए । (अन्यकेषां अधिधन्वसु) आप के प्रताप से शत्रुओं के धनुषों पर (ज्याकाः न भन्ताम्) ज्याएँ न रहें ।

२. दभ्र, अर्भक | **दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । दभ्रं दभ्नोतेः, सुदम्भं भवति । अर्भकमवहृतं भवति । "उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः" । "नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः" इत्यपि**

निगमौ भवतः।

दभ्र, और अर्भक–ये दोनों अल्पार्थक हैं। दभ्र—'दम्भु' दम्भने से 'रक्' प्रत्यय (उणा० २. १३)। थोड़ी वस्तु सुदम्भ, अर्थात् सुभेद्य होती है। अर्भक—'हृ' धातु से 'वुन्' प्रत्यय (उणा० ९. ५३)। 'हृ' अक–अरह् अक–अर्हक–अर्भक। यह अवहृत, अर्थात् न्यून परिमाण वाला होता है। दभ्र का मंत्र यह है—

उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ १. १२६. ७॥

हे पतिदेव राजन्! (मे उपोप परामृश) मेरे साथ भलीप्रकार परामर्श कीजिए। (मे दभ्राणि मा मन्यथाः) मेरे सामर्थ्यों को कम मत समझिए। (अहं सर्वा रोमशा) मैं पूर्णतया प्रशस्त रोमों वाली, (गन्धारीणां अविका इव अस्मि) और, पृथिवी का राज्य धारण करने वाली स्त्रियों में से अधिक रक्षा करने वाली हूँ।

इस मंत्र से दर्शाया गया है कि राणी राज्य करने में सहायक होवे। स्त्रियों में राणी राज्य करे। वह राणी गन्धारी, अर्थात् राज-कर्मचारिणी स्त्रियों में मुखिया हो। प्रशस्त रोमों वाली स्त्री उत्तम मानी जातीहैं। जैसे कि मनु ने ३. ८ में कहा है—"नोद्वहेत् कपिलां कन्यां ......नालोमिकां नातिलोमाम्"। अर्थात् लोमरहिता, या अधिक लोमों वाली स्त्री से विवाह न करे।

अर्भक के लिये वेद-मंत्र (१. २७. १३) यह है—

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंसमावृक्षि देवाः॥

देवता—विश्वेदेवाः। (महद्भ्यः नमः) बड़ों के लिये नमस्कार हो, (अर्भकेभ्यः नमः) और छोटों के लिये नमस्कार हो।(युवभ्यः नमः) युवकों के लिये नमस्कार हो, (आशिनेभ्यः नमः) और

बड़ों के लिये नमस्कार हो। (यदि शक्नवाम, देवान् यजाम) यदि शक्त हैं तो विद्वान् जनों को दान दें। (ज्यायसः देवाः!) हे बड़े विद्वानो! (शंसं मा आवृक्षि) मैं इस प्रशस्त कर्म को कभी मत त्यागूं। इस वेद–मंत्र से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि छोटे, बड़े सब परस्पर में नमस्कार करें। कुछ भाई जो ऐसा करने पर आक्षेप करते हैं, उनका कथन वेद–विरोधी है।

३. तिरः, सतः | **तिरः सत इति प्राप्तस्य। तिरस्तीर्णं भवति। सतः संसृतं भवति। "तिरश्चिदर्यया परिवर्तिर्यातमदाभ्या"। "पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः" इत्यपि निगमौ भवतः।**

तिरः, और सतः–प्राप्त अर्थ के वाचक हैं। तिरस्—यह तरा हुआ होता है। 'तॄ' धातु से 'असुन्' प्रत्यय। तरस्–तिरस्। सतस्—यह संसृत होता है। 'सृ' धातु से 'असुन्'। सरस्–सतस्। तिरः का वेद–मंत्र (५.७५.७) यह है—

> **अश्विनावेह गच्छतं नासत्या मा विवेनतम्।**
> **तिरश्चिदर्यया परिवर्तिर्यातमदाभ्य माध्वी मम श्रुतं हवम्॥**

देवता–अश्विनौ। (नासत्या अश्विनौ इह आगच्छतं) सत्यधारी स्त्रीपुरुषो! इस संसार में आवो। (मा विवेनतम्) अकाम मत होवो। (तिरः चित् अर्यया वर्तिः परियातम्) प्राप्त श्रेष्ठ क्रिया से ही, अर्थात् उत्तम कर्म करते हुए ही जीवन–पथ पर चलो। (अदाभ्या) दुखों से दुःखित न होने वाले, (माध्वी) और मधुर स्वभाव वाले तुम (मम हवं श्रुतम्) मेरी इस आज्ञा को सुनो। परमेश्वर गृहस्थ स्त्री पुरुषों को उपदेश देता है कि वे संसार से पृथक् न रहें, अकाम न बनें, और श्रेष्ठ कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करें।

'सतः' के लिये जो 'पात्रेव भिन्दन्' आदि मंत्र दिया हुआ है,

उसकी व्याख्या ६.१२१ में की जावेगी ।

४.त्व, नेम । त्वो नेम इत्यर्द्धस्य । त्वोऽपततः । नेमोऽपनीतः। अर्द्धं हरतेर्विपरीतात्, धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवति, ऋध्नोतेर्वा स्यादृद्धतमो विभागः । 'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति' 'नेमे देवा नेमे असुराः' इत्यपि निगमौ भवतः ।

त्व, और नेम—ये दोनों आधे के वाचक हैं। त्व—यह पूरे में से पृथक् किया हुआ होता है । 'तनु' धातु से 'व' प्रत्यय और डिद्भाव। नेम—यह भी पूरे में से पृथक् किया हुआ होने से आधे का वाचक हैं । 'नी' धातु से 'मन्' प्रत्यय (उणा० १. १४०)। अर्ध—(क) 'हृ' धातु से 'अप्' और आद्यन्त विपर्यय। हृ अप्—हर् अ—अर् ह् अ—अर्ह—अर्ध । यह पूरे में से आहृत होता है। (ख) 'धृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय । धृ अ—धर् अ—अर्ध । यह सारे में से निकाला हुआ होता है । (ग) अथवा, 'ऋधु' धातु से 'अप्' । यह पूरे का बड़ा भाग होता है । 'त्व' का वेद-मंत्र यह है—

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने ॥ १.१४७.२

देवता—अग्निः । (स्वधावः यविष्ठ !) हे सामर्थ्यवान्, परम पुरुषार्थी आचार्य ! (मे अस्य) मेरे इस (प्रभृतस्य) भलीप्रकार धारण किए हुए, (मंहिष्ठस्य) और प्रशस्यतम (वचसः) पाठ को (बोध) जानो, परखो । (त्वः पीयति, त्वः अनुगृणाति) कई गुरुजनों का निरादर करते हैं, और कई उनका आदर करते हैं, (वन्दारुः) उन में से अभिवादन-शील मैं (अग्ने ते तन्वं वन्दे) हे आचार्य ! आपको अभिवादन करता हूं । इस मंत्र से बतलाया गया है कि प्रतिदिन पढ़ाई से पूर्व गुरुजन शिष्यों से पहला पाठ सुनकर फिर आगे पढ़ावें अन्यथा नहीं । इसके बिना शिक्षा सफल नहीं हो सकती ।

इससे पहले मंत्र में कहा है 'ऋतस्य साम्न् रणयन्त देवाः' अर्थात् अध्यापक लोग सत्य-विद्या के प्रिय वचनों को रटाते हैं। नया पाठ पढ़ाने से पूर्व उन्हीं के सुनने का इस मंत्र में विधान है।

विद्यार्थियों के दो विभाग होते हैं, एक सुशील, और दूसरा दुःशील। इन्हीं दो विभागों के लिये 'त्वः' का प्रयोग किया है।

'नेमे देवा नेमे असुराः'—यह ब्राह्मण-वचन है। अर्थात् मनुष्य दो तरह के हैं एक देव, और दूसरे असुर।

५. ऋक्षाः, स्तृभिः | ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम्। नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः। 'नेमानि क्षत्राणि' इति च ब्राह्मणम्। ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते। स्तृभिस्तीर्णानीव ख्यायन्ते। 'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा' 'पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः' इत्यपि निगमौ भवतः।

ऋक्षाः, और स्तृभिः—ये दोनों नक्षत्रों के वाचक हैं। नक्षत्र—(क) गत्यर्थक 'नक्ष' धातु से 'अत्रन्' प्रत्यय (उणा० ३. १०५)। ये गतिशील होते हैं। (ख) 'नञ्' पूर्वक 'क्षत्र' से 'नक्षत्र' की सिद्धि ब्राह्मण करता है। यहां पाणि० ६. ३. ७५ से 'नञ्' प्रकृतिवत् रहा, अन्यथा 'अक्षत्र' रूप बनता। ये नक्षत्र स्वप्रकाशरूपी धन से हीन हैं। ऋक्ष—ये उद्गत से दीखते हैं। गत्यर्थक 'ऋष' धातु से 'स' प्रत्यय, और किद्भाव (उणा० ३.६६)। स्तृ—ये आकाश में बिछाये हुए से दीखते हैं। 'स्तृञ्' आच्छादने से 'क्विप्' और 'तुक्' का अभाव। 'ऋक्ष' का वेद मंत्र यह है—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुहचिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥१.२४.१०

देवता—वरुणः। (अमी ये उच्चा निहितासः ऋक्षाः) ये जो ऊपर नियम से व्यवस्थित नक्षत्र (नक्तं ददृश्रे) रात्रि में दिखलाई

पड़ते हैं, (कुहचित् दिवा ईयुः) वे दिन में कहां चले जाते हैं ? उत्तर—(वरुणस्य अदब्धानि व्रतानि) अन्धकार-नाशक सूर्य के ये अटूट कर्म हैं। अर्थात् सूर्य इन नक्षत्रों को प्रकाशित करता है, अतः रात्रि को दीखते हैं दिन को नहीं। (विचाकशत् चन्द्रमा नक्तं एति) उसी सूर्य से प्रकाशित चन्द्रमा भी रात्रि को दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी जी, तथा सायण ने यहां यह ही माना है कि नक्षत्र स्वयं प्रकाशमान नहीं, परन्तु सूर्य से प्रकाश लेते हैं।

'स्तृभिः' का वेद-मंत्र यह है—

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमे दमे ॥ ४.७.३

देवता—अग्निः। (ऋतावानं, विचेतसं, विश्वेषां अध्वराणां हस्कर्तारं) सत्यस्वरूप, सर्वज्ञ, और संपूर्ण हिंसारहित श्रेष्ठ कर्मों के प्रकाशक अग्रणी परमात्मा को (स्तृभिः द्यां इव) नक्षत्रों से सूर्य की न्याईं (पश्यन्तः) सृष्टि-रचनाओं से देखते हुए (दमे दमे) घर घर में उस को ग्रहण करें, उस सर्व जगत्स्वामी प्रभु की आराधना करें।

जिस प्रकार नक्षत्रों को देखकर सूर्य की शक्ति का अनुभव होता है, उसीप्रकार सृष्टि की एक एक रचना को देखने से जगत्कर्ता प्रभु की महिमा का बोध होता है। यहां पहले मंत्र से 'जगृभ्रिरे' क्रिया की अनुवृत्ति है।

९. वम्री, उपजिह्विका | **वम्रीभिरुपजिह्विका इति सीमिकानाम। वम्रयो वमनात्। सीमिका स्यमनात्। उपजिह्विका उपजिघ्र्यः। 'वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम्'। 'यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति' इत्यपि निगमौ भवतः।**

वम्रीभिः, और उपजिह्विका—ये दोनों दीमक के वाचक हैं। वम्री—उद्गिरणार्थक 'वम' धातु से 'रन्' प्रत्यय (उणा० २.२९) और ङीष्

(पाणि० ६.१.६३)। सीमिका—गत्यर्थक 'स्यम्' धातु निघण्टु-पठित है, उस के संप्रसारण रूप 'सिम' से 'क्किकन्' प्रत्यय (उणा० २.४३) और 'टाप्'। सिमिका—सीमिका। इसी का पंजाबी में अपभ्रंश स्योंक है। उपजिह्विका—उपजिघ्री-उपजिह्वी, संज्ञायां कन् (पाणि० ५.३.८७) से 'कन्' और पुनः 'टाप्' करने पर उपजिह्विका सिद्ध होता है। इनकी घ्राण-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण होती है। 'वम्रीभिः' का मंत्र यह है—

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आजभर्थ।
व्यन्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व ॥ ४.१६.९

देवता—इन्द्रः। (हरिवः !) प्रशस्त घोड़ों वाले राजन् ! (वम्रीभिः अदानं) पापरूपी दीमक से खाये हुए (अग्रुवः पुत्रं) राज-पुत्र को (निवेशनात् आजभर्थ) घर से निकाल दो। (अहिं आददानः अन्धः व्यख्यत्) क्योंकि पाप को धारण किये हुए राजकुमार अन्धा होता है, वह किंकर्तव्य विमूढ़ होजाता है। (उख-च्छित् निर्भूत्) ऐसा करने से धर्म-मार्ग को छिन्न भिन्न करने वाला निकल जाता है, और (पर्व समरन्त) राष्ट्र या धर्म को पालने वाला सम्यक्तया रमण करता है। अदानं=अद्यमानं। अग्रुवः=अग्रगामिनः राज्ञः।

'उपजिह्विका' का वेद मंत्र (८.१०२.२१) यह है—

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥

देवता—अग्निः। (यत् उपजिह्विका अत्ति) जिस काष्ठ को दीमक खाती है, (यत् वम्रः अतिसर्पति) और जिसको वल्मीक अधिक लगती है, (सर्वं तत्) वे सब प्रकार के काष्ठ हे अग्ने ! (ते घृतं अस्तु) तेरे प्रदीपक हों। उपजिह्विका, और वम्र-ये दोनों दीमक के ही भेद हैं।

जिन आम्र, पीपल, वट, पलाश आदि काष्ठों में दीमक लगती है, उन्हें ही जलाने के काम में लाना चाहिए—यह शायद जलाने

के लिये उत्तम काष्ठ की पहिचान है। अथवा, संभवतः इससे यह अभिप्रेत हो कि जिन्हें दीमक खाती है, उन्हें किसी शिल्प-कार्य में नहीं लाना चाहिए, प्रत्युत ऐसे काष्ठों को तो जलाने के काम में लाया जावे, और दूसरों को शिल्प-कार्य में।

७. ऊर्दर, कृदर | ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्य । ऊर्दरं उद्दीर्णं भवति, ऊर्जे दीर्णं वा। 'तमूर्दरं न पृणता यवेन' इत्यपि निगमो भवति। तमूर्दरमिव पूरयति यवेन। कृदरं कृतदरं भवति। 'समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम्' इत्यपि निगमो भवति॥ ३। २०॥

ऊर्दर, और कृदर-ये दोनों धान्य-कोष्ठ के वाचक हैं। ऊर्दर-(क) यह ऊपर की ओर मुख-छिद्र वाला होता है। 'उत्' पूर्वक 'दृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय। उत्दर—ऊर्दर। (ख) अथवा, यह अन्न के लिये छिद्र वाला होता है। ऊर्ज्दर-ऊर्दर। 'ऊर्दर' का मंत्र यह है—

अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।
तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु॥ २.१४.११

देवता—इन्द्रः। [अध्वर्यवः] हे अहिंसक प्रजाजनो! [यः दिव्यस्य वस्वः] जो सुवर्णादि उत्तम धनों का, [यः क्षम्यस्य पार्थिवस्य राजा] और जो भूमि के अन्दर होने वाले कोयला धातु आदि पार्थिव पदार्थों का मालिक है [तं इन्द्रं] उस राजा को (यवेन ऊर्दरं न सोमेभिः पृणत] जौ से कोठी की न्याईं धन धान्यों से पूर्ण करो। [तत् वः अपः अस्तु] यह तुम्हारा कर्म होना चाहिए।

इस मंत्र से पता लगता है कि सोना, कोयला, धातु आदि पदार्थों का मालिक राजा ही है, चाहे ये किसी भी मनुष्य की भूमि में निकलें।

कृतदर—कृदर। 'कृदर' का मंत्र यह है—

समिद्धो अञ्जन्कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत्पिन्वमानः।
वाजी वहन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्॥ यजु० २६.१

देवता—अग्निः । [जातवेदः अग्ने !] हे धनदातः अग्ने ! [समिद्धः, अञ्जन्, वाजी] प्रदीप्त, गतिशील, और बलवान् तू [मतीनां कुदरं मधुमत् घृतं पिन्वमानः वहन्] धान्य-कोष्ठ की न्याईं बुद्धि के भण्डार मधुर घृत को सेवन कर और अन्तरिक्ष में पहुंचाकर [देवानां प्रियं सधस्थं] विद्वानों के प्रिय देश में [वाजिनं आवक्षि] बलप्रद वृष्टि को भलीप्रकार प्राप्त कराती हो ॥ ३।२० ॥

८. रम्भ,पिनाक । रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य । रम्भ आरभन्त एनम् । 'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भ' इत्यपि निगमो भवति । आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् । पिनाकं प्रतिपिनष्ट्यनेन । 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः' इत्यपि निगमो भवति ।

रम्भ, और पिनाक—ये दो दण्ड के वाचक हैं । रम्भ—आलम्भनार्थक 'रभ' धातु से 'घञ्' और पाणि०७.१.६३ से 'नुम्' । वृद्ध आदि इसका सहारा लेते हैं । रम्भ का मंत्र (८.४५.२०) यह है—

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते । उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥

देवता—इन्द्रः । [शवसस्पते !] बलस्वामिन् परमेश्वर ! [जिव्रयः रम्भं न त्वा आररम्भ] जिसप्रकार जीर्ण मनुष्य दण्ड का सहारा लेते हैं, एवं हम आपका आश्रय लेते हैं, [सधस्थे त्वा आ उश्मसि] और प्रत्येक सभा समिति में आप की ही कामना करते हैं ।

पिनाक—हिंसार्थक 'पिष्लृ' धातु से 'आक' प्रत्यय [उणा०४.४५] । पेषाक-पिनाक । इससे दूसरे को मारते हैं । पिनाक का मंत्र यह है—

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि । अवततधन्वा
पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ यजु०३.६१

देवता—रुद्रः । [रुद्र !] शत्रुरोदक शूरवीर राजन् ! [एतत् ते अवसं] यह शस्त्रास्त्र आपका रक्षा-साधन है, [तेन मूजवतः परः अतीहि] उससे शत्रु को पर्वत से परे खदेड़िए । [अवततधन्वा,

पिनाकावसः, कृत्तिवासाः,] और धनुष की ज्या उतारे हुए, रक्षार्थ दण्ड को हाथ में लिये हुए, तथा चर्म-वस्त्र धारण किए हुए [नः अहिंसन् शिवः अति इहि] हमें किसी भी प्रकार का दुःख न देते हुए कल्याणकारी बन कर हमारे समीप पधारिये ।

चर्म--वस्त्र तपस्वियों का चिन्ह है। राजा को उस तापस--वेश के साथ ही प्रजा में मिलकर रहना चाहिए ।

कृष्णयजुर्वेद में 'पिनाकावसः' की जगह यास्कानुसार 'पिनाकहस्तः' ही पाठ है । वहां वेद-मंत्र कुछ पाठभेदों के साथ इसप्रकार है—

एष ते रुद्र भागस्तं जुषस्व तेनावसेन परो मूजवतो ऽतीहि ।
अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः ॥

६. मेना, ग्ना | मेना ग्ना इति स्त्रीणाम् । स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः । मेना मानयन्त्येनाः । ग्ना गच्छन्त्येनाः । **'अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ' 'ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत' इत्यपि निगमौ भवतः॥**

मेना, और ग्ना—ये दोनों स्त्री के वाचक हैं। स्त्री—लज्जार्थक 'स्त्यै' धातु से 'ड्रट्' प्रत्यय [उणा० ४.१६६] । स्त्रियें स्वभाव से ही लज्जावती होती हैं । मेना—'मान' पूजायाम् धातु से 'इनच्' प्रत्यय [उणा० २. ४९] । स्त्रियों का सब मनुष्य मान करते हैं। अत एव मनु ने लिखा है—**पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३.५५**

ग्ना—'गम्' धातु से 'न' प्रत्यय, और टि का लोप [उणा० ३.६] ऋतुकाल में ये गम्य होती हैं । 'मेना' का मंत्र यह है—

आप्रद्रव हरिवो मा वि वेनः पिशङ्गराते अभि नः सचस्व ।
नहि त्वदिन्द्र वस्यो अन्यदस्त्यमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ ॥ ५.३१.२

देवता—इन्द्रः । [हरिवः पिशङ्गराते !] प्रशस्तघोड़ों वाले, तथा सुवर्णादि उत्तम पदार्थों का दान देने हारे राजन् ! [आप्रद्रव]

सर्वदा प्रकृष्ट कर्म करो । [मा विवेनः] अकाम मत बनो । [नः अभिसचस्व] हमें सब ओर से सुख पहुंचाओ । [इन्द्र! त्वत् अन्यत् वस्यः नहि अस्ति] राजन् ! आपसे दूसरा कोई धनवान् नहीं है, अतः [अमेनान् चित् जनिवतः चकर्थ] स्त्री-रहित युवकों को पत्नी युक्त कीजिए । राजा का कर्तव्य है कि वह निर्धन स्त्री पुरुषों का विवाह राज्य की ओर से करादे ।

'ग्ना' के लिये यास्क ने जिस मंत्र का निर्देश किया है, वह यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा, और ताण्ड्य ब्राह्मण आदिकों में पाया जाता है। उन्हों ने वस्त्र-प्रतिग्रह, अर्थात् दान में वस्त्र-प्राप्ति के समय उस मंत्र का विनियोग किया हुआ है । वह मंत्र इस प्रकार है—

ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत वयित्र्योऽवयन् वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे बृहस्पतये वासस्तेनामृतत्वमशीय मयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिगृहीत्रे ।

[त्वा ग्नाः अकृन्तन्, अपसः अतन्वत, वयित्र्यः अवयन्] हे वस्त्र ! तुझे स्त्रियों ने काता, नन्हें २ बच्चों ने ताना, और बुनने वाली स्त्रियों ने बुना । [देवि दक्षिणे त्वा] और, हे दिव्य दक्षिणे ! तेरे द्वारा [वरुणः बृहस्पतये वासः नयतु] अघनाशक यजमान मुझ वेदज्ञ पुरोहित के लिये वस्त्र प्रदान करे । [तेन अमृतत्वं अशीय] उस उत्तम वस्त्र-दान से मैं आराम लाभ करूं । [दात्रे मयः भूयात्] वस्त्र-दाता यजमान के लिये सुख हो, [मह्यं प्रतिगृहीत्रे मयः] और मुझ वस्त्र-प्रतिगृहीता के लिये सुख हो । इस मंत्र में सूत कातना, और वस्त्र बुनना स्त्रियों का ही काम बताया गया है, मनुष्यों का नहीं । ऐसी ही आज्ञा अथर्ववेद [१४.१.४५] में भी पायी जाती है ।

१०. शेप, वैतस| शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य । शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः । वैतसो वितस्तं भवति । 'यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्' 'त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन' इत्यपि निगमौ भवतः ।

शेप और वैतस—ये दो उपस्थेन्द्रिय के वाचक हैं। शेप—स्पर्शार्थक 'शप' धातु से 'घञ्'। उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श विशेष महत्त्व रखता है। वैतस—विगतोपक्षय। संभोग काल में इन्द्रिय उपक्षीणता रहित होती है। 'वि' पूर्वक 'तसु' उपक्षये से पचाद्यच्। 'शेप' का मंत्र यह है—

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥ १०.८५.३७

(पूषन्! तां शिवतमां ऐरयस्व) हे पोषक पति! तू उस कल्याणकारिणी पत्नी को शुभ-कर्मों के लिये प्रेरित कर, (यस्यां मनुष्याः बीजं वपन्ति) जिस में मनुष्य बीज बोते हैं, (या उशती नः ऊरू विश्रयाते) तथा जो सन्तान की इच्छा रखती हुई संभोग-काल में हम मनुष्यों की जांघों को सेवती है, (उशन्तः यस्यां शेपं प्रहराम) और सन्तान की इच्छा रखते हुए हम जिस पत्नी की योनि में उपस्थेन्द्रिय-प्रहार करते हैं। इस मंत्र में गर्भाधान-क्रिया केवल सन्तान के लिये बतलाई गई है, विषय-भोग के लिये नहीं।

'त्रिः स्म माह्नः' आदि मंत्र की व्याख्या १०.३२ में देखिए।

११. अया, एना। अयैने इत्युपदेशस्य। 'अया ते अग्ने समिधा विधेम' इति स्त्रियाः। 'एना वो अग्निम्' इति नपुंसकस्य। 'एना पत्या तन्वं संसृजस्व' इति पुंसः।

अया, एना—ये दोनों प्रत्यक्ष-निर्देश के वाचक हैं। अया=अनया, यहां 'न का लोप' है। एना=एनेन, यहां 'सुपां सुलुक्' से 'आ' है।

अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय।
दहाशसो रक्षसः पाह्यस्मान्द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्॥ ४.४.१५

देवता—रक्षोहा अग्निः। (अग्ने! ते अया समिधा) हे शत्रुहन्तः राजन्! आपकी इस प्रत्यक्ष-छल रहित-नीति से (शस्यमानं

स्तोमं विधेम] हम जिस प्रशंसनीय कार्य-समूह को करें, [प्रतिगृभाय] उसे आप स्वीकार कीजिए। [मित्रमहः ! अशसः रक्षसः दह] हे मित्रपूजक राजन् ! अप्रशस्त तथा घातक शत्रुओं का दाह कीजिए, और [द्रुहः निदः अवद्यात् अस्मान् पाहि] द्रोह करने वाले नास्तिकों के अधर्माचरण से हमें सुरक्षित रखिए। यहां 'अया' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है।

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे । प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ ७.१६.१

देवता—अग्निः । राजा कहता है—हे प्रजाजनो । [वः] तुम्हारे लिये [एना नमसा] इस अन्नादि से सत्कार पूर्वक [ऊर्जः नपातं] बल का नाश न करने हारे, [प्रियं, चेतिष्ठं, अरतिं, स्वध्वरं] हितकर, चिताने वाले, आर्य, हिंसारहित शुभ-कर्म करने वाले, [विश्वस्य दूतं, अमृतं अग्निं] संसार को अनर्थों से बचाने हारे, तथा पुण्यात्मा तेजस्वी उपदेशक को [आहुवे] मैं स्वीकार करता हूं।

इस मंत्र में बतलाया गया है कि राष्ट्र में धर्म-प्रचार के लिये राज्य की ओर से प्रबन्ध होना चाहिए। यहां 'एना' का संबन्ध 'नमसा' के साथ है, अतः 'एना' नपुंसक लिंग हुआ।

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि । एना पत्या तन्वं संसृजस्वाधा जिव्री विदथमावदाथः ॥ १०.८५.२७

हे वधू ! [इह प्रजया ते प्रियं समृध्यताम्] इस गृहाश्रम में सन्तान सहित तेरी प्रिय कामनायें समृद्ध हों। [अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि] इस घर में गृहस्थ-धर्म के लिये जागती रह। [एना पत्या तन्वं संसृजस्व] इस पति के अनुकूल अपने को बना, [अध जिव्री विदथं आवदाथः] और वृद्धावस्था पर्यन्त तुम दोनों गृहस्थ-यज्ञ को परस्पर में जतलाते रहो। यहां 'एना' का संवन्ध 'पत्या'

के साथ है, अतः 'एना' पुल्लिंग हुआ।

१२. सिषक्तु, सचते | सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य। 'स नः सिषक्तु यस्तुरः' स नः सेवतां यस्तुरः।'सचस्वा नः स्वस्तये' सेवस्व नः स्वस्तये। स्वस्तीत्यविनाशिनाम, अस्तिरभिपूजितः स्वस्तीति।

सिषक्तु और सचते—ये दो आख्यात—सेवन करने वाले अनुग्राहक, या कृपालु, से संबन्ध रखते हैं। 'सिषक्तु' का मंत्र (१.१८.२) यह है—

यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥

देवता—बृहस्पतिः। हे बृहस्पते! (यः रेवान्) जो आप रयिमान् हो, (यः अमीवहा, वसुवित्, पुष्टिवर्धनः) जो आप भयहर्ता, धन-प्रापक, तथा अधिक पुष्टि के देने हारे हो, (यः तुरः) और जो आप आशुकारी हो, (सः नः सिषक्तु) वह आप हम पर अनुग्रह कीजिए।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ १.१.९

देवता—अग्निः। (अग्ने!) अग्रणी परमेश्वर! (सः नः सूनवे पिता इव) वह आप, पुत्र के लिये पिता की न्याईं हमारे लिये (सूपायनः भव) सुख पहुंचाने वाले हूजिए, (स्वस्तये नः सचस्व) और कल्याण-प्राप्ति के लिये हम पर कृपा-दृष्टि रखिए।

स्वस्ति—यह अविनाशी, अर्थात् कल्याण का नाम है। 'अस्ति' निपात सत्ता-द्योतक है, उस से पूर्व आदरार्थक 'सु' उपसर्ग लगा हुआ है। सु+अस्ति=अच्छा होना।

१३. भ्यसते रेजते | भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः। 'यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्' 'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः'। इत्यपि निगमौ भवतः॥ ४।२१॥

भ्यसते, रेजते—ये दो आख्यात भय, तथा कम्पन अर्थ वाले हैं।

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य महा स जनास इन्द्रः॥ २.१२.१

देवता—इन्द्रः। (यः जातः एव) जो सदा विद्यमान ही रहता है, कभी पैदा नहीं होता, (प्रथमः, मनस्वान्, देवः) जो सर्वाधार, चेतन, तथा सर्वप्रकाशक है, (देवान् क्रतुना पर्यभूषत) जिसने वायु सूर्य चन्द्र आदि देवों को अपने २ कर्म से अलंकृत किया हुआ है, (यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेतां) और जिसके सामर्थ्य से द्यावापृथिवी डरते और कांपते हैं, (जनासः) हे मनुष्यो ! [नृम्णस्य मह्ना] बल के महत्त्व से [सः इन्द्रः] वह परमेश्वर है।

प्रचित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।
ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥ ६. ६६. ९

देवता—मरुतः। हे प्रजापुरुषो ! [गृणते, तुराय, स्वतवसे मारुताय] उपदेष्टा, आशुकारी, स्वसामर्थ्य से युक्त–स्वतंत्र–और मनुष्यों के लिये हितकारी विद्वान् के लिये [चित्रं अर्कं प्रभरध्वम्] सर्वोत्तम अन्न प्रदान करो। [अग्ने !] हे राजन् ! [ये सहसा सहांसि सहन्ते] जो स्वसामर्थ्य से विरोधिनी शक्तिओं का सहन करते हैं, [मखेभ्यः पृथिवी रेजते] और जिन के यज्ञकर्मों से–श्रेष्ठकर्मों से पृथिवी कांपती है, उनका भली प्रकार सत्कार करो ॥४॥२१॥

द्यावापृथिवी के नाम | **द्यावापृथिवीनामधेयान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः। तयोरेषा भवति—**

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद। विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम विवर्तेते अहनी चक्रियेव॥ १. १८५. १

कतरा पूर्वा कतरा परैनयोः कथं जाते, कवयः क एने विजानाति, सर्वमात्मना बिभृतो यद्धैनयोः कर्म। विवर्तेते चैनयोरहनी अहोरात्रे, चक्रयुक्ते इवेति द्यावापृथिव्योर्महिमानमाचष्ट आचष्टे ॥ ५ । २२॥

अगले २४ नाम द्यावापृथिवी के वाचक हैं। उस द्यावापृथिवी

का वर्णन 'कतरा पूर्वा' आदि मंत्र में हैं। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(अयोः कतरा पूर्वा कतरा अपरा) इन दोनों द्युलोक तथा पृथिवीलोक में से कौन मुख्य है, और कौन गौण है? (कथा जाते) और ये दोनों लोक कैसे पैदा हुए? (कवयः कः विवेद) हे विद्वानो! इन प्रश्नों को कौन विस्पष्टरूप से जानता है, कोई नहीं। (विश्व त्मना विभृतः) ये दोनों सारे जगत् का अपने द्वारा धारण पोषण करते हैं, (यत् ह नाम) जो इन का कर्म है। (चक्रिया इव अहनी विवर्तेते) और इन के संबन्ध से चक्रसंयुक्तों की न्याईं दिन रात बदलते रहते हैं। नाम=कर्म। कथा=कथं ॥ ५ । २२ ॥

नैघण्टुक—काण्ड

समाप्त

चतुर्थाध्याय ।

* प्रथम पाद *

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् । तदैकपदिकमित्याचक्षते ॥ १ ॥

एक अर्थ वाले अनेक शब्दों का यह प्रकरण कहा जा चुका। अब जो अनेक अर्थों वाले एक शब्द हैं, उन की, और जिन का प्रकृति प्रत्यय आदि संस्कार अज्ञात है, उन शब्दों की यहां क्रमशः व्याख्या करेंगे। इस काण्ड को 'ऐकपदिक' इस नाम से पुकारते हैं।

निघण्टु के पहले तीन अध्यायों में ऐसे शब्दों का संग्रह है जो समानार्थक हैं। उनकी व्याख्या नैघंटुक—काण्ड में हो चुकी। निघण्टु के चौथे अध्याय में नानार्थक, और अज्ञात धातु प्रत्यय वाले शब्द संगृहीत हैं, यास्काचार्य उनकी व्याख्या अगले तीन अध्यायों में करते हैं। निघण्टु का चौथा अध्याय तीन खण्डों में विभक्त है, अत एव आचार्य ने प्रत्येक खण्ड को व्याख्या एक एक अध्याय में की है। कई आचार्य इस प्रकरण का नाम 'ऐकपदिक' रखते हैं, क्यों कि नैघण्टुक काण्ड में तो पदों के गण हैं, जैसे पृथिवी—वाचक २१ पदों का एक गण, हिरण्यवाची १५ शब्दों का एक गण, परन्तु इस काण्ड में प्रत्येक पद भिन्न २ है, एक पद का दूसरे पद के साथ कोई संबन्ध नहीं। इसका दूसरा नाम नैगम—काण्ड है। यास्काचार्य इसी नाम को पसन्द करते हैं जैसे कि प्रथमाध्याय के प्रान्त में 'नैघण्टुकानि नैगमानीहेह' से परिज्ञात होता है। नैघण्टुक—काण्ड में तो निघण्टु के प्रत्येक शब्द की व्याख्या नहीं की गई, परन्तु यहां निघण्टु—पठित प्रत्येक निगम की—हर एक वैदिक—शब्द की—व्याख्या करनी आवश्यक है, अतः इसको नैगम—काण्ड कहा जाता है ॥ १ ॥

१. जहा जहा जघानेत्यर्थः---को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत् । जहा को अस्मदीषते ॥ ८. ४५. ३७

मर्या इति मनुष्यनाम. मर्यादाभिधानं वा स्यात् । मर्यादा मर्यैरादीयते । मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः । मेथतिराक्रोशकर्मा । अपापकं जघान कमहं जातु । कोऽस्मद्भीतः पलायते ॥ २ ॥

जहा=जघान । जघान का संक्षिप्त रूप 'जहा' है । यास्काचार्य ने 'जहा' के लिये जो 'को नु मर्याः' आदि मंत्र दिया है, उसके अभिप्राय को समझने के लिये प्रकरण-गत कुछ एक अन्य वेद-मंत्रों का उल्लेख करना आवश्यक है, अतः वे मंत्र दिये जाते हैं—

मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु । वधीर्मा शूर भूरिषु॥८.४५.३४
बिभया हि त्वावतः उग्रादभिप्रभङ्गिणः । दस्मादहमृतीषहः॥ ८.४५.३५

देवता—इन्द्रः । (नः एकस्मिन् आगसि मा वधीः) हे परमेश्वर ! हमें एक अपराध पर मत दण्ड दे, (मा द्वयोः, उत त्रिषु) दो अपराधों पर मत दण्ड दे, और तीन अपराधों पर मत दण्ड दे, (शूर मा भूरिषु) हे शूरवीर ! अनेक अपराधों पर हमें मत दण्ड दे,, (हि त्वावतः उग्रात्, अभिप्रभङ्गिणः, दस्मात्, ऋतीषहः अहं बिभय) क्योंकि तेरे जैसे उग्र, नष्ट भ्रष्ट करने हारे, पापियों के क्षयकारी, और सत्य को सहने वाले से मैं डरता हूं ।

ऋति=ऋत, 'ऋतीषह' में (पा० ६. ३. ११६) से दीर्घ ।

मा सख्युः शूनमाविदे मा पुत्रस्य प्रभूवसो । आवृत्वद् भूतु ते मनः॥८.४५.३६

(प्रभूवसो ! सख्युः शूनं मा आविदे) हे धनपते परमेश्वर ! मैं मित्र के दारिद्र्य को मत निवेदन करूं, (मा पुत्रस्य) नाही पुत्र की दरिद्रता को कहूं । (ते मनः आवृत्वत् भूतु) हे इन्द्र ! तेरा मन आवर्तन वाला हो, अर्थात् हम पर सदा कृपा करने वाला हो ।

शूनम्=शून्यम् । उपर्युक्त प्रार्थना के उत्तर में 'को नु मर्याः' आदि मंत्र से परमेश्वर कहता है—

(मर्याः कः नु अमिथितः सखा सखायं अब्रवीत्) हे मनुष्यो ! या हे मर्यादा में रहने वाले मनुष्यो ! कौन निर्दोष मित्र अपने मित्र से ऐसा कहता है कि मुझे अपराध पर दण्ड मत दे । क्योंकि दण्ड तब ही मिलता है जब वह कोई बुरा कार्य करे । जब वह है ही श्रेष्ठ तब क्षमा-याचना की क्या आवश्यकता है । (जहा) और मैंने किस पुण्यात्मा को दण्ड दिया है ? किसी को नहीं, परन्तु पापात्मा को तो कर्मानुसार दण्ड अवश्य मिलेगा । (कः अस्मत् ईषते) तथा कौन धर्मात्मा

हम से भयभीत होकर भागता है ? कोई नहीं। अर्थात्, पुण्यात्माओं के लिये तो मैं सौम्य हूं, परन्तु पापी लोगों के लिये, उन के पापकर्म के कारण रुद्र स्वरूप हूं। वास्तव में मैं सब का पिता और सब से प्रेम करने वाला हूं। मेरा स्वरूप डरावना नहीं। पापी जन अपने पाप-कर्म से डरते हैं, मुझ से नहीं।

पूर्वोक्त मंत्रों में अपराध करने पर क्षमा-प्रार्थना, तथा परमेश्वर से भयभीत होना—ये दो भाव प्रकट किये गये थे, उन दोनों का उत्तर इस मन्त्र में दे दिया गया है।

मुर्य=मनुष्य । मर्या=मर्यादा। 'मर्य' तथा 'मर्या के बहुवचन में मर्याः—यह सामान्य रूप होता है, अतः उपर्युक्त मंत्र में 'मर्याः' के दोनों अर्थ संगत हैं। मर्यादा के दो अर्थ होते हैं, एक, न्याय्य मार्ग में स्थिति, और दूसरा सीमा। पहले अर्थ में 'मर्यादा' का निर्वचन 'मर्यैः आदीयते' है, क्योंकि इसे मनुष्य ग्रहण करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यों को धर्म-मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मर्य+आ+दा=मर्यादा। दूसरे अर्थ में मर्या और आदि की विभाग-भूमि को 'मर्यादा' कहेंगे। 'मर्याआदि' से विभाग अर्थ में 'ड' प्रत्यय। अपनी भूमि के अन्त को मर्या, और दूसरे की भूमि के प्रारम्भ को 'आदि' कहते हैं। अतः, उन दोनों भूमियों को पृथक् करने वाली सीमा को 'मर्यादा' कहा गया है। 'अनिशितः' में 'मिश' धातु कोसने अर्थ में प्रयुक्त है। जो कोसने के योग्य नहीं, अर्थात् निर्दोष है, उसे 'अमिशित' कहा जावेगा।

मंत्र में 'जहा' (जघान) के उत्तम-पुरुषैकवचन होने से 'अहं' का अध्याहार तो हो ही जावेगा, परन्तु इतने मात्र से अर्थ पूर्ण नहीं होता, अतः यास्क ने अर्थानुसारी 'अपापकं कम्' का अध्याहार किया है। इसी प्रकार 'कः अस्मत् ईषते' में 'भीतः' का अध्याहार किया गया है, क्योंकि जो कोई भागता है वह डरके ही भागता है, अतः 'भीतः' का अध्याहार स्वयंसिद्ध ही है।

यास्काचार्य की उपर्युक्त शैली को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता पड़ने पर हमें मंत्रार्थ करते समय अर्थानुसारी अध्याहार करने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे अध्याहारों से मंत्र की अपूर्णता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वे अध्याहार मंत्र की रचना से स्वयं ही सिद्ध हो जाते हैं, जैसे कि उपर्युक्त मंत्र में स्पष्टतया पता लगता है। इस शैली के आधार पर यास्काचार्य ने स्थान २ पर अध्याहार किये हैं, उन में से कुछ एक का दिग्दर्शन हम यहां पर करा देते हैं, जिससे पाठकों के चित्त में मंत्रार्थ करने का उपर्युक्त तरीका भली भांति जम जावे। 'सं मा तपन्ति' मंत्र के 'शिश्ना व्यदन्ति' वाक्य में 'मूषिकाः' का अध्याहार (४.६). "मञ्चौं

न्द्रः' मंत्र में 'वृषभः' की व्याख्या में 'अपाम्' और 'मदाय' की व्याख्या में 'जैत्राय' पद (४. ९), 'इन्द्रेण सं हि दृक्षसे' मंत्र में 'अधिभ्युषा' की व्याख्या में 'गणेन' पद (४. १२), और 'अथा नः शंयोः' मंत्र में 'शंयोः' की व्याख्या में 'रोगाणाम्' तथा 'भयानाम्' (४. ४८) का अध्याहार किया है ॥ २ ॥

२. निधा निधा पाश्या भवति, यन्निधीयते। पाश्या पाश-समूहः। पाशः पाशयतेः, विपाशनात्—

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥१०.७३.११

वयो वेर्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः। उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः। अपोर्णुह्याध्वस्तं चक्षुः। चक्षुः ख्यातेर्वा, चष्टेर्वा। पूर्धि पूरय, देहीति वा। मुञ्चास्मान्पाशैरिव बद्धान्।

निधा = पाश्या = जाल, यतः यह पक्षियों के पकड़ने के लिये नीचे रक्खा जाता है। 'नि' पूर्वक 'धा' धातु से 'क' प्रत्यय (पाणि० ३. १. १३६)। पाश्या—बांधने की रस्सियों का समूह। 'पाश' शब्द से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय (पा० ४. २. ४९)। पाश—बन्धनार्थक चुरादिगणी 'पश' धातु से 'घञ्' प्रत्यय।

'निधा' का मंत्र 'वयः सुपर्णाः' आदि है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—(प्रियमेधाः ऋषयः सुपर्णाः वयः) यज्ञ–प्रिय या मेधा–प्रिय, प्रकाशक, तथा अच्छा उड़ने वाली सूर्य–किरणें (नाधमानाः इन्द्रं उपसेदुः) मानो याचना करती हुई सूर्य के समीप गई कि (ध्वान्तं चक्षुः अपोर्णुहि) अन्धकारावृत मनुष्य–चक्षु को खोलो (पूर्धि) और उनकी चक्षु पूर्ण करो या उन्हें चक्षु प्रदान करो। इस के लिए (निधया इव बद्धान् अस्मान् मुमुग्धि) जाल से बंधे हुए पक्षियों की न्याईं बंधी हुए हम को छोड़ दो, हम पृथिवी–तल पर जाकर प्रकाश करेंगी जिससे मनुष्यों के नेत्र पूर्ण हो जावेंगे।

पाठकगण उपर्युक्त मंत्र में आये हुए श्लिष्टोपमा, उत्प्रेक्षा, तथा समासोक्ति अलङ्कारों के सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दें।

'वयः' शब्द 'वि' का बहुवचन है। सुपर्ण—'सु' पूर्वक 'पत्' धातु से 'न' प्रत्यय (उणा० ३. ६)। ध्वान्त = आध्वस्त। 'ध्वान्त' का सामान्यतः अर्थ अन्धकार होता है, परन्तु यहां 'अन्धकारावृत' माना गया है। चक्षुष्—(क) 'ख्या' धातु से 'उसि' प्रत्यय, और 'ख्या' को 'चक्ष' आदेश। चक्षिङः ख्याञ् (पा० २.४.५४) से 'चक्षिङ्' धातु को 'ख्याञ्' आदेश होता है, अतः यास्का-

चार्य ने 'ख्या' को चक्षिङ् आदेश मानकर उपर्युक्त निर्वचन किया है। यह अत्युपयोगी होने से प्रख्यात है। (ख) अथवा, दर्शनार्थक 'चक्षिङ्' धातु से 'उणि'।

३. शिताम 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः'। पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेः, संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः, संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्गनादञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः, श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शिताम भवति। दो द्रवतेः। योनिः शितामेति शाकपूणिः, विषितो भवति। श्यामतो यकृत इति तैटीकिः। श्यामं श्यायतेः। यकृद् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। शितिः श्यतेः। मांसं माननं वा, मानसं वा मनोऽस्मिन्सीदतीति वा। मेदो मेद्यतेः॥ ३॥

शिताम का मंत्र निम्न लिखित है—

होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणां शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करत एवाश्विना जुषेतां हविर्होतर्यज॥ यजु० २१. ४३

(होता अश्विनौ यक्षत्) यज्ञकर्ता गृहस्थ अध्यापक उपदेशकों का अन्नादि द्वारा सत्कार करे। (छागस्य हविषः आ आत्ताम्) वे बकरी के दूध दही को खावें। (अद्य मध्यतः उद्भृतं मेदः पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्याः गृभः घस्तां) सद्यः उस दही में से निकाले हुए घी को बेस्वाद आदि दुर्गुण से पहले, और पौरुष देने की शक्ति निकल जाने से पूर्व भक्षण करें। (नूनं घासे अज्राणां, यवसप्रथमानां, पीवोपवसनानां) घास के आश्रय चलने फिरने वाली, मुख्यतया तृणों को खाने हारी, और बल का निवास कराने हारी बकरियों के (सुमत्क्षराणां, शतरुद्रियाणां अग्निष्वात्तानां) सुमति-नाशक, विविधरोगोत्पादक, तथा जाठराग्नि-मन्दकारक मांस को, (पार्श्वतः, श्रोणितः, शितामतः, उत्सादतः अङ्गात् अङ्गात् अवत्तानां) जो-पार्श्व प्रदेश से, कटि से, बाहु योनि जिगर या मेदा से, एवं अन्य नाशकारी अङ्गों अङ्ग से काटा जाता है, (करतः एव) उसका त्याग ही करो। अर्थात् ऐसे हिंसा जनक, हानिकारक, तथा घृणित मांस का सेवन कभी मत करो। (अश्विना हवि

जुषेतां) हे अध्यापक उपदेशको ! बकरी के दूध दही घी आदि ग्राह्य उत्तम पदार्थों का सेवन करो। (होतः यज) हे यज्ञकर्त्ता गृहस्थ ! तू ऋत्विजों का सत्कार कर।

उपर्युक्त मंत्र में बड़े स्पष्ट शब्दों में बकरी के मांस खाने का निषेध है, जिस के लिये पांच हेतु दिये गये हैं—(१) हिंसा, ये बकरियें केवल घास फूस खाकर गुजारा करती हैं, और उपकारी इतनी हैं कि फिर भी अपने दुग्धादि के द्वारा हमें बल प्रदान करती हैं। ऐसे निर्दोष पशु को मांस-भक्षण के लिये मारना कितना घोर पाप है। (२) मांस-भक्षण से सुबुद्धि का नाश होता है। (३) सैकड़ों प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। (४) और जाठराग्नि मन्द पड़ जाती है। (५) मांस कटि, योनि, जिगर आदि घृणित अंगों से प्राप्त होता है। एवं मांस-भक्षण-निषेध के साथ २ 'हविषः आत्ताम्' 'हविः जुषेतां' आदि शब्दों में मंत्र के पूर्व और अन्त में बकरी के केवल घी दुग्ध दही आदि के सेवन की आज्ञा दी गई है। परन्तु फिर भी महीधर उवट आदि भाष्यकार इस मंत्र का अनर्थ किये बिना नहीं रहते। वे बकरे के अङ्ग २ को काट कर खाने में ही कल्याण समझते हैं। जिन महीधराचार्यों को शतपथ ब्राह्मण में बड़े स्पष्ट शब्दों में यजुर्वेदीय २३वें अध्याय के सारगर्भित अर्थों का उल्लेख होने पर भी मनघड़न्त अत्यन्त अश्लील अर्थों की सूझी, वे महानुभाव यदि प्रस्तुत मंत्र में मांस-भक्षण का निषेध होने पर भी, उससे ठीक उलटा मांस-भक्षण ही देखें तो कोई आश्चर्य नहीं।

'छाग' शब्द 'छाग्या इदम्' निर्वचन से बकरी के दूध आदि के लिये लोक में प्रयुक्त होता है। छागस्य हविषः, सुमत्क्षराणां, शतरुद्रियाणां, अग्निष्वात्तानां, अवस्तानां—यहां सर्वत्र कर्म में षष्ठी है। मेदस् = स्निग्ध घृत, ऋ०३.२१.१ में 'मेदसो घृतस्य' कहते हुए घृत के लिये विशेषण के तौर पर 'मेदस्' का प्रयोग किया है। 'रुद्र' शब्द रोग-वाचक यजुर्वेद के रुद्राध्याय (१६ अध्याय) में स्पष्टतया आता है। अग्निष्वात्तानाम्—अग्निः सु आत्तं गृहीतं यैस्तेषाम्। पीवोपवसनानाम्—पीवः उपवसनं यैस्तेषाम्। वृद्ध्यर्थक 'प्यै' धातु से 'असुन्' संप्रसारण और दीर्घ (उणा० ४. ११५)। बकरी के दूध दही तथा घृत की सुश्रुत (सूत्र स्थान ४५ अध्याय) में बहुत अधिक प्रशंसा की है, पाठक वहां से देख सकते हैं।

पार्श्व—यह अंग पसलियों से भरा हुआ होता है। 'पर्शु' से मयट् अर्थ में 'अण्' प्रत्यय। पर्शु—'स्पृश' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय, यह पीठ के साथ लगी होती है। पृष्ठ—'स्पृश' धातु से 'थक्' प्रत्यय (उणा०२.१२)। पीठ अन्य सब अङ्गों से संबद्ध है। रीढ़ की हड्डी ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा अन्य सब अङ्गों से मिली हुई है। अङ्ग—यह शब्द गत्यर्थक 'अगि' या 'अञ्चु' धातु से सिद्ध होता है, अङ्ग गति वाले हैं। श्रोणि—एक की गति से दूसरे के चलने अर्थ में प्रयुक्त 'श्रोणृ' धातु से 'इन्'

प्रत्यय (उणा० ४.११८)। मनुष्य के चलने पर कटि प्रदेश भी चलता सा है।

शिताम—(क) दोस् = बाहु। बाहु के आश्रित ही प्रायः करके सब कर्म हैं, अतः इसे श्रितम कहते हैं। श्रित–शिताम। दोस्—गत्यर्थक 'दु' धातु से 'डोसि' प्रत्यय (उणा०२.६९)। (ख) शाक्पूणि के मत में 'शिताम' का अर्थ योनि, अर्थात् गुदा है। यह पुरीष–मल से व्याप्त होती है। विषित—शिताम। (ग) तैटीकि 'शिताम' का अर्थ 'यकृत्' करता है। श्याम—शिताम। यकृत् को श्याम इस लिये कहा गया है कि वह श्याम वर्ण का होता है। श्याम—गत्यर्थक 'श्यै' धातु से 'मक्' प्रत्यय। श्याम वर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। यकृत्—जिगर जिस किसीतरह, अर्थात् सुगमता से काटा जाता है। यथाकथा कृत्–यकृत्। (घ) गालव के मत में शिताम का अर्थ मेदस् = चर्बी है। शितिमांस–शिताम। चर्बी श्वेत रंग का मांस है। शिति—'शो' तनूकरणे की समानार्थक 'शिञ्' धातु से 'क्तिच्' प्रत्यय। यद्यपि धातुपाठ में केवल तीक्ष्णीकरण में ही 'शो' धातु पठित है परन्तु चमकाने अर्थ में भी प्रयुक्त होती है।

मांस—(क) मा + अननं। मांस–भक्षण से दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं होता प्रत्युत यह आयु को क्षीण करने वाला है। 'मा' पूर्वक 'अन' 'धातु' से 'स' प्रत्यय (उणा० ३. ६४)। अथवा वधार्थक णिजन्त 'मन' धातु से 'स' प्रत्यय। प्राणि के मारने पर ही मांस की प्राप्ति होती है। 'मन' धातु वध अर्थ में यास्क ने प्रयुक्त की है (निरु० १०.१८)। (ख) यह मानसिक पापों को पैदा करने हारा है। मनो भवं मानसम्। मानस–मासुस–मांस। (ग) मन इसमें जाता है। मांस–भक्षण को मन बहुत चाहता है। मांस की चाट ऐसी है कि जिसने एक दो बार इसका सेवन कर लिया, फिर उसका छूटना कठिन हो जाता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जिन पदार्थों को मन बहुत चाहे, वे सब भक्ष्य ही हैं। मनुष्य लाल-मिर्च, खटाई आदि को बहुत अधिक चाहते हैं, परन्तु उनका अधिक सेवन हानिकर ही है। 'मनस्' पूर्वक 'सद्' धातु से 'ड' प्रत्यय। मनस् स—मनस—म अ न् स—मांस। मनु ने 'मांस' का निर्वचन बड़ा उत्तम किया है, पाठकों के लाभ के लिये उसका भी यहां उल्लेख कर दिया जाता है—

मांस भक्षयिता ऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५. ५५

अर्थात् जिस प्र का मैं इस जन्म में मांस खाता हूं परजन्म में (मां सः) मुझे वह खायेगा, य. मांस का मांसत्व है, ऐसा विद्वान् लोग बतलाते हैं।

मेदस्—स्नेहार्थक 'मिदा' धातु से 'असुन्' प्रत्यय (उणा० ४. १८९)॥ ३॥

४. मेहना

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्याभर ॥ ५. ३९. १

यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि। त्वया नस्तद्दातव्यम्। अद्रिवन्! अद्रिरादृणात्येतेन, अपि वाऽत्तेः स्यात् 'ते सोमादः' इति ह विज्ञायते। राध इति धननाम, राध्नुवन्त्यनेन। तन्नस्त्वं वित्तधन! उभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर। उभौ समुब्धौ भवतः॥४॥

'मेहना' के लिये जो 'यदिन्द्र चित्र' मंत्र दिया गया है वह सामवेद (छ. आ० ४. २. १. ४.) में भी पठित है। ऋग्वेद का पदकार शाकल्य 'मेहना' को एक पद मानता है, और सामवेद का पदकार गार्ग्य 'मेहनास्ति' के 'मे इह न अस्ति' पद-च्छेद करता हुआ 'मेहना' के तीन पद करता है। इन दोनों मतों के अनुसार यास्काचार्य उपर्युक्त मंत्र का अर्थ करते हैं, जो इस प्रकार है—

(अद्रिवः विदद्वसो इन्द्र!) हे वज्रधारिन् तथा लब्धैश्वर्य राजन्! (यत् चित्र मेहना राधः अस्ति) जो दर्शनीय तथा दान करने योग्य धन है, अथवा (यत् चित्र राधः मे इह न अस्ति) जो उत्तम धन यहां मेरे पास नहीं है, (त्वादातं) और जिसे तूने प्रदान करना है, (तत् नः उभयाहस्ति आभर) उस धन को हमें दोनों हाथों से, अर्थात् आवश्यकतानुसार भरपूर प्रदान कर।

चित्र = चित्रं = चायनीयं मेहना = मंहनीयम्। दानार्थक 'मंह' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय। मेहना—सुपां सुलुक् से 'सु' की जगह 'आ'। अथवा 'मे इह न' ये तीन मेहना—मध्यवर्ती पद हैं। त्वादातम् = त्वया दातव्यम्। अद्रिवः = अद्रिवन्! अद्रि = वज्र, इससे योद्धा शत्रु का नाश करता है। 'आङ्' पूर्वक 'दृ' विदारणे धातु से 'क्रिन्' प्रत्यय (उणा० ४. ११८)। अथवा, भक्षणार्थक 'अद' धातु से 'क्रिन्' प्रत्यय (उणा० ४. ६५)। वज्र जिस पर फेंका जावे उसे खा लेता है—नष्ट कर देता है। 'अद्रि' का यह दूसरा निर्वचन 'ते सोमादः' इस मंत्र से विदित होता है, उसकी सिद्धि ११४ पृष्ट पर देखिए। राधस् = धन, मनुष्य इससे धर्मादि पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं। 'राध' संसिद्धौ से 'असुन्' प्रत्यय। विदद्वसो = वित्तधन = हे लब्धधन! उभयाहस्ति = उभाभ्यां हस्ताभ्याम्। उभ—स्त्री तथा पुरुष—दोनों के योग से गृहस्थ—धर्म पूर्ण होता है। इन दोनों की समानता से अन्य दोनों पदार्थों के लिये भी 'उभ' का प्रयोग होगया है। पूरणार्थक 'उभ' धातु से 'अच्' प्रत्यय॥ ४॥

५. दमूनस्

दमूना दममना वा, दानमना वा दान्तमना वा, अपि वा दम इति गृहनाम तन्मना स्यात्, मनो मनोतेः—

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामाभरा भोजनानि ॥ ५.४.५

अतिथिरभ्यतितो भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा परगृहाणीति वा। दुरोण इति गृहनाम, दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः। इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्। सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामाभर भोजनानि—विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा, धनानीति वा ॥ ५ ॥

दमूनस्—(क) दममनाः = जितेन्द्रिय, दमे दमने इन्द्रियजये मनो यस्य। दममनस्–दमूनस्। (ख) दानमनाः = दानी। दानमनस्—दमूनस्। (ग) दान्तमनाः सत्संगी, दान्तेषु जितेन्द्रियेषु मनो यस्य। दान्तमनस्—दमूनस्। (घ) अथवा 'दम' यह गृह का वाचक है, उसमें मन वाला। अर्थात्, गृहस्थ-धर्म की जिसे चिन्ता रहती हो, उस सच्चे गृहपति को 'दमूनस्' कहेंगे। मनस्—'मन' धातु से 'असुन्' प्रत्यय। जिससे ज्ञान की उपलब्धि होती है उसे मन कहते हैं। 'दमूनस्' के लिये दिये हुए 'जुष्टो दमूनाः' मंत्र का अर्थ यह है—

(अग्ने) हे राष्ट्रनायक राजन्! (जुष्टः, दमूनाः, अतिथिः, विद्वान्) प्रजाप्रिय, जितेन्द्रिय दानी सत्संगी या सच्चे गृहपति, मङ्गल अवसरों पर प्रजा–गृहों में आने वाले, और विद्यावान् आप (नः दुरोणे) हमारे घर पर (इमं यज्ञं उपयाहि) इस प्रस्तुत यज्ञ में आइए, (विश्वाः अभियुजः विहत्य) और संपूर्ण शत्रुसेनाओं का भली प्रकार उच्छेद करके (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रुओं के भवन से भोजन–सामग्री, या धनों का हरण कीजिए।

अतिथि—(क) यह गृहस्थियों के घरों में अभिगत होता है। 'अत' धातु से 'इथिन्' प्रत्यय (उणा० ४.२)। (ख) यह शुभ तिथियों पर—मङ्गल अवसरों पर—परकुलों या परगृहों में जाता है। अभ्येति तिथिषु—अतिथि। दुरोण = गृह, घरों का तृप्त करना दुष्कर होता है। 'दुर्' पूर्वक 'अव्' धातु से 'न' प्रत्यय, पाणि० ६. ४. २० से 'अव्' को 'ऊठ्' और गुण। अभियुजः विहत्य =

विहत्यान्येषां बलानि । शत्रूयताम् = शत्रूणाम् । भोजनानि = भोजनानि, धनानि धन से मनुष्य की पालना होती है ॥ ५ ॥

६. मूष

मूषो मूषिका इत्यर्थः । मूषिकाः पुनर्मुष्णातेः । मूषाप्येतस्मादेव ।

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः । मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारन्ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ १.१०५.८

सन्तपन्ति मामभितः सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवः । मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति, स्वाङ्गाभिधानं वा स्याच्छिश्नानि व्यदन्तीति वा । सन्तपन्ति माध्यः कामाः, स्तोतारं ते शतक्रतो । वित्तं मे अस्य रोदसी, जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति ।

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ । तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति । त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव । अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात्, एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः ॥ ६ ॥

मूष = चूहा । मूषिक—'मूष्' स्तेये धातु से 'किकन्' प्रत्यय और दीर्घ । और इसी धातु से 'क्विप्' करने पर 'मूष्' की सिद्धि होती है । चूहे पदार्थों को बहुत चुराते हैं ।

'मूष' के लिये उल्लिखित 'सं मा तपन्ति' मंत्र का देवता 'इन्द्र' है । मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(शतक्रतो !) हे प्रचुर ज्ञान वाले विद्या-प्रकाशक उपदेशक ! (ते स्तोतारं मां) आप के भक्त मुझ को (सपत्नीः इव पर्शवः अभितः सन्तपन्ति) सपत्नी स्त्रियों की न्याईं सांसारिक विपत्तियें पूर्णतया सन्ताप दे रही हैं । अर्थात्, जिस प्रकार अनेक विवाह कर लेने पर सपत्नियें पति को बड़ा कष्ट देती हैं, उसी प्रकार बाह्य आपदायें मुझे सता रही हैं । (मूषः न शिश्ना मा आध्यः व्यदन्ति) और हे आचार्य ! जिस प्रकार चूहे मैले सूत्र या अपने ही अङ्ग उपस्थेन्द्रिय को खा जाते हैं, उसी प्रकार मुझे कामनायें खा रही हैं । (रोदसी मे अस्य वित्तम्) हे उपदेशक स्त्री पुरुषो ! आप मेरे इस कष्ट को जानिए ।

मंत्र का संक्षिप्त भाव यह है कि जब किसी विदुषी आचार्या में ब्रह्मसम्पन्न

पुरुष, और विद्वान् गुरु उपदेशक में भक्तियुक्त मनुष्य हो, तो उन उपदेशक स्त्री पुरुषों का कर्तव्य है कि वे ज्ञान-प्रकाश के द्वारा उन के बाह्य तथा आन्तरीय दुःखान्धकार को दूर करें। यह ही धर्मोपदेश का सच्चा आदर्श है।

यास्क ने 'पर्शवः' के भाव को स्पष्ट करने के लिये प्रकरणानुसार 'कूपपर्शवः' अर्थ किया है। जैसे कि इसी सूक्त का १७ वां मंत्र है—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये। तच्छुश्राव
बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी॥

(कूपे अवहितः त्रितः) संसार-कूप में पड़ा हुआ मेधावी मनुष्य (ऊतये देवान् हवते) यदि आत्म—संरक्षण के लिये देवजनों को बुलाता है, तो (अंहूरणात् उरु कृण्वन् बृहस्पतिः) दुखियों को दुःख से दूर करता हुआ वेदज्ञ उपदेशक (तत् शुश्राव) उस कथन का श्रवण करे। (रोदसी मे अस्य वित्तम्) हे उपदेशक स्त्री पुरुषो ! मेरे (परमेश्वर के) इस आदेश को जानो।

कूप की उपमा प्रायः दुनिया के लिये दी जाती है, जैसे कि एक कवि ने **'संसार एव कूपः सलिलानि विपत्तिजन्मदुःखानि । इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान्'** (वाग्भटालङ्कार) में बड़े सुन्दर शब्दों में दर्शाया है। परान् शृणाति हिनस्तीति पर्शुः—इस निर्वचन से यहां 'पर्शु' का अर्थ बाह्य विपत्तियें लिया गया है। क्योंकि आन्तर दुःखों के लिये आगे 'आध्यः' शब्द पढ़ा हुआ है। शिश्न = अज्ञात, उपस्थेन्द्रिय। 'शिश्न' का 'अज्ञान' अर्थ किस निर्वचन से हुआ यह विचारणीय है। आध्यः = आधयः = कामाः। रोदसी = द्यावा पृथिव्यौ, और 'द्यावापृथिवी' स्त्री पुरुष के लिये प्रयुक्त होता है, इसके लिये निरु० ४.४७ का भाष्य देखिये।

'सं मा तपन्ति' मंत्र के प्रकरण को दर्शाने के लिये यास्काचार्य लिखते हैं कि 'त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ'। अर्थात् संसार-कूप में पड़े हुए त्रित को इस सूक्त (ऋ०१.१०५) का प्रकाश हुआ। यास्क का उपर्युक्त वचन 'त्रितः कूपेऽवहितः' मंत्र के आधार पर है।

इस सूक्त (१.१०५) में वेद-मंत्र नित्य इतिहास से मिश्रित हैं, और उन में ऋक् तथा गाथा—दोनों प्रकार की रचना के मंत्र हैं। 'ऋचा' की न्याईं पद्य-बद्ध मंत्रों का दूसरा भेद 'गाथा' है।

त्रित—(क) उपर्युक्त मंत्र में जो 'त्रित' प्रार्थना करता है, वह मेधा से तीर्णतम था, बड़ा मेधावी था। तीर्णतम—त्रित। (ख) अथवा, यहां संख्या निमित्तक नाम ही अभिप्रेत है। एकत, द्वित, त्रित—ये तीन थे, उन में तीसरा त्रित है।

एकं तनोति इति एकतः, द्वौ तनोति द्वितः, त्रीन् तनोति त्रितः। एक, द्वि या त्रि पूर्वक 'तनु' विस्तारे धातु से 'ड' प्रत्यय। जो अकेले ज्ञान का सम्पादन करता है वह एकत, जो ज्ञान तथा कर्म—इन दोनों का विस्तार करता है वह द्वित, और जो ज्ञान कर्म तथा भक्ति—तीनों का उपार्जन करता है वह त्रित है।

यहां यास्काचार्य ने 'बभूव' और 'बभूवुः' का प्रयोग करते हुए जो भूतकाल का निर्देश किया है, उससे पाठक यह न समझ लें कि आचार्य को 'त्रित' नामी कोई भूतकालीन विशेष व्यक्ति अभिप्रेत है। उसने भूतकाल का प्रयोग प्रकरणगत इतिहास की दृष्टि से किया है। इतिहास (इति+ह+आस) का वर्णन सदा भूतकाल में ही हुआ करता है। यहां इतिहास से क्या तात्पर्य है, पाठकगण उसके लिये १२८ पृष्ठ देखें।

यास्क की उपर्युक्त शैली को वाचकवृन्द विशेषतया हृदयंगम करलें, क्योंकि आगे बार २ इसी शैली को बर्ता गया है॥ ६॥

७. इषिरेण

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोम राजन् प्रण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि॥

ईषणेन वा, एषणेन वा, अर्षणेन वा ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य। प्रवर्धय च न आयूंषि सोम राजन् अहानीव सूर्यो वासराणि। वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा।

उपर्युक्त मंत्र (८.४८.७) का देवता 'सोम' है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(राजन् सोम) हे सब के राजा और सब के उत्पादक परमेश्वर! (ते इषिरेण मनसा) तेरे प्रति गये हुए मन से, तेरी कामना युक्त मन से, या तेरा साक्षात्कार करने वाले मन से युक्त हम (पित्र्यस्य रायः इव) पैतृक संपत्ति की न्याईं (सुतस्य भक्षीमहि) जगत् का उपभोग करें। अर्थात् जिसप्रकार पुत्र पिता द्वारा प्रदत्त पैतृक संपत्ति को भोगने का अधिकारी होता है, उसी प्रकार हम आपकी भक्ति करते हुए आप से प्रदत्त धन का ही भोग करें दूसरों के धन की आकांक्षा कभी न करें। (सूर्यः वासराणि अहानि इव नः आयूंषि प्रतारीः) हे पिता! जिसप्रकार सूर्य क्रमशः बड़े दिनों को बढ़ाता रहता है, एवं आप हमारी आयुओं को बढ़ाइए।

इषिर—गत्यर्थक 'ईष' धातु से, इच्छार्थक 'इषु' धातु से अथवा दर्शनार्थक

'ऋषी' धातु से 'क्विच्' प्रत्यय (उणा० १. ५१)। वासर = (क) वेसर—वासर। गत्यर्थक 'वेस' धातु से 'असर' प्रत्यय (उणा०३.१३२)। बड़ा दिन देर तक प्राप्त रहता है। (ख) बड़े दिन अन्धकार को दूर हटाते हैं। विवासनार्थक णिजन्त 'वस' धातु से 'असर' प्रत्यय। (ग) 'वि' पूर्वक गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'अप्'। विसर—वासर। बड़े दिन विस्तृत होते हैं।

८. कुरुतन कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति । कर्त्तन, हन्तन, यातन—इति ॥ ७ ॥

'कुरुतन' इत्यादि स्थलों में 'न' आदि आगम अनर्थक होते हैं। इसी तरह कर्तन = कर्त्त, हन्तन = हन्त, यातन = यात आदि रूप समानार्थक हैं।
पा०७.१.४५ से वेद में 'त' की जगह 'तनप्' आदेश हो जाता है। विकरण 'उ' का लुक् होने पर 'कुरुतन' का ही रूपान्तर 'कर्तन' है, और 'त्' को द्वित्व करने पर उसी का दूसरा रूप 'कर्त्तन' है।

'कुरुतन' का पाठ चारों वेदों में कहीं नहीं आता। निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा ने 'रिप्रेण तपसा कुरुतन' पाठ कहीं का दिया है। परन्तु 'कुरुतन' के अर्थ में 'कर्तन' का पाठ ऋग्वेद में अनेकवार प्रयुक्त हुआ है। संभव है कि निघण्टुकार और यास्क के समय 'कर्तन' की जगह 'कुरुतन' पाठान्तर हो।

कर्तन = करो, हन्तन = मारो, यातन = जाओ। इनका प्रयोग क्रमशः यजु० १२.६९; ऋ०७.५९.८; तथा ऋ०१०.१६५.१३ में देखिए।

'अनर्थका उपजनाः भवन्ति' में बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया है कि 'न' की तरह अन्य भी अनेक उपजन अनर्थक हैं, उनकी व्याख्या भी इसी से समझ लेनी चाहिए। जैसे 'ईर्मान्तासः, सिलिकमध्यमासः, शूरणासः, दिव्यासः, आदि स्थलों में पा० ७. १.५० से 'असुक्' का आगम होगया है। इनके अर्थ ईर्मान्ताः, सिलिकमध्यमाः, शूरणाः, दिव्याः—ये हैं। दत्वाय, हत्वाय आदि में 'क्त्वो यक्' (पा०७.१.४७) से 'यक्' का आगम है। ये दत्वा हत्वा—इन अर्थों में प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार अन्य उपजन समझ लेने चाहिए ॥ ७ ॥

९. जठर जठरमुदरं भवति। जग्धमस्मिन् ध्रियते, धीयते वा। मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम्॥ ३.४७.

मरुत्वान् इन्द्र मरुद्भिस्तद्वान् । वृषभो वर्षितापाम् । रणाय रमणीयाय संग्रामाय । पिब सोममनुष्वधम् अन्वन्नं मदाय मदनीयाय जैत्राय । आसिञ्च स्वजठरे मधुन ऊर्मिम् । मधु सोममित्यौपमिकं, माद्यतेः । इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव । त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहःसु सुतानाम् ॥ ८ ॥

जठर = उदर, इसमें खाया हुआ अन्न धारण किया जाता है । 'जग्ध' पूर्वक 'धृ' या 'धा' धातु से 'अरन्' प्रत्यय (उणा०५.४१) । जग्ध धर-जठर ।

'मरुत्वाँ इन्द्र' मंत्र का देवता इन्द्र है । मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(इन्द्र ! मरुत्वान् वृषभः) हे राजन् ! अनेक सैनिकों से युक्त और वीर्यशाली तू (रणाय मदाय) संग्राम के लिये और विजयावह जोश के लिये (अनुष्वधं सोमं पिब) भोजनानन्तर सोमरस का पान किया कर, (स्वजठरे मध्वः ऊर्मिं आसिञ्च) और अपने उदर में सोम की प्रभूत राशि को सिक्त कर । अर्थात् सोम पान अत्यल्प मात्रा में नहीं करना चाहिए परन्तु पर्याप्त राशि में उसका सेवन करना लाभकर है । (प्रदिवः सुतानां त्वं राजा असि) पहले दिनों में निकाले हुए सोमरस का भी तू राजा है । अर्थात् कई दिनों का निकाला हुआ सोम रस भी लाभकर होता है, उसे भी तू उपयोग में ला सकता है ।

वृषभः = वर्षिता अपाम् = वीर्य का सेक्ता । अनुष्वधं = अन्वन्नम् । मदाय = मदनीयाय जैत्राय । यहां जैत्राय का अध्याहार करते हुए यास्क ने स्पष्ट किया है कि सोम-पान से मनुष्य उन्मत्त नहीं होता । 'मधु' मुख्यतया शराब के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु सोम भी शराब की न्याईं मद देने वाला होता है, अतः उसे उपमा के रूप में मधु कहा गया । शराब और सोम के मद में भेद यह है कि शराब तो उन्माद करने वाली होती है, परन्तु सोम विजयावह सच्चे जोश को पैदा करने वाला है । मधु—'मदी' हर्षे से 'उ' प्रत्यय (उणा०१.१८) । यह दूसरा शहद वाचक मधु शब्द भी इसी 'मदी' धातु से बनता है । प्रदिवः = पूर्वेषु अहःसु ॥८॥

* द्वितीय पाद *

१९. तितउ

तितउ परिपवनं भवति । ततवद्वा, तुन्नवद्वा, तिलमात्रतुन्नमिति वा ।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा

सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाची॥१०.७१.२

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीतस्य विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः। तत्र सखायः सख्यानि संजानते। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचीति-भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयम्, भूतानामभिद्रवणीयम्, भवद्रमयतीति वा, भाजनवद्वा। लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणः, लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः॥ १। ९॥

तितउ = छालनी। (क) ततवत्-ततव्-तितउ, इसमें शुद्ध करने के लिये डाली हुई वस्तु छानते समय फैल जाती है। (ख) तुन्नवत्-तुद्दुनवत्-तुतव्-तितउ, यह छिद्रों वाली होती है। (ग) तिलमात्रतुन्न-तितु-तितउ, इसके तिल जितने सूक्ष्म छिद्र होते हैं, अत एव कात्य ने कहा है 'क्षुद्रछिद्रशतोपेतं चालनं तितउः स्मृतः'। अब मंत्रार्थ देखिए—

(यत्र धीराः) जिस समाज में विद्वान् ध्यानी लोग (तितउना सक्तुं इव मनसा वाचं पुनन्तः अक्रत) छालनी से सत्तुओं की न्याईं बुद्धि से वाणी को पवित्र करते हुए, उस ज्ञान युक्त वाणी का उच्चारण करते हैं, (अत्र सखायः सख्यानि जानते) उस समाज में समाजी लोग मित्र भावों को समझते हैं (एषां अधिवाचि भद्रा लक्ष्मीः अधिनिहिता) और इन धीरों की वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी का अधिक निवास है। अर्थात् जिस समाज में बुद्धिमान् लोग चलनी स्थानीय बुद्धि से भली प्रकार सोच विचार कर शब्दों का उच्चारण करते हैं, वहां सर्वत्र मित्रता-सुख का ही विस्तार होता है, और उन धीरों की वाणी में उस महती शक्ति का निवास होता है जिसे कि 'ऋषीणां पुनराद्यानामर्थो वाचो ऽनुवर्तते' के शब्दों में दर्शाया है।

सक्तु—(क) 'सच' धातु से 'तुन्' प्रत्यय (उणा० १. ६९)। इसमें भुस्सी बहुत मिली रहती है, अतएव इसका शुद्ध करना बड़ा दुष्कर होता है। (ख) 'कस' धातु से 'तुन्' प्रत्यय और 'स' 'क्' का विपर्यय। कस्तु—सक्तु। यह भिगोने पर बड़ा फूलना है। धीर- धी शब्द प्रज्ञा

और ध्यान दोनों में प्रयुक्त हैं। उससे 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय।

भद्र—(क) 'भद्र' शब्द 'भग' से व्याख्यात है। अर्थात् भग तथा भद्र एक ही 'भज' धातु से निष्पन्न होते हैं और समानार्थक है। 'भज' से 'रन्' प्रत्यय (उणा० २. २८)। कल्याण सब के लिये भजनीय है। (ख) यह प्राणियों के लिये प्रापणीय है। 'अभि' पूर्वक 'द्रु' धातु से 'ड' प्रत्यय। (ग) इसकी उपस्थिति होने पर, यह प्राणियों को आनन्द देता है। 'भवत्' पूर्वक 'रम्' धातु से 'ड' प्रत्यय, भवत् र —भत् र-भद्र। (घ) अथवा यह सुपात्र वाला होता है। अर्थात् कल्याण उसे ही प्राप्त होता है जो कि उसका सुपात्र हो। 'भाजन' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय। भाजन र—भज् र—भद्र।

लक्ष्मी—(क) लभ्यते अनया लक्ष्मीः, इससे अनेक पदार्थों का लाभ होता है। 'लभ' धातु से 'ई' प्रत्यय। (ख) इससे पुरुष लक्षित होता है। अर्थात् लक्ष्मी के कारण मनुष्य अन्यों में विशिष्ट माना जाता है। 'लक्ष' से 'ई' प्रत्यय और 'मुट्' का आगम (उणा० ३. १६०)। (ग) लाञ्छनार्थक 'लञ्छ' धातु से 'ई'। निरुक्त में अधिकतर 'लञ्छनात्' पाठ पाया जाता है, परन्तु संभवतः शुद्ध पाठ 'लञ्छनात्' हो। अन्यथा कुछ पुस्तकों में जो 'लाञ्छनात्' पाठ मिलता है, यह ठीक है क्योंकि तब भी लक्षणार्थक 'लाछि' धातु से लक्ष्मी निष्पन्न हो सकता है। (घ) इच्छार्थक 'लष' धातु से भी लक्ष्मी सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसे सभी चाहते हैं। (ङ) आश्लेषार्थक 'लग' धातु से 'ई' और 'मुट्'। लक्ष्मी को सभी जन आलिङ्गन करना चाहते हैं। (च) अथवा अश्लाघार्थक 'लस्ज' धातु से लक्ष्मी की सिद्धि होती है। लक्ष्मीवान् पुरुष अपनी श्लाघा की परवाह नहीं करते, प्रत्युत वे बड़े लज्जा-शील होते हैं ॥ १ । ९ ॥

११. शिप्रे
१२. मध्या

शिप्रे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥ २ । १० ॥

शिप्रे—इस की व्याख्या आगे (६: ७२) करेंगे।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततं सञ्जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ १. ११५ ४

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदाऽसावयुक्त हरणानादित्यरश्मीन्, हरितो ऽश्वानिति वा, अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै, वेसरमहरव-

युवती सर्वस्मात्। आपे वोपमार्थे स्यात्. रात्रीव वासस्तनुत इति । तथापि निगमो भवति—'पुनः समव्यद्विततं वयन्ती'। समनात्सीत् ॥ ३ । ११ ॥

मध्या = मध्ये, सुपां सुलुक् (पा० ७. १. ३९) से 'ङि' की जगह 'डा'। इस प्रकार के प्रयोग वेद में बहुत आते है, जैसे नाभौ के अर्थ में नाभा। 'तत्सूर्यस्य देवत्वं' मंत्र का देवता सूर्य है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—(सूर्यस्य तत् देवत्वं तत् महित्वं) सूर्य का यह ही देवत्व और यह ही महत्त्व है कि वह (कर्त्तोः मध्या विततं सञ्जभार) किये जाते कर्मों के मध्य में ही फैले हुए रश्मि-समूह को समेट लेता है। (यदा इत् सधस्थात् हरितः अयुक्त) और जब ही सूर्य पृथिवी पर से रस-हरण करने वाली रश्मियों को अन्यत्र जोड़ देता है (आत् सिमस्मै वासः रात्री तनुते) तब ही रात्रि सब से दिन को हटाकर अन्धकार को फैला देती है। अथवा, (रात्री वासः सिमस्मै तनुते) वस्त्र बुनने वाली स्त्री सूर्योदय होने पर जिस प्रकार वस्त्र को फैला देती है, उसी प्रकार रात्रि अन्धकार को सर्वत्र फैला देती है।

कर्त्तोः—यह कर्त्तु का षष्ठ्यन्त रूप है, और एकवचनान्त होने पर भी बहुवचन के अर्थ को जतलाता है। 'कर्त्तोः' शब्द कर्म-नामों में निघण्टु-पठित है। 'कृ' धातु से 'तुन' (उणा० १. ६९) प्रत्यय करने पर कर्त्तु' की सिद्धि होती है। इसी का रूपान्तर 'क्रतु' है। अर्थ को विस्पष्ट करने के लिये यास्क ने 'क्रियमाणानाम्' का अध्याहार किया है। हरितः = हरणाद् आदित्यरश्मीन्। रश्मियें ही सूर्य के घोड़े हैं, अतः हरितोऽश्वाश्च अलङ्कार-रूप में कहा गया है।

'रात्री वासस्तनुते सिमस्मै' के यथानिर्दिष्ट दो अर्थ किये गये हैं। प्रथम अर्थ में 'वेसरम् अहः अवयुवती सर्वस्मात्' लिखते हुए चतुर्थ्यन्त सिमस्मै को पञ्च-म्यन्त माना है, वासस का अर्थ 'दिन' किया है, और अर्थ को पूर्ण करने के लिये 'अवयुवती' का अध्याहार किया है। वासस् = वेसर = अहन्। गत्यर्थक 'वेस' धातु से 'असुन्' प्रत्यय। वेसस् = वासस्। यहां वेसर वासस् वासर- शब्द सामान्यतः दिन के लिये प्रयुक्त है। द्वितीय अर्थ लुप्तोपमा मान कर किया गया है। इस पक्ष में 'सिमस्मै' का अर्थ सप्तम्यन्त 'सर्वस्मिन्' होगा। एवं 'रात्री वासस्तनुते सिमस्मै' का अर्थ 'रात्री वासः इव सर्वस्मिन् तमः तनुते'—इस प्रकार होगा।

रात्रीव वासस्तनुते—यह रचना ठीक प्रतीत नहीं देती। इसकी जगह पर रात्री वास इव तनुते—ऐसा पाठ चाहिये। यद्यपि सब निरुक्तों में पाठ तो पूर्वोक्त ही मिलता है, परन्तु दुर्गाचार्य ने उस का अर्थ 'वास इव रात्री तमस्तनुते' ऐसा ही किया है।

लुप्तोपमा मान कर अर्थ को पुष्ट करने के लिए यास्काचार्य 'पुनः समव्यद्विततं वयन्ती' वेद मंत्र उद्धृत करते हैं। इस मंत्र में पूर्वोक्त उपमा अधिक स्पष्ट है। मंत्र और उसका अर्थ इस प्रकार है—

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्त्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः ।
उत्संहायास्थाद्वि ऋतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात् ॥ २.३८.४

देवता—सूर्यः । (वयन्ती विततं पुनः समव्यत्) वस्त्र बुनने वाली स्त्री सूर्यास्त के समय जिस प्रकार फैलाये हुए वस्त्र को फिर इकट्ठा कर लेती है, उसी प्रकार रात्रि फैले हुए रश्मि–जाल को फिर समेट लेती है, (धीरः कर्त्तोः मध्या शक्म न्यधात्) जब कि कर्मकर्ता सूर्य किये जाते कर्मों के मध्य में अपने सन्तानभूत किरण–समूह को नीचे कर देता है, अर्थात् अस्त होजाता है। (संहाय उदस्थात्) तत्पश्चात् सूर्य फिर किरणों को इकट्ठा कर के उदित होता है। इस प्रकार सूर्य (ऋतून् वि अदर्धः) ऋतुओं और अहोरात्रादि कालों को बनाता है। (अरमतिः देवः सविता आगात्) एवं आराम न लेने वाला प्रकाशक सूर्य सर्वदा गति करता रहता है।

समव्यत् = समनात्सीत् = बांध लेती है, लपेट लेती है। 'अव्यत्' पद 'व्येञ्' संवरणे धातु का रूप है ॥ ३ । ११ ॥

१३. मन्दू — **इन्द्रेण सं हि दृक्षसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा ॥ १. ६. ७**

इन्द्रेण हि सन्दृश्यसे सङ्गच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन । मन्दू मदिष्णू युवां स्थः । अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात् । समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् ॥ ४।१२ ॥

(अबिभ्युषा, मन्दू, समानवर्चसा इन्द्रेण सञ्जग्मानः) हे वायो ! तू भय–निवारक, आनन्ददायक, और समान सामर्थ्य वाले सूर्य–किरण–समूह के साथ मेल रखता हुआ (हि संदृक्षसे) ही दीखता है। अर्थात् परमात्मा की सृष्टि में सूर्य तथा वायु—ये दोनों अत्युपयोगी होने से मुख्य हैं, इन्हीं के कारण धारण आकर्षण और प्रकाश होता है।

अथवा, मंत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा—(अबिभ्युषा इन्द्रेण सञ्जग्मानः हि संदृक्षसे) हे वायो ! तू भयनिवारक सूर्यकिरण-समूह के साथ मेल रखता हुआ ही दीखता है, (मन्दू समानवर्चसा) और तुम दोनों—वायु तथा सूर्य—आनन्द-

दायक और समान सामर्थ्य वाले हैं।

मन्दू—'मदी' हर्षे धातु से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. ७)। एवं 'मन्दू' पद मन्दु का द्विवचनान्त प्रयोग है। अथवा 'मन्दू' मन्दुना के अर्थ में प्रयुक्त है। इस पक्ष में 'सुपां सुलुक्' से तृतीया विभक्ति के 'आ' को पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होगया है। समानवर्चसा—जब मन्दू तृतीयैकवचन होगा तब 'समानवर्चसा' यह भी 'समान-वर्चस्' का तृतीयान्त रूप है, और जब 'मन्दू' द्विवचनान्त होगा तब समान-वर्चसा का अर्थ समानवर्चसौ होगा। यहां सुपां सुलुक् से 'औ' की जगह 'आ' हो गया है।

मंत्र के उपयुक्त दोनों अर्थों के अनुसार मंत्र का देवता 'मरुतः' या 'मरुत इन्द्रश्च' है ॥ ४ । १२ ॥

१४. ईर्मान्तासः

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासो दिव्यासो अत्याः। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥ १. १६३. १०

ईर्मान्ताः समीरितान्ताः, पृथ्वन्ता वा। सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः, शीर्षमध्यमा वा—अपि वा शिर आदित्यो भवति यदनुशेते सर्वाणि भूतानि मध्ये चैषां तिष्ठति। इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव, समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति। संशूरणासः, शूरः शवतेर्गतिकर्मणः। दिव्या दिविजाः। अत्या अतनाः। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते—हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्, श्रेणिः श्रयते समाश्रिता भवन्ति। यदाक्षिषुः यदापन्, दिव्यमज्मम्—आजनिम् आजि—अश्वाः। अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्य आदित्यादश्वो निस्तष्ट इति। 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' इत्यपि निगमो भवति ॥ ५ । १३ ॥

'ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासः' मंत्र का देवता 'अश्व' है। (यत् अश्वाः दिव्यं अज्मं आक्षिषुः) जब सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक आदित्य-किरणें अन्तरिक्ष-मार्ग को व्याप्त करती हैं, तब (ईर्मान्तासः) विस्तृत अन्तों वाली, (सिलिकमध्यमासः) सम्यकतया क्रमशः सरके हम मध्य

देशों वाली या सूर्य को मध्य में रखते हुए उसके चारों तरफ से निकलने वाली, (संशूरणासः) अत्यन्त वेगवाइ, (दिव्यासः) द्युलोक में पैदा होने वाली, (अत्याः) और निरन्तर गति करने हारी सूर्य-रश्मियें (हंसाः इव श्रेणिशः यतन्ते) हंसों की न्याई पंक्तिबद्ध चलती हैं।

इस मंत्र से हमें निम्न लिखित बातों का बोध होता है—

(१) सूर्य की रश्मियें असमानान्तर रेखाओं में चलती हैं। ज्यों ज्यों ये सूर्य से दूर होती जाती हैं, त्यों त्यों रेखाओं में अन्तर क्रमशः अधिकाधिक होता जाता है। (२) ये रश्मियें सूर्य के चारों ओर से निकल रही हैं। (३) रश्मियों की गति बड़ी तेज़ है। ये सूर्य से पृथिवी तक अत्यन्त शीघ्रता से पहुंचती हैं। इन का वेग इतना अधिक है कि ये एक सैकण्ड में १ लाख ८६ हज़ार मील चल लेती हैं। (४) ये निरन्तर गति करती रहती हैं, इनकी गति कभी नहीं रुकती क्योंकि सूर्यास्त कभी नहीं होता, वह कहीं न कहीं अपना प्रकाश फैला रहा होता है।

ईर्मान्तासः, सिलिकमध्यमासः, संशूरणासः, दिव्यासः—यहां सर्वत्र 'असुक्' का आगम है। **ईर्म**=समीरित=पृथु=विस्तृत। प्रेरणार्थक 'ईर' धातु से 'मक्' प्रत्यय (उणा०१.१४५)। जिन रश्मियों के अन्त हटे हुए हों, विरल हों, उन्हें 'ईर्मान्त' कहा है। **सिलिकमध्यमाः**—(क) संसृतमध्यमाः, जिन के मध्यदेश सम्यक्तया क्रमशः सरके हुए हों, दूर हटे हुए हों। मध्यदेशस्तु मध्यमः—अमरकोश। (ख) शीर्षमध्यमाः, जिन रश्मियों के मध्य में आदित्य है, अर्थात् सूर्य के चारों ओर से रश्मियें निकलती हैं। सृत=सृतक—सिलिक। शीर्ष=शीर्षक—सिलिक। **शिरस्**=शीर्ष=आदित्य, यह सब प्राणियों में अनुप्रविष्ट होकर स्थित है। सूर्य के द्वारा ही प्राणियों में प्राण—शक्ति का सञ्चार होता है। अनुशेते सर्वाणि भूतानीति शिर आदित्यः। 'शी' धातु से 'असुन्' प्रत्यय और 'शिर' आदेश (उणा० ४. १९४)। यह दूसरा सिर का वाचक 'शिरस्' शब्द भी इसी 'शी' धातु से बनता है। अनुशयन्ते सर्वाणीन्द्रियाणि यत्र तत् शिरः। सिर में सब इन्द्रियें स्थित हैं। अथवा, 'श्रिञ्' धातु से भी 'शिरस्' की सिद्धि हो सकती है क्योंकि सिर में सब इन्द्रियें आश्रित हैं। शूरण=शूर। गत्यर्थक 'शव' धातु से 'क्रन्' और उपधा को 'ऊठ्' (उणा०२.२५)। अत्याः=अतनाः। हंस—गत्यर्थक 'हन' धातु से 'स' प्रत्यय (उणा०३.६२) ये आकाश मार्ग में जाते हैं। श्रेणि—'श्रिञ्' धातु से 'नित्' प्रत्यय (उणा०४.५१) पंक्ति में सब एक दूसरे के आश्रित होते हैं। यत् आक्षिषुः=यदा आपन्न। आज्म, अजनि, आजि—ये तीनों समानार्थक हैं।

उपर्युक्त मंत्र में जो अश्व का वर्णन है, वह आदित्य की ही स्तुति है क्योंकि अश्व आदित्य से बनाया गया है जैसा कि "'सूरादश्वं वसवः' आदि

इसी सूक्त के मंत्र से प्रमाणित होता है। मंत्र और उसका अर्थ इस प्रकार है—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूराद्श्वं वसवो निरतष्ट॥ १.१६३.२

(यमेन दत्तं एनं) नियामक सूर्य से दिये हुए इस रश्मिजाल को (त्रितः आयुनक्) तीनों स्थानों में विस्तृत वायु जोड़ता है, (प्रथमः इन्द्रः एनं अध्यतिष्ठत्) मुख्य स्वामी परमेश्वर इस का अधिष्ठाता है, (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात्) और चन्द्रमा इस रश्मि-समूह की सुषुम्णा रश्मि को ग्रहण करता है। (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) एवं, सब पृथिवीलोक सूर्य से रश्मि को निश्चयपूर्वक धारण करते हैं।

सायण ने 'निरतष्ट' में 'तक्ष' धातु धारणार्थक मानी है जैसे कि वह लिखता है--तक्षतिः करोतिकर्मा, सच क्रियासामान्यवचनः। अत्रौचित्याद् धारणे वर्तते।

उपर्युक्त मंत्र से हमें चार वैज्ञानिक बातों का बोध होता है--

(१) सूर्य-किरणों को देशान्तर में पहुंचाने वाला त्रित नामक विशेष वायु है। इसी त्रित के माध्यम से प्रकाश हम तक पहुंचता है। आजकल के वैज्ञानिक इस माध्यम का नाम 'ईथर' रखते हैं। (२) यह त्रित तीनों स्थानों में, अर्थात् सर्वत्र फैला हुआ है। (३) चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेता है। (४) और, इसी प्रकार अन्य पृथिवीलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं, स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं॥ ५।१३॥

१५. कायमानः

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः। न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्त्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः॥ ३.९.२

कायमानश्चायमानः, कामयमान इति वा। वनानि त्वं यन्मातॄरपोऽगम उपशाम्यन्। न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्त्तनं, दूरे यत् सन्निह भवसि जायमानः।

देवता—अग्निः। (अग्ने! यत् त्वं वना, मातॄः अपः कायमानः अजगन्) हे विद्युत्! जो तुम काष्ठों और जलों को मातृस्थानीय देखते हुए या चाहते हुए, उन्हें शान्त होने की अवस्था में प्राप्त हुए हो, (ते तत् निवर्त्तनं न प्रमृषे) तुम्हारा वह निरन्तर माता के समीप निवास नहीं सहा जाता, (यत् दूरे सन् इह अभवः) जिससे तुम अदृश्य होते हुए भी पैदा होने पर यहां हमें प्राप्त हुए हो। अर्थात्, विद्युत् काष्ठों और जलों में अदृश्य रूप से वर्तमान है, उसे पैदा करने में मनुष्यों को आलस्य नहीं करना चाहिए प्रत्युत बिजुली

उत्पन्न करके उसे उपयोग में लाना चाहिए।

'अभवः' भू प्राप्तौ धातु का रूप है। कायमान—(क) चायमान—कायमान। 'चायृ' धातु दर्शनार्थक है। (ख) कामयमान—कायमान। यास्क ने अर्थानुसार 'उपशाम्यन्' तथा 'जायमानः' का अध्याहार करते हुए मंत्रार्थ को स्पष्ट किया है।

१६. लोधम् 'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः'। लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः।

'लोधम्' का संपूर्ण मंत्र और अर्थ इस प्रकार है—

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः। नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति ॥ ३. ५३. २३

देवता—इन्द्रः। (जनासः लोधं पशु मन्यमानाः न नयन्ति) जो क्षत्रिय लोग तपोलुब्ध ब्राह्मण को तत्त्वदर्शी समझते हुए युद्ध में नहीं पकड़ते, (वाजिना अवाजिनं न हासयन्ति) जो सबल के साथ निर्बल का मुकाबला नहीं करते, (अश्वात् पुरः गर्दभं न नयन्ति) और जो घोड़े के मुकाबले में गधे को नहीं ले जाते, (सायकस्य चिकिते) उन्हें राजा शस्त्रास्त्र के अधिकारी समझे। अर्थात् राजा को अपनी सेना में ऐसे सैनिक भर्ती करने चाहिऐं जो युद्ध में ब्राह्मणों पर कभी आक्रमण न करें, अपने से निर्बल के ऊपर हाथ न उठावें, और प्रबल शत्रु के मुकाबले में खड़े होकर अपनी हीनता न दिखावें।

लुब्ध—लुध—लोध। 'लुब्धम्' के भाव को स्पष्ट करने के लिये यास्क ने 'ऋषिम्' का अध्याहार किया है, अत एव 'तपोलुब्ध' अर्थ करना उचित जान पड़ता है।

१७. शीरम् 'शीरं पावकशोचिषम्'। पावकदीप्तिम्। अनुशायिनमिति वा, आशिनमिति वा॥ ६। १४॥

'शीरम्' का संपूर्ण मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है—

शीरं पावकशोचिषं ज्येष्ठो यो दमेष्वा। दीदाय दीर्घश्रुत्तमः॥ ८. १०२. ११

देवता—अग्निः। (शीरं पावकशोचिषं) हे मनुष्य! तू सब भूतों में अवस्थित या सर्वव्यापक, तथा पावक दीप्ति वाले अग्रणी परमेश्वर की स्तुति कर, (यः ज्येष्ठः, दीर्घश्रुत्तमः) जो सब से ज्येष्ठ, और सर्वज्ञ अग्नि (दमेषु आदीदाय) हृदय-मन्दिरों में प्रदीप्त होता है।

'स्तुहि' की अनुवृत्ति पिछले मंत्र से है। **शीर--(क)** अनुशायी, 'शीङ्' धातु से 'रक्' प्रत्यय (उणा० २. १३) (ख) आशी, 'अशूङ्' व्याप्तौ से 'ईरन्' प्रत्य (उणा० ४. ३०)। अशीर—शीर ॥ ६। १४॥

१८. विद्रधे
१९. द्रुपदे।

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके।
बभ्रू यामेषु शोभेते ॥ ४.३२. २३

कनीनके कन्यके। कन्या कमनीया भवति, क्वेयं नेतव्येति वा, कमनेनानीयत इति वा, कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः। कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः। विद्रधयोर्दारुपाद्योः। दारु दृणातेर्वा, द्रूणातेर्वा। तस्मादेव द्रु। नवे नवजाते, अर्भके अवृद्धे। ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते, एवं बभ्रू यामेषु शोभेते—बभ्र्वोरश्वयोः संस्तवः।

'कनीनकेव विद्रधे' मंत्र का संबन्ध इस से पहले (४. ३२. २२) मंत्र के साथ है, अतः उसका भी यहां उल्लेख किया जाता है। दोनों मंत्रों को मिला कर पाठक अर्थ को देखें।

प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्। माभ्यां गा अनुशिश्रथः॥

देवता—इन्द्रः। (विचक्षण गोषणः] हे दूरदर्शी तथा वेदवाणी को भजने हारे राजन्! [ते बभ्रू प्रशंसामि] मैं तेरी विद्या धर्म को धारण करने वाली, और अविद्या तथा अधर्म को हरने वाली अध्यापिका तथा उपदेशिका की प्रशंसा करता हूं। [आभ्यां नपात्] इन की शिक्षा द्वारा राष्ट्र को धर्म मार्ग से न पतित करने वाले राजन् ! [गाः मा अनुशिश्रथः] तू वैदिक-धर्म को शिथिल मत कर।

वे विद्या तथा धर्म की प्रचारिका अध्यापिका और उपदेशिका कैसी हों, इसकी आज्ञा अग्रिम मंत्र में है—

[बभ्रू] ये अध्यापिका तथा उपदेशिका [विद्रधे नवे द्रुपदे] घड़ी हुई नवीन पादुकाओं पर आरूढ़ [अर्भके कनीनके इव] छोटी लड़कियों की न्याईं [यामेषु शोभेते] यमों पर आरूढ़ हुई २ शोभायमान होती हैं।

इस मंत्र में गुरु शिष्य के आवश्यक कर्त्तव्य पर ध्यान दिलाया गया है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य-काल में लड़कियों को जूता नहीं पहनना चाहिए, प्रत्युत लकड़ी की खड़ाऊं पहनते हुए तपस्या का जीवन व्यतीत करना चाहिये, उसी

प्रकार अध्यापिका तथा उपदेशिका को भी चाहिए कि वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह—इन पांचों यमों पर भली प्रकार आरूढ़ रहें, इसी से उनकी शोभा है। लड़कियों की शिक्षा के बारे में यह मंत्र अत्यन्त स्पष्ट है, पाठक इस ओर विशेष ध्यान दें।

कनीनका = कन्यका = कन्या। **कन्या**—(क) 'कमु' धातु से 'यक्' प्रत्यय [उणा० ४. ११२]। गृहस्थ-धर्म के लिये यह वाञ्छनीय होती है।
(ख) क्व इयं नेतव्या—'क्व' पूर्वक 'णीञ्' धातु से 'यक्' प्रत्यय (उणा० ४. ११२)। इसे किस कुल में पहुंचाना चाहिए, इसका विवाह कहां करना चाहिए—ऐसा संबन्धी लोग विचारते हैं, अतः इसे कन्या कहा गया। (ग) कमनेन आनीयते—यह चाहने वाले वर से लायी जाती है, अर्थात् जिसने इसे अपने अनुकूल गुणादिकों को देखकर चुन लिया हो, वह उस से विवाह कर लेता है। 'कम्' तथा 'नी' धातुओं से 'यक्'। (घ) अथवा, दीप्त्यर्थक 'कन' धातु से 'यक्'। यह प्रायः करके बालकों की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य वाली होती है।

कन्याओं की खड़ाऊं के वाचक विद्रधे, नवे, द्रुपदे ये तीन पद सप्तमी के एकवचन हैं—ऐसा शाकपूणि मानता है। परन्तु यास्काचार्य इस से सहमत नहीं। पादुकाएं सदा दोनों पैरों में दो पहनी जाती हैं, अतः द्विवचन चाहिए, एकवचन नहीं। इस लिए 'विद्रधयोर्दारुपाद्वोः' लिखते हुए यास्क उन्हें सप्तमी के द्विवचनान्त मानते हैं। इस पक्ष में 'सुपां सुलुक्' से द्विवचन की जगह एकवचन होगया है।

विद्रु—विद्रुध—विद्रध। द्रुपाद्व—द्रुपद। द्रु = दारु = लकड़ी, पाद्व = पादुका, द्रुपद = खड़ाऊं। दारु—विदारणार्थक 'दॄ' धातु से 'उण्' प्रत्यय (उणा० १. ३)। अथवा, हिंसार्थक 'द्रू' धातु से 'कु' प्रत्यय और द्विद्भाव तथा 'आ' का आगम (उणा० १.३५)। लकड़ी काटी जाती है। द्रु—यह भी दारु का पर्यायवाची है, और इसी 'दॄ' या 'द्रू' धातु से सिद्ध होता है। 'दॄ' धातु से 'कु' प्रत्यय, या द्रू' धातु से 'कु' और डिद्भाव।

अभ्रोरश्वयोः संस्तवः—'कनीनकेव विद्रधे' मंत्र में अविद्या को हरने वाली आप्त अध्यापिका तथा उपदेशिका का इकट्ठा स्तवन है। पूर्वाचार्यों ने इस मंत्र का देवता 'इन्द्राश्वौ' माना है। अतएव यास्क ने उपर्युक्त शब्दों द्वारा उसी प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया है। 'इन्द्राश्वौ' का अर्थ है राजा के आप्त अध्यापक और उपदेशक।

२०. तुग्वनि इदं च मे अदादिदं च मेऽदादिति ऋषिः प्रसंख्यायाह—'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि'।

सुवास्तुर्नदी, तुग्व तीर्थं भवति तूर्णमेतदायन्ति ।

तुग्व ग्र=तीर्थ=नदीतट। 'तूर्ण' पूर्वक 'गम' धातु से 'वनिप्' प्रत्यय (पा० ३.२.७५) । नदी के द्वारा व्यापारी आदि लोग इस स्थान पर शीघ्र आजाते हैं।

'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' के प्रकरण को दर्शाने के लिये आचार्य कहते हैं कि उसने मुझे यह दिया, मुझे यह दिया—इस प्रकार प्रार्थी स्तोता गिन कर कहता है । इस प्रकरण को दर्शाने वाला मंत्र यह है—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् ।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः । ऋ०८.१६.३६

देवता—त्रसदस्योः दानस्तुतिः । (पौरुकुत्स्यः) अनेक प्रकार के शस्त्रों को धारण करने वाले, (मंहिष्ठः, अर्यः, सत्पतिः) प्रजा से पूजित, श्रेष्ठ सज्जनों के रक्षक (त्रसदस्युः) और दस्युओं को भयभीत करने हारे राजा ने (मे पञ्चाशतं वधूनां अदात्) मुझे ५० बहुएं प्रदान कीं।

उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधितुग्वनि ।
तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः॥८.१६.३७

(उत सुवास्त्वाः अधितुग्वनि) और नदी के तट पर रहने वाले (श्यावः, प्रणेता, भुवद्वसुः, दियानां पतिः) सूर्य-किरणों के समान तेजस्वीवर्ण, सब के उत्तम नायक, संपत्तिमान्, और दान के योग्य पदार्थों के मालिक राजा ने (मे प्रयियोः वयियोः) उन बहुओं के साथ मुझे प्रचुर धन, अनेक वस्त्र, (तिसृणां सप्ततीनां) और २१० गायें प्रदान कीं।

इन मंत्रों से बतलाया गया है कि पुरस्कार के रूप में सेनापति आदि उच्च राजकर्मचारी लोगों के पुत्रादि संबन्धियों के विवाह राजा राज्य की ओर से करावे । ऐसा करने से उत्साह बहुत बढ़ता है । इस भाव की पुष्टि स्वामी जी के ऋग्वेद भाष्य (१.१२६.३) में देखिए।

'पञ्चाशतं वधूनाम्' से एक मनुष्य की ५० स्त्रियें नहीं समझनी चाहिएं, प्रत्युत जैसे भाषा में 'बहु' शब्द का प्रयोग होता है उसी प्रकार किसी उच्च राजकर्मचारी के ५० पुत्रादि संबन्धियों की ५० स्त्रियें, जो उसकी पुत्रवधुएं होंगी, वे अभिप्रेत हैं।

राजा को अपनी राजधानी नदी के तट पर बनानी चाहिए—ऐसी वेद की आज्ञा है । इस की पुष्टि निरुक्त ९.६ में देखिए। वसने के योग्य उत्तम स्थान होने से नदी को 'सुवास्तु' कहा है । वास्तु=मकान बनाने की भूमि। प्रयायते प्रयास्यते यत् तत् प्रयियु वनम् । ऊयते यत तत् वयियु वस्त्रम् ।

२१. नंसन्ते

'कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः' । पुनर्नो नमन्ते मरुतः।

नंसन्ते = नमन्ते । यहां 'नंस' धातु नमनार्थक मानी गई है, अथवा 'नमन्ते' में 'सुट्' का आगम किया गया है । नम् स् अन्ते—नंसन्ते ।

ताँ आ रुद्रस्य मीढुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः ।
यत्सस्वर्ता जिहीडिरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम् ७.५८.५ ॥

देवता—मरुतः । (तान् रुद्रस्य मीढुषः) हम उन दुःखभञ्जक परमात्मा के सेवक (मरुतः आविवासे) मनुष्यों की सेवा करते हैं, (नः पुनः कुवित् नंसन्ते) जो सेवा करने पर हमारे प्रति अत्यन्त नम्र होते हैं, परन्तु (यत् सस्वर्ता) जो गुप्त पाप के द्वारा (यत् आविः) या जो प्रत्यक्ष पाप के द्वारा (जिहीडिरे) हमारा निरादर करते हैं, (तुराणां तत् एनः अव ईमहे) हम उन हिंसकों के उस पाप को दूर करते हैं । अर्थात्, जो मनुष्य परमेश्वर की आराधना करने वाले और नम्र हैं, उनका सत्कार करना चाहिये और उन्हें समीप बसाना चाहिए, परन्तु जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पाप करते हुए दूसरों का निरादर करते हैं, उन से दूर ही रहना योग्य है ।

'सस्वः' निपात निघण्टु में अन्तर्हित वाची पठित है, परन्तु उपर्युक्त मंत्र में 'आविः' के साथ 'सस्वर्ता' के पाठ से 'सस्वर्ता' 'सस्वः' समानार्थक हैं ।

२२. नसन्त
२३. आहनसः

नंसन्त इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

नसन्त—इसकी व्याख्या आगे (७. १७ ख०) करेंगे ।

'ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्' । ये ते मदा आहनवन्तो वचनवन्तस्तैरिन्द्रं चोदय दानाय मघम् ॥ ७ । १५ ॥

आहनसः = आहनवन्तः = वचनवन्तः । 'आङ्' पूर्वक 'हन' धातु से 'असुन्' और मत्वर्थीय का लोप । मेरे पास जितने भी भिन्न २ स्थलों के मुद्रित निरुक्त हैं, उन सब में **'आहननवन्तो वञ्चनवन्तः'** पाठ है, और निरुक्त के भाष्यकर्त्ता दुर्गाचार्य ने भी अपनी व्याख्या में 'आहननवन्तो वञ्चनवन्तः सम्मोहयितारः'—ऐसा लिखा है । परन्तु निघण्टु–टीकाकार देवराज यज्वा ने, जोकि दुर्गाचार्य से पूर्व-वर्ती है, अपनी टीका में लिखा है—'सूत्रे इदमाहतम्', 'ब्राह्मणे इदमाहतम्' इत्यादि प्रयोगदर्शनात् आहन्तिर्वचनार्थः । आहनवन्तो वचनवन्त इत्यर्थः । इस टीकाकार ने अपनी भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि मैं निघण्टु की व्याख्या अपनी तुच्छ बुद्धि से (स्वमनीषिकया) नहीं करूंगा, प्रत्युत यास्काचार्य की व्याख्यानुसार करूंगा । इसी प्रकार 'ये ते मदा आहनसः' मंत्र की व्याख्या करते

हुए सायणाचार्य ने लिखा है 'आहनसः आहनवन्तो वचनवन्त इति यास्कः स्तुतिमन्तः शब्दवन्तो वा'। अतः 'आहनवन्तो वचनवन्तः' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।

'आहनस्' का संबोधन में 'आहनः' रूप भिन्न अर्थ में भी आता है। (देखिए नि० ५.११)। 'आहनसः' का मंत्र यह है—

परि सोम प्रधन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभिवासयाशिरम्।
ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्॥९.७५.५

देवता—पवमानः सोमः। (सोम! स्वस्तये परिप्रधन्व) हे जगदुत्पादक प्रभो! हमारे कल्याण के लिये आप हमें सब दिशा उपदिशाओं में प्राप्त रहें। (नृभिः पुनानः) और, हम मनुष्यों से पाये हुए आप (आशिरं अभिवासय) हमें अपने आश्रय में निवास कराइए। (ये ते आहनसः विहायसः मदाः) और, जो आप के उपदेश देने हारे महान् आनन्द-प्रद वेद हैं, (तेभिः इन्द्रं मघं दातवे चोदय) उनके द्वारा हमारे आत्मा को धन-दान के लिये प्रेरित कीजिए।

'धवि' तथा पू—धातुएं निघण्टु में गत्यर्थक पठित हैं॥ ७।१५॥

२४. अद्मसत्

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि। अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥ १. १२४. ४

उपादर्शि शुन्ध्युवः, शुन्ध्युरादित्यो भवति शोधनात्, तस्यैव वक्षः भासोऽध्यूढम्। इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेव, अध्यूढं काये। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते, शोधनादेव, उदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते, शोधनादेव। नोधा ऋषिर्भवति, नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुते, एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अद्मसत्, अद्मान्नं भवति, अद्मसादिनीति वा, अद्मसानिनीति वा। ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम् स्वपतो बोधयन्ती शाश्वतिकतमाऽऽगात्पुनरेयुषीणां पुनरागामिनीनाम्।

अद्मसत्--(क) अद्मसादिनी = अन्न प्राप्त कराने हारी गृहपत्नी। 'अद्मन्' शब्द अन्नवाची है। अद्यते इति अद्म, 'अद' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय। अद्मानि सादयतीति अद्मसत्, 'अद्मन्' पूर्वक णिजन्त 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय और 'णिच्' का लोप। (ख) अद्मसानिनी = अन्न बांटने हारी गृहपत्नी। 'अद्मन्' पूर्वक 'षण' धातु से 'क्विप्' और न-लोप होने पर (पा० ८. २.७) 'तुक्' का आगम (पा० ६.१.७१)।

'उषो अदर्शि' मंत्र का देवता 'उषा' है। (शुन्ध्युवः वक्षः न उपादर्शि उ) आदित्य के प्रकाश की न्याईं यह उषा दिखलाई पड़ती है। (नोधाः इव प्रियाणि आविः अकृत) यह उषा स्तोता की न्याईं सब लोगों की प्रिय वस्तुओं को प्रकटित करती है। जिस प्रकार कोई स्तोता मनुष्य स्तुति के द्वारा अपनी प्रिय कामनाओं को आविष्कृत करता है, एवं यह उषा रूपों को प्रकटित करती है। (पुनरेयुषीणां शश्वत्तमा) पुनः २ आने वाली सूर्य-किरणों की संबन्धिनी यह उषा बार २ आने वाली है। (अद्मसत् न ससतो बोधयन्ती) और जैसे गृह-पत्नी सब से पूर्व उठ कर सोते हुए अन्य घर वालों को जगाती है, एवं यह उषा सोते हुए प्राणियों को जगाती हुई (आगात्) प्राप्त होती है।

शुन्ध्यु--(क) आदित्य। शोधनार्थक 'शुन्ध' धातु से 'युच्' प्रत्यय (उणा० ३. २०)। सूर्य अपनी किरणों द्वारा जगत् की शुद्धि करता है। (ख) पक्षी विशेष का नाम भी शुन्ध्यु है। यह पक्षी जल में रहता है, और उसे शुद्ध करता है। (ग) जल भी शोधक होने से शुन्ध्यु कहा जाता है। नोधस् = ऋषि। नवनं स्तवनं दधातीति नोधाः। 'नु' तथा 'धा' धातुओं से 'असि' प्रत्यय (उणा ४. २२६)। ससतः = स्वपतः।

२५. इष्मिणः

'ते वाशीमन्त इष्मिणः'। ईषणिन इति वा, एषणिन इति वा, अर्षणिन इति वा। वाशीति वाङ्नाम, वाश्यत इति सत्याः।

इष्मिन्—'ईष' गतौ, 'ईष' उञ्छे, 'इषु' इच्छायाम्, 'ईष' दर्शने—इन में से प्रत्येक धातु से 'मक्' प्रत्यय (उणा० १. १४५)। और पुनः इष्म (क्रिया, उञ्छ, इच्छा, दर्शन) से 'मतुप्' अर्थ में 'इनि' (पाणि० ५. २. ११५)।

श्रियसे कं भानुभिः संमिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्वभिः सुखादयः।
ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः॥१.८७.६

देवता-मरुतः। (सुखादयः कं श्रियसे भानुभिः संमिमिक्षिरे) सुख का भोग

करने हारे विद्वान् मनुष्य सुख-सेवन के लिये दीप्तिमान् विद्युत् अग्नि आदि पदार्थों से सुख-सेचन की कामना करते हैं, (ते रश्मिभिः) वे सूर्य-रश्मियों से सुख-सेचन की इच्छा करते हैं, (ते ऋक्वभिः) और वे अन्य प्रशस्त पदार्थों से सुख-सेचन की अभिलाषा करते हैं। (वाशीमन्तः) वे वाग्मी, (इष्मिणः) क्रियाशील आप्तकाम या तत्त्वदर्शी. (अभीरवः) और निर्भय लोग (मारुतस्य प्रियस्य धाम्नः विद्रे) मानुषिक प्रिय तेज का लाभ करते हैं।

सुखादि = सुख + अद। प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः—यहां कर्म में षष्ठी है। वाशी = वाणी, वाशयते शब्दयति अनया सा वाशी, 'वाश' धातु से 'इञ्' (उणा० ४.१२५) और पुनः 'ङीष्' (पाणि० ४.१.४५ वा)।

२६. वाहः

'शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाम जुष्टम्'। अभिवहनस्तुतिम् अभिषवण-प्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते। ऐन्द्री त्वेव शस्यते।

वाहस्—(क) सद्विद्या-प्रापक वेद। वहति प्रापयति सद्विद्यामिति वाहः। 'वह' धातु से 'असुन्' प्रत्यय और णिद्भाव (उणा० ४. १२८.)। (ख) वाहयति सुनोति यत् तत् वाहः सोमरसः। मनुष्य जिसको बहाता है, निचोड़ता है, उसे 'वाहस्' कहेंगे, अर्थात् सोमरस।

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाम जुष्टम्।
एदं बर्हिर्यजमानस्य सीदाथा च भूदुक्थमिन्द्राय शस्तम्॥ ३.५३.३

देवता—इन्द्रः। (अध्वर्यो! शंसाव) राजसूय-यज्ञ को करने हारे राजन्! आप और हम प्रजाजन, दोनों मिलकर परमात्मा की स्तुति करें। (मे प्रतिगृणीहि) राजन्! आप मुझ प्रजा-वर्ग को प्रोत्साहित कीजिए। (इन्द्राय जुष्टं वाहः कृणवाम) राजन्। आप और हम मिलकर ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए प्रिय वेद का प्रचार करें, या सोमादि उत्तमोत्तम रसों का निष्पादन करें। (यजमानस्य इदं बर्हिः आसीद) राजन्! राष्ट्र-यज्ञ में यजमान के इस सिंहासन पर बैठिए, (अथ च) और तत्पश्चात् (इन्द्राय उक्थं शस्तं भूत्) ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए सराहनीय तथा प्रशस्त राज्य हो—ऐसा यत्न कीजिए।

'मे प्रतिगृणीहि'—यहां पा० १.४.४१ से चतुर्थी विभक्ति है। स्तोता के प्रोत्साहन में 'प्रतिगर' प्रयुक्त होता है। एवं, 'मे प्रतिगृणीहि' का अर्थ होगा 'स्तुवन्तं मां प्रोत्साहय'।

(अभिवहनस्तुतिम्०) 'वाहस्' शब्द से कई आचार्य सद्विद्या-प्रापक स्तोम का कथन मानते हैं, और कई सोमरस के निष्पादन को कहने वाला

वर्णन समझते हैं। एवं 'वाहः' का कोई भी अर्थ किया जावे, दोनों पक्षों में यह ऋचा इन्द्र देवता वाली ही कही जाती है।

२७. परितक्म्या

परितक्म्येत्युपरिष्टाद व्याख्यास्यामः॥८॥१६

परितक्म्या—इस की व्याख्या आगे (११.१७) करेंगे॥८।१६॥

* तृतीय पाद *

२८. सुविते

सुविते—सुइते, सूते—सुगते, प्रजायामिति वा। 'सुविते मा धाः' इत्यपि निगमो भवति।

सुवित—(क) सुइत = सुगत = सुगति। सु इण् क्त, उवङ् आदेश। (ख) सूत = प्रजा = सन्तान। सूत—सुवित, छान्दस इडागम और उवङ् आदेश।

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाकराय शक्कन ओजिष्ठाय। अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषं सुविते मा धाः॥ यजु०५.५

हे जगदीश्वर! (आपतये) सब प्रकार से इन्द्रियों का स्वामी बनने के लिये, (परिपतये) शुद्ध मन [बनने] के लिये, (तनूनप्त्रे) शरीर-नाशक न होने के लिये (शाकराय) वैदिक ज्ञान के लिये, (शक्कने) शक्तिमान् बनने के लिये, (ओजिष्ठाय) और अधिक ओजस्वी होने के लिये (त्वा गृह्णामि) आप को ग्रहण करता हूं। (अनाधृष्टं असि) हे ब्रह्मन्! आप तिरस्कार से रहित रहे हो, (अनाधृष्यम्) और अब तथा आगे के लिये भी तिरस्कार से रहित हो, (देवानां ओजः) आप सूर्यादि देवों के ओज हो, (अनभिशस्ति) आप सब प्रकार से नाश-रहित हो, (अभिशस्तिपाः) आप सर्वत्र दुःखों से बचाने हारे हो, (अनभिशस्तेन्यम्) और आप हमें धर्म-मार्ग की ओर से जाने हारे हो, (अञ्जसा सत्यं उपगेषम्) अतः आपकी कृपा से शीघ्र सत्य को प्राप्त करूं। (मा सुविते धाः) कृपासिन्धो! मुझे सुगति में सुखमय लोक में धारण कीजिए, अथवा अपनी भक्त प्रजा को जहां रखते हो, उनमें मुझे भी रखिए।

शक्कर्यः ऋचः (निरुक्त १.८)। उपर्युक्त मंत्र—पाठ शुक्लयजुर्वेदीय काण्व-संहिता तथा कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में पाया जाता है। परन्तु सर्वप्रसिद्ध माध्यन्दिनीय संहिता में 'सुविते' की जगह 'स्विते' पाठ है।

२६. दयते दयतिरनेककर्मा । 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम' इत्युपदयाकर्मा । 'य एक इद्विदयते वसु' इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा । 'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि' इति दहतिकर्मा । दुर्वर्तुर्दर्वारः । 'विदद्वसुर्दयमानो विशत्रून्' इति हिंसाकर्मा । ''इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान् । अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्'' ॥ दयमान इति ।

'दय' धातु अनेकार्थक है—(१) रक्षा । (२) दान या विभाग । (३) दाह । (४) हिंसा । (५) गति । इनके क्रमशः मंत्र ये हैं—

(१) 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम' । इसकी व्याख्या आगे ९.३६ में देखो ।

(२) य एक इद्विदयते वसु मर्त्ताय दाशुषे ।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ऋ० १.८४. ७

देवता—इन्द्रः । (अङ्ग) हे प्रजाजनो ! (यः एकः इत् दाशुषे मर्त्ताय) जो एक रस रहने वाला अर्थात् स्थिर मनुष्य, कर देने हारे प्रजाजन को (वसु विदयते) धन देता है या बाँटता है, (ईशानः) जो शासन करने के योग्य है, (अप्रतिष्कुतः) और जो कभी धर्म-मार्ग से स्खलित होने वाला नहीं, (इन्द्रः) उसे राजा बनाना चाहिए ।

राजा बनाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वह कर के रूप में प्रजा से एकत्रित राज-आय को उसी प्रजा के लिए व्यय करे ।

(३) अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना ।
शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्नेर्दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि ॥ ६. ५.५

देवता—अग्निः । (अध गोषुयुधः वृष्णः सृजाना अशनिः न) और राज्य के लिए भली प्रकार युद्ध करने हारे वीर्यवान् राजा से फेंके हुए वज्र की न्याईं (जिह्वा प्रपापतीति) प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला का पात होता है । (क्षातिः शूरस्य प्रसितिः इव) पदार्थों को नष्ट करने हारी यह अग्नि-ज्वाला शूर पुरुष के बन्धन की न्याईं है । अर्थात् जिस प्रकार अपने से अधिक बलवान् शत्रु के बन्धन से छूटना कठिन है, एवं प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला से बचना दुष्कर है । (दुर्वर्तुः भीमः वनानि दयते) यह दुर्निवार्य प्रचण्ड अग्नि वनों को दग्ध कर देती है ।

'काली कराली च······ इति सप्त जिह्वाः'-मुण्डकोपनिषत् के इस वचन में 'जिह्वा' शब्द अग्नि-ज्वाला के लिए प्रयुक्त है।

(४) इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।

ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे ॥ ३.३४.१

देवता—इन्द्रः। (पूर्भित्, विदद्वसुः, शत्रून् विदयमानः इन्द्रः) शत्रु-नगरों का भेदन करने वाला, संपत्तिमान्, तथा शत्रुओं का हनन करने हारा राजा (अर्कैः दासं आ अतिरत्) वेदों के प्रकाश से पापान्धकार को दूर करे। (ब्रह्मजूतः) ब्राह्मणों से संगति करने वाला, (तन्वा वावृधानः) शरीर से पुष्टाङ्ग, (भूरिदात्रः) और प्रचुरदाता राजा, (उभे रोदसी आ अपृणात्) जिस प्रकार सूर्य द्युलोक तथा पृथिवीलोक-दोनों को पालता है, उसी प्रकार प्रजास्थ प्रत्येक स्त्री पुरुष की पालना करे।

(५) 'इमे सुताइन्दवः' वचन कहां का है, यह ज्ञात नहीं। उसका अर्थ इस प्रकार है—

(प्रातरित्वना सजोषसा अश्विनः) प्रातःकाल आने वाले और सब से समान प्रीति रखने वाले ब्रह्मचारी तथा सन्यासी अतिथियो ! (इमे इन्दवः सुताः) ये उत्तम पदार्थ तय्यार हैं, (तान् पिबतम्) उन्हें आप भक्षण या पान कीजिये। (अयं हि मां ऊतये, वन्दनाय) यह जन आप की प्रीति और बन्दना के लिये समुपस्थित है। (दोषा दयमानः वायसः) रात्रि के अन्तिम भाग में उड़ते हुये पक्षी या सूर्य-किरण ने (मां अबूबुधत्) मुझे जगाया है।

जब पक्षी उड़ने लगें या उषा निकल आवे, उस समय गृहस्थियों को अवश्य जाग जाना चाहिए। धार्मिक मनुष्य का अपन सेवन करना चाहिए—यह वैदिक सिद्धान्त है, अतः आतिथ्य-कर्त्ता आपने आप को धार्मिक सिद्ध करने के लिये 'मां वायसो दोषा' आदि वचन कहता है। वयः एव वायसः।

३०. नूचित्। ३१. नूच।

नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः, नूचेति च। 'अद्याचिन्नूचित्तदपो नदीनाम्' अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम्। 'नूच पुरा च सदनं रयीणाम्'। अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम्। रयिरिति धननाम, रातेर्दानकर्मणः ॥ १ । १७ ॥

'नूचित्' और 'नूच' ये निपात पुराना और नया-इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

अद्या चिन्नूचित्तदपो नदीनां यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र।
नि पर्वता अद्मसदो न सेदुस्त्वया दृढानि सुक्रतो रजांसि॥६.३०.३

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र ! यत् गातुं आभ्यः अरदः) हे परमेश्वर ! आपने जो कर्म इन नदियों के लिये लिख दिया है, (तत् अपः अद्याचित् नूचित् नदीनाम्) वह ही कर्म आज भी और पहले भी नदियों का विद्यमान है, (अद्मसदः न पर्वताः निषेदुः) और उसी तरह अन्नदाताओं की न्याईं जल को देने हारे मेघ नियमं में स्थित हैं। (सुक्रतो ! त्वया रजांसि दृढानि) एवं, हे सुकर्तः ! आप के द्वारा ये सब लोक लोकान्तर अपने २ कर्मों में स्थिर हैं।

नूच पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्।
सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ १.९६.७

देवता—द्रविणोदाः। (नूच पुरा च रयीणां सदनम्) अब और पहले सब प्रकार के धनों के भण्डार; (जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्) उत्पन्न और आगे उत्पन्न होने वाले जगत् के निवास–स्थान, (सतः च भवतः भूरेः च गोपां) सत् अर्थात् अनादि और उत्पन्न होने वाले प्रभूत जगत् के रक्षक, (अग्निं द्रविणोदां) ज्ञानस्वरूप, तथा धन और बल को देने हारे प्रभु को (देवाः धारयन्) विद्वान् लोग धारण करते हैं।

'भवतश्च भूरेः' से यह बात व्यक्त होती है कि अनादि पदार्थ बहुत थोड़े हैं, और उत्पन्न होने वाले पदार्थ अत्यधिक हैं। रयि=धन, दानार्थक 'रा' धातु से 'इ' (उणा० ४.१३९) ह्रस्व और 'युक्' का आगम। धन दान किया जाता है ॥ ११७॥

३२. दावने। ३३. अकूपारस्य

'विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने'। विद्याम तस्य ते वयमकुपरणस्य दानस्य। आदित्योऽप्यकूपार उच्यते, अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते, अकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते, अकूपारो न कूपमृच्छतीति। कच्छपः कच्छं पाति, कच्छेन पातीति वा, कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः खच्छः खच्छदः। अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव कमुदकं तेन छाद्यते।

दावने=दानस्य। 'दान' का ही रूपान्तर 'दावन' है, और 'दावने' में

सप्तमी विभक्ति षष्ठी के अर्थ में है। **अकूपार** = अकुपरण = सुपालक या प्रभूत। परणं पारः, 'पॄ' पालनपूरणयोः से 'घञ्' प्रत्यय। अकुत्सितं पारः पालनं पूरणं वा यस्य सः अकुपारः, अकुपार एव अकूपारः।

यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने॥ ५.३९.२

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र! यत् वरेण्यं द्युक्षं मन्यसे, तत् आभर) हे परमेश्वर! जिस धन को आप उत्कृष्ट और तेज का निवास कराने हारा समझते हैं, वह धन हमें प्रदान कीजिए, (वयं ते तस्य अकूपारस्य दावने विद्याम) जिस से हम आपके उस सुपालक या प्रभूत दान के अंश का लाभ करें।

(१) आदित्य को भी अकूपार कहते हैं, क्योंकि यह दूर पार वाला होता है—बहुत बड़ा होता है। अ+कु+पार। (२) समुद्र भी 'अकूपार' कहलाता है, क्योंकि यह महान् पार वाला होता है। (३) कछुए को भी 'अकूपार' कहा जाता है, क्योंकि यह सामान्यतया कूओं में नहीं जाता, प्रत्युत तालाव नदी आदिकों में रहता है। कूपं ऋच्छतीति कूपारः, न कूपारः अकूपारः। 'कूप' पूर्वक गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'अण्' प्रत्यय (पाणि०३.२.१)।

कच्छप—(क) कछुआ अपने मुख-संपुट को कटाह में छिपाकर उसकी रक्षा करता है। (ख) यह कटाह के द्वारा अपनी रक्षा करता है। (ग) अथवा यह मुख-सम्पुट से जल पीता है। 'कच्छ' शब्द मुख-संपुट और कटाह दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है, अतः 'कच्छ' पूर्वक 'पा' रक्षणे या 'पा' पाने धातु से 'क' प्रत्यय।

कच्छ = खच्छ = खच्छद। मुख-सम्पुट के ऊपर आकाश आच्छादित रहता है, और कटाह आकाश को आच्छादन करता है। खेन छाद्यते, खं छादयति इति वा खच्छः। 'ख' पूर्वक 'छद' धातु से 'ड' प्रत्यय। 'नदी-कच्छ' का वाचक 'कच्छ' शब्द भी इसी 'छद' धातु से निष्पन्न होता है। नदी-कच्छ 'क' अर्थात् जल से आच्छादित होता है।

३४. शिशिते **'शिशीते शृंगे रक्षसे विनिक्षे'। निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षणनाय। रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा।**

शिशीते—निश्यति—तीक्ष्ण करता है। 'शो' तनूकरणे धातु है, परन्तु यहां जुहोत्यादिगणी 'शी' धातु मानी गई है। 'शा' धातु ५.६९ में दानार्थक भी मानी है।

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥ ५. २. ९

देवता—अग्निः। (अग्निः बृहता ज्योतिषा विभाति) पूर्वोक्त नियम से उत्पन्न वह तेजस्वी पुत्र महान् ज्योति से देदीप्यमान होता है, (विश्वानि महित्वा आविष्कृणुते) अपने अनेक महत्त्वों को आविष्कृत करता है, (दुरेवाः अदेवीः मायाः प्रसहते) दुष्ट मार्ग में ले जाने वाली राक्षसी मायाओं का पराभव करता है, (रक्षसे विनिक्षे शृङ्गे निश्यति) और जैसे दुश्मनों को मारने के लिये पशु के सींग तीखे होते हैं, एवं राक्षसों के नाश के लिये अपने प्रभाव तथा प्रताप को तीक्ष्ण करता है।

विनिक्षे = विनिक्षणनाय, 'वि नि' पूर्वक हिंसार्थक 'क्षणु' धातु से 'तुमुन्' अर्थ में 'क्से' प्रत्यय और 'अण्' का लोप (पा० ३.४. ११)। 'रक्षसे' में द्वितीयार्थ में चतुर्थी है। **रक्षस्**—(क) इस से अपनी रक्षा करनी चाहिए। 'रक्ष' धातु से 'असुन्' प्रत्यय (उणा० ४. १८९)। (ख) यह एकान्त स्थान में दूसरे को मारता है। 'रहस्' पूर्वक 'क्षणु' धातु से 'असुन्' और डित्वात्, रहस्क्षस्—रक्षस्। (ग) यह रात्रि के समय राक्षस कर्म के लिए जाता है। 'रात्रि' पूर्वक गत्यर्थक 'नक्ष' धातु से 'असुन्'। रात्रि नक्षस्—रक्षस्। रोग-क्रिमियों को भी 'रक्षस्' इसी लिए कहा जाता है कि वे रात्रि के समय अपना प्रभाव अधिक दिखलाते हैं।

३५. सुतुकः

'अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः' सुतुकनः सुतुकनैरिति वा, सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा।

सुतुक—(क) सुतुकन = सुगतिमान्। निघण्टु में 'तक' धातु गत्यर्थक पढ़ी है, यास्काचार्य ने 'तुक' धातु भी गत्यर्थक मानी है। (ख) सुप्रजाः = उत्तम सन्तान वाला। 'तोक' शब्द अपत्यवाची है, उसी का रूपान्तर 'तुक' है।

स आवक्षि महि न आ च सत्सि दिवस्पृथिव्योररतिर्युवत्योः।
अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वै रभस्वद्भी रभस्वाँ एह गम्याः॥१०.३.७

देवता—अग्निः। (अग्निः सः नः महि आवक्षि) हे प्राज्ञ विद्वान्! वह आप हमें महान् तेज प्राप्त कराइए, (युवत्योः दिवस्पृथिव्योः अरतिः आसत्सि) और युवावस्थापन्न माता पिता के आर्य पुत्र आप हमारे समीप रहिए। (सुतुकेभिः अश्वैः सुतुकः) हे प्राज्ञ! शोभन गति वाली इन्द्रियों से सुगतिमान्, या इन्द्रियरूपी श्रेष्ठ—प्रजा से उत्तम प्रजा वाले, (रभस्वद्भिः रभस्वान्) और बलवान् इन्द्रियों से बलवान् आप (इह आगम्याः) यहां आइए।

३६. सुप्रायणाः 'सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्ताम्' । सुप्रगमनाः ॥ २ । १८ ॥

सुप्रायण = सुप्रगमन । सु + प्र + अयन = सुप्रायण, यहां उपसर्गस्यायतौ (पा० ८. २. १९) से उपसर्ग के 'र' को 'ल' नहीं हुआ, अन्यथा 'सुप्लायन' होता।

होता यक्षदोजो न वीर्यं सहो द्वार इन्द्रमवर्धयन् । सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधो द्वार इन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ यजु० २८.५

(होता ओजः न, वीर्यं, सहः यक्षत्) ज्ञानगृहीता विद्वान् आत्मिकबल, शारीरिक बल, और मानसिक बल को प्राप्त करे । (द्वारः इन्द्रं अवर्धयन्) ज्ञानेन्द्रियां उत्तम ज्ञान के द्वारा आत्मा को उपर्युक्त ओज से बढ़ाती हैं। (ऋतावृधः सुप्रायणाः द्वारः) सत्य ज्ञान को बढ़ाने हारी सुगतियुक्त इन्द्रियां (मीढुषे इन्द्राय) प्रेम को बरसाने हारे आत्मा के लिये (अस्मिन् यज्ञे) इस देह-यज्ञ में (विश्रयन्ताम्) आश्रित हों। (आज्यस्य व्यन्तु) वे देव इन्द्रियां प्राप्तव्य ज्ञान को प्राप्त करें। (होतः ! यज) हे ज्ञानगृहीता विद्वान् ! इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त कर।

इस मंत्र में 'न' समुच्चयार्थक माना गया है। 'पुरमेकादशद्वारम्' (कठ ५.५.१) और 'नवद्वारे पुरे देही' (गीता ५.१३) आदि स्थलों में 'द्वार' शब्द इन्द्रियार्थक माना है। 'द्वार' का ही रूपान्तर 'द्वार्' है ॥२।१८॥

३७. अप्रायुवः 'देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे' । देवा नो यथा सदा वर्द्धनाय स्युः । अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तो रक्षितारश्चाहन्यहनि ।

अप्रायुवः = अप्रमाद्यन्तः = प्रमादी न होते हुए । प्रकर्षेण एति गच्छति चञ्चलो भवतीति प्रायुः, 'प्र' पूर्वक 'इण्' धातु से 'उण्' प्रत्यय (उणा० १.२) र प्रायुः अप्रायुः । 'अप्रायु' का ही प्रथमा के बहुवचन में 'उवङ्' आदेश होने पर (पा० ६.४.७७ वा०) 'अप्रायुवः' रूप है।

देवराज यज्वा ने 'अप्रायुव' शब्द मानकर 'अप्रायुवः' में बहुवचन की जगह एकवचन का व्यत्यय माना है। परन्तु उनका यह मत ठीक नहीं, क्योंकि ऋ० ८.२४.१८ में 'अप्रायुभिः' पाठ आता है। अतः 'अप्रायु' शब्द मानना ही उचित है, 'अप्रायुव' नहीं।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ १.८९.१

देवता—विश्वेदेवाः। (भद्राः, क्रतवः)भद्र, कर्मशील, (विश्वतः अदब्धासः) सर्वत्र कष्टरहित, (अपरीतासः) अविपरीत अर्थात् धर्मानुकूल, (उद्भिदः) और कायिक वाचिक तथा मानसिक—तीनों प्रकार के पापों को उत्तमतया भेदन करने हारे विद्वान् लोग (नः आयन्तु) हमें प्राप्त हों, (यथा देवाः सदम् इत् नः वृधे असन्) जिससे वे देव सदैव हमारी उन्नति के लिये हों, (अप्रायुवः दिवे दिवे रक्षितारः) और प्रमाद-रहित होते हुए प्रतिदिन हमारे रक्षक हों। सदम् = सदा।

३८. च्यवनः च्यवन ऋषिर्भवति, च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति। 'युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः'। युवां च्यवनं सनयं पुराणं यथा रथं पुनर्युवानं चरणाय ततक्षथुः। युवा प्रयौति कर्माणि। तक्षतिः करोतिकर्मा।

च्यवन = मंत्रद्रष्टा, यह वेदों का जनाने हारा या वेदों को प्राप्त कराने हारा होता है। णिजन्त 'च्युङ्' गतौ धातु से 'युच्' प्रत्यय (उणा० २.७४)। 'च्यवन' के 'च्यवानम्' इत्यादि रूप में भी वेदमंत्र हैं। अर्थात् च्यवन और च्यवान दोनों समानार्थक हैं।

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।
निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या ॥१०. ३६.४

देवता—अश्विनौ। हे राज प्रजा पुरुषो! (युवं सनयं च्यवानं) तुम पुराने वृद्ध उपदेशक को (चरथाय यथा रथं पुनः युवानं तक्षथुः) विचरने के लिये रथ की न्याईं फिर युवा (ताज़ा = Fresh) करो। अर्थात् जैसे काम लेते २ पुराने रथ को सुधार कर फिर नया बना लिया जाता है, एवं उपदेशकों को समय २ पर आराम आदि देकर उनकी क्षीण शक्ति को पुनः प्रबुद्ध करो। (तौग्र्यं अद्भ्यः परि निरूहथुः) वैश्यवर्ग को व्यापार के लिए समुद्र के पार पहुंचावो। (वां ता विश्वा इत्) तुम दोनों—राजा तथा प्रजा—को ये सभी कार्य (सवनेषु प्रवाच्या) राष्ट्र के सब स्थानों में कहने चाहियें-सर्वत्र प्रचारित करने चाहिएं।

युवं = युवां। सनय = पुराण। चरथ = चरण। युवन्—'यु' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय (उणा० १.१५६)। तरुण या सामर्थ्यवान् मनुष्य एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार कर्मों को मिलाता है, अर्थात् लगातार अनेक

कर्म करता है। जिस पुरुष में कार्यक्षमता अधिक पायी जावे, उसे 'तुग्र्य' के नाम से कहा गया है। यद्यपि 'तन' धातु धातु पाठ में तनूकरणार्थक पढ़ी है परन्तु यहां सामान्यतः करणार्थक मानी गई है। तौग्र्य—पालनार्थक 'तुजि' धातु से 'रक्' और न-लोप (उणा० २. १७)। तुग्रेषु पालकेषु साधुः तुग्र्यः, स एव तौग्र्यः। 'आपः' का अर्थ सायण ने 'समुद्र' किया है, सदन = स्थान (निरु० ५.७४)।

३६. रजः। रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते, उदकं रज उच्यते, लोका रजांस्युच्यन्ते, असृगहनी रजसी उच्येते। 'रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यवः' इत्यपि निगमो भवति।

रजस्—अनुरञ्जनार्थक 'रञ्ज' या निघण्टु-पठित गत्यर्थक 'रज' धातु से 'असुन्' प्रत्यय (उणा० ४. २१७)। ज्योति, जल, पृथिव्यादि लोक, रुधिर, तथा अहोरात्र—ये सब 'रजस्' कहे जाते हैं। ये सब प्राणियों का अनुरञ्जन करते हैं, और इन में गति भी विद्यमान है।

रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु। रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यवो दिवः सम्राजा पयसा न उक्षतम् ॥ ५.६३.५

देवता—मित्रावरुणौ। (मित्रावरुणा मरुतः!) हे मित्र वरुण वायुओ! हिरण्य-समान सूर्यरश्मियें (शुभे) जल प्राप्ति के लिए (शूरः न सुखं रथं युञ्जते) शूर कारीगर की न्याईं तुम्हें सुखकारी मेघ-रथ के रूप में युक्त करती हैं। अर्थात् जिस प्रकार निपुण कारीगर पृथक् २ विभागों में विभक्त रथ को जोड़ देता है, एवं सूर्य-किरणें मित्र वरुण वायुओं को जोड़ कर मेघ का निर्माण करती हैं। (गविष्टिषु) उन सूर्य-रश्मियों के मेल होने पर (चित्रा रजांसि तन्यवः विचरन्ति) उत्तम जल और विद्युतियें इतस्ततः विचरती हैं। (सम्राजा) एवं, जल के रूप में दृश्यमान मित्र वरुण वायुओ! (दिवः पयसा) अन्तरिक्ष के जल के द्वारा (नः उक्षतम्) हमें सींचते हो।

यहां 'रजस्' शब्द जल वाची है। निघण्टु में 'मरुत्' हिरण्यवाची, और 'शुभ' उदक वाची पठित है। गो = सूर्यरश्मि। इष्टि = संचार, मेल—'इष' धातु गत्यर्थक है। मित्र वरुण वायुओं से जल की उत्पत्ति होती है—इस की पुष्टि में निरु० ५. ४७ देखिए।

४०. हरः। हरो हरतेः। ज्योतिर्हर उच्यते, उदकं हर उच्यते, लोका हरांस्युच्यन्ते, असृगहनी हरसी उच्येते। 'प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि' इत्यपि निगमो भवति।

हरस्—'हृ' धातु से 'असुन्' प्रत्यय। (क) ज्योति—यह अन्धकार को दूर करती है। (ख) जल—प्राणि जीवन के लिए इसका आहरण करते हैं। (ग) पृथिव्यादि लोक—इन का संहार किया जाता है। (घ) रुधिर—यह क्षीणता को हरता है। (ङ) दिन—यह अन्धकार को हटाता है। (च) रात्रि—यह प्राणियों की थकावट को दूर करती है।

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति।
यातुधानस्य रक्षसो बलं विरुज वीर्यम्॥ १०. ८७. २५

देवता—रक्षोहा अग्निः। (अग्ने! विश्वतः प्रति) राजन्! सब दिशाओं में (यातुधानस्य हरः हरसा प्रतिशृणीहि) आततायी के तेज को अपने तेज से दबा, (रक्षसः बलं वीर्यं विरुज) और पापी राक्षस के बल पराक्रम को भग्न कर।

यहां 'हरस्' शब्द ज्योति-वाचक है।

४१. जुहुरे

'जुहुरे विचितयन्तः। जुह्विरे विचेतयमानाः।

जुहुरे=जुह्विरे। इरयो रे (पा०६.४.७६) से 'इरे' की जगह 'रे' आदेश। यह ही नियम अन्य स्थलों में भी लागू होता है, जैसे दध्रे (दधिरे)।

जुहुरे विचितयन्तो ऽनिमिषं नृम्णं पान्ति।
आदृढां पुरं विविशुः॥ ५. १९.२

देवता—अग्निः। (विचितयन्तः जुहुरे) जो मनुष्य अग्रणी परमेश्वर का विशेष रूप से चिन्तन करते हुए आत्मत्याग करते हैं, (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) और जो प्रतिक्षण योगबल की रक्षा करते हैं, (दृढां पुरं आविविशुः) वे लोग ब्रह्मपुरी में प्रवेश करते हैं।

४२. व्यन्तः

'व्यन्तः' इत्येषो ऽनेककर्मा। 'पदं देवस्य नमसा व्यन्तः' इति पश्यतिकर्मा।। 'वीहि शूर पुरोडाशम्' इति खादतिकर्मा। 'वीतं पातं पयस उस्रियायाः'। अश्नीतं पिबतं पयस उस्रियायाः। उस्रियेति गोनाम, उत्स्राविणो ऽस्यां भोगाः। उस्रेति च।

'व्यन्तः' इत्यादि स्थलों में 'वी' धातु अनेकार्थक है—

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम्।
नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ॥ ६. १. ४

देवता—अग्निः। (देवस्य अमृक्तं पदं नमसा व्यन्तः) जो पूज्य अग्नि के अमृत पद को भक्तिभाव से देखते हुए (श्रवस्यवः श्रवः आपन्) सर्व-प्रसिद्ध परमात्मा की इच्छा रखने वाले उस प्रख्यात आत्मा को प्राप्त करते हैं, (यज्ञियानि नामानि चित् दधिरे) और उस प्रभु के शुद्ध बुद्ध मुक्त मित्र वरुण आदि प्रशंसनीय नामों को धारण करते हैं, (ते भद्रायां सन्दृष्टौ रणयन्त) वे भद्र संदर्शन में रमण करते हैं। उन्हें सदा भद्र ही भद्र दृष्टिगोचर होता है, अभद्र के दर्शन नहीं होते।

यहां 'वी' धातु दर्शनार्थक है। सायणाचार्य ने ३.६.४,३.११.६ आदि स्थलों में 'अमृक्त' का अर्थ 'अहिंसित' किया है।

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आबर्हिः सीद।
वीहि शूर पुरोडाशम्॥ ३. ४१. ३

देवता—इन्द्रः। हे अन्नदातः वैश्य! (इमाः ब्रह्मवाहः क्रियन्ते) ये अन्न संपादन करने वाली क्रियायें की जाती हैं। (शूर! बर्हिः ब्रह्म आसीद) हे वीरपुरुष! उन क्रियाओं से प्रभूत अन्न को प्राप्त कर, (पुरोडाशं वीहि) और उस पुरोडाश अन्न को खा।

यहां 'वी' धातु खादनार्थक है। 'इरां ददाति' इस निर्वचन से 'इन्द्र' का अर्थ अन्नदाता है। 'ब्रह्म' शब्द अन्नवाची निघण्टु-पठित है। अन्न को 'पुरोडाश' इस लिये कहा गया है कि (पुरः दाश्यते दीयते) सामने आये हुए मनुष्य को बिना दिये एकाकी कभी नहीं खाना चाहिए, अत एव वेद ने 'केवलाघो भवति केवलादी' कहा है।

उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो गाव आपश्च पीपयन्त देवीः।
उतो नो अस्य पूर्व्यः पतिर्दन्वीतं पातं पयस उस्रियायाः॥ १.१५३.४

देवता—मित्रावरुणौ। हे उपदेशक तथा अध्यापक! (वां मद्यासु विक्षु) आपकी सुखी प्रजा में (अन्धः, गावः, देवीः आपः च पीपयन्त) अन्न, गायें और उत्तम जल निरन्तर वृद्धि करें। (उतो अस्य पूर्व्यः पतिः नः दन्) और इस जगत् का मुख्य मालिक उन पदार्थों को हमें प्रदान करने हारा हो। हे उपदेशक तथा अध्यापक! (उस्रियायाः पयसः) आप गो-दुग्ध के खीर दही मलाई रबड़ी आदि पायस पदार्थों का अशन कीजिए, और गाय के दूध का पान कीजिए।

यहां 'वी' धातु अशनार्थक है। खादन और अशन में भेद यह है कि रोटी आदि दोनों समय के मुख्य भोजन के लिये तो 'खादन' का प्रयोग होता है, परन्तु न अतिद्रव और न अतिकठिन मध्यवर्ती भोजन को 'अशन'

कहा जाता है, जैसे 'प्रातराश' और मध्याह्नाश या 'सायमाश' का अशन में प्रयोग है।

उस्त्रिया और उस्रा—ये दोनों गाय-वाचक हैं। गाय में अनेक भोग उत्पन्न होते हैं, अतः इसे उस्त्रिया या उस्रा कहा गया है। 'उत्' पूर्वक गत्यर्थक 'स्रु' धातु से 'ड' और 'त्' का लोप, पुनः 'उस्र' से स्वार्थ में 'घ' प्रत्यय।

४३. क्राणा — 'त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः। गोभिः क्राणा अनूषत'॥

गोभिः कुर्वाणा अस्तोषत।

क्राणाः—कुर्वाणाः। 'कृ' धातु से 'शानच्' और विकरण 'उ' का लुक्, विकरण के लुक् होने से ककार के 'अ' को भी 'अत उत्सार्वधातुके' (पा०६.४.११०) से 'उ' न हुआ। 'त्वामिन्द्र मतिभिः' कहां का वचन है, यह ज्ञात नहीं। ऋग्वेद तथा सामवेद में 'क्राणाः' के अनेक प्रयोग होते हुए भी आचार्य ने जो अन्यत्र स्थल का उदाहरण दिया है, यह विचारणीय है।

(इन्द्र ! सुनीथासः वसूयवः) हे परमेश्वर ! सुनीति पर चलने हारे विद्वान् लोग सब के निवासक आपकी कामना करते हुए (सुते मतिभिः गोभिः क्राणाः त्वां अनूषत) संसार में ज्ञान पूर्वक वेदों से प्रतिपादित कर्मों को करते हुए आपकी स्तुति करते हैं।

४४. वाशी — 'आ तु षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः'। आसिञ्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य। हरिः सोमो हरितवर्णः। अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव। वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः—वाशीभिरश्ममयीभिरितिवा, वाग्भिरिति वा।

वाशी—(क) छुरा, चाकू, कुल्हाड़ी, बसूला आदि काटने के यन्त्र। छेदनार्थक चुरादिगणी 'वस' धातु से 'इञ्' (उणा०४.१२५) और 'ङीप्'।
(ख) वाणी। 'वाशृ शब्दे धातु से 'इञ्' और 'ङीप्'।

आ तु षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।
परिष्वजध्वं दशकक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त॥१०.१०१.१०

देवता—विश्वेदेवाः। (ईम् हरिं द्रोः उपस्थे आसिञ्च) हे विद्वानो ! इस सोम को लकड़ी के वर्तन में सिञ्चित करो, (अश्मन्मयीभिः वाशीभिः तक्षत) और

पाषाण-निर्मित शस्त्रों, या आप्त वाणियों से संस्कृत करो। (दशकक्ष्याभिः परिष्वजध्वम्) तथा दस विभागों से युक्त इस सोम का ग्रहण करो, (उभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त) और जरा तथा मृत्यु—इन दोनों व्याधि-भारों के प्रति उन्हें शरीर में से निकाल कर ले जाने वाले सोम को उपयुक्त करो!

सोम ओषधि के महत्त्व को समझने के लिये सुश्रुत के चिकित्सा स्थानवर्ती २९ वें अध्याय का अनुशीलन कीजिए। उस में सोम के २४ भेद-दर्शाये हैं। परन्तु इस मंत्र में संग्रहरूप से १० विभाग बतलाये गये हैं। सुश्रुत में 'जरामृत्युविनाशाय' कहते हुए सोम को बुढ़ापे तथा मृत्यु का विनाशक माना है।

द्रु = द्रुममय = काष्ठनिर्मित पात्र। हरित वर्ण का होने से सोम को हरि कहा गया। और तोते को भी इसी कारण से 'हरि' कहते हैं। अश्मन्मयी—अश्ममयी। 'अश्मन्' के अर्थ पत्थर और आप्त—दोनों होते हैं, अतः 'वाशी' के अर्थ-भेद से ये दोनों अर्थ उपर्युक्त मंत्र में संगत हैं। इम् = एनम्। (सायण)

४५. विषुणः 'स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः'। स उत्सहतां, यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य। मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः। शिश्नं श्नथतेः। अपिगुर्ऋतं नः, सत्यं वा यज्ञं वा॥ ३।१६॥

'विषम' का ही रूपान्तर विषुण है—

यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः॥ ७.२१.५

देवता—इन्द्रः। (शविष्ठ!) हे बलवत्तम राजन्! (नः ऋतं न यातवः जूजुवुः) हमारे यज्ञ में या सत्यधर्म-स्थान में न विघ्नकारी राक्षस आवें, (न वेद्याभिः वन्दनाः) नाही जी हुजूर हांजी हांजी आदि से खुशामद करने वाले आवें (शिश्नदेवाः मा अपिगुः) और नाही कामीजन हमारे यज्ञ में आवें। (सः शर्धत्) प्रत्युत वह मनुष्य आने का साहस करे, (अर्यः) जो इन्द्रियों का स्वामी हो, (विषुणस्य जन्तोः) और कुटिल मनुष्य के निग्रह करने में समर्थ हो।

वेद्या—'विद' सत्तायाम्। वेदयति अनया सा वेद्या। जिस वाणी से हां हां के द्वारा अस्तित्व को कहा जाता है, वह वेद्या है। शर्धत् = उत्सहताम्

शिश्न = उपस्थेन्द्रिय । निघण्टु–पठित वधार्थक यङ्लुगन्त 'श्नथ' धातु से 'ड' प्रत्यय । 'यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्' से वध के भाव को समझ सकते हैं। शिश्न से क्रीडा करने वालों को 'शिश्नदेव' कहा जाता है ॥ ३।१९॥

४६. जामि

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि । उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ १०.१०.१०

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि । जाम्यतिरेकनाम, बालिशस्य वा, समानजातीयस्य वोपजनः । उपधेहि वृषभाय बाहुम् । अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् ॥ ४ । २० ॥

'जामि' शब्द वेद में तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त हुआ है।

जामि—(क) अतिरेक का नाम है। (ख) मूर्ख का वाचक है। (ग) और समानजातीय, अर्थात् सजाति, या बन्धु का वाचक है। एकस्मिन्कुले जायते इति जा—'जनी' धातु से 'ड' प्रत्यय (पा० ३. २. १०१)। स्त्रीलिङ्ग 'जा' निघण्टु में अपत्यवाची पठित है। 'जा' में 'मि' का उपजन, अर्थात् आगम करने से 'जामि' की सिद्धि होती है।

दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में 'असमानजातीयस्य वा उपजनः' ऐसा पदच्छेद माना है। परन्तु यह ठीक नहीं। एक तो देवराज यज्वा ने 'अतिरेकबालिशसमानजातीयानां वाचको जामिशब्दः·········समानजातीयो भगिनीलक्षणोऽर्थः' लिखते हुए 'समानजातीय' पाठ ही माना है। और दूसरा, 'असमानजातीय' पाठ संगत भी नहीं, क्योंकि सायणादि भाष्यकारों ने अनेक स्थलों पर 'समानजातीय' के आधार पर ही 'जामि' का ज्ञाति या बन्धु अर्थ दिया है।

'जामि' के भिन्न २ भावों को स्पष्ट करने के लिए सायणाचार्य के ऋग्वेद भाष्य में से कुछ स्थल यहां उद्धृत करता हूं—

(१) अतिरेक—(क) जामि अतिरेकनाम, अतिरिक्तं अहितं प्रयोजनरहितम् (८. ६. ३)। जमयति निर्गमयति एनमिति जामि, गत्यर्थक णिजन्त 'जम' धातु से 'इण्' प्रत्यय (उणा० ४. १३०)। (ख) जामि प्रवृद्धं सर्वमतिरिच्य वर्तमानम् (८.६१.४)। आगे गया हुआ होने से 'प्रवृद्ध' को जामि कहा। (ग) 'जामि' शब्द

पुनरुक्ति के लिए यास्क ने (१० अ० १६ ख०) प्रयुक्त किया है । जमति पुनः पुनः आगच्छतीति जामि ।

(२) **बालिश**—अजामि दोषरहितम् (५. १९. ४) । यहां 'जामि' शब्द मूर्खता के भाव को प्रकट करता है, और उसी का निषेध 'अजामि' से बतलाया गया है ।

(३) **समानजातीय**—(क) जामयो ज्ञातिरूपाः सन्निकृष्टा ये शत्रवः उतापि च अजामयः दूर देशे स्थिताः ये शत्रवः (६. २५. ३) । (ख) जामयो अंगुलयः एकस्मात्पाणेरुत्पन्नत्वात्परस्परं बन्धुभूताः (९. ६५. १)। (ग) जामिः बन्धुः (१. ७५.४) । (घ) जामि जामित्वं भगिनीत्वम् (३. ५४. ९) ।
(ङ) जामि योग्यमनुरूपम् (१०. ८.७) । (च) जमिमासन्नम् (३.२.९) ।

'आ घा ता गच्छान्' मंत्र की व्याख्या उत्तरार्ध की समाप्ति पर 'यमयमी-सूक्त' में देखिए ॥ ४ । २० ॥

४७. पिता

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १. १६४. ३३

द्यौर्मे पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता । नाभिरत्र, बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम् । बन्धुः संबन्धनात् । नाभिः सन्नहनात् । नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः, एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते, संबन्धव इति च । ज्ञातिः संज्ञानात् । उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः—उत्तान उत्तातान ऊर्ध्वतानो वा । तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ।

(द्यौः मे पिता जनिता) सूर्य मेरा रक्षक या पालक और उत्पादक है । (इयं बन्धुः मही पृथिवी मे माता) यह अन्न द्वारा बांधने हारी महान् पृथिवी मेरी माता है (अत्र नाभिः) इस पृथिवी में नाभि है । अर्थात्, जिस प्रकार माता की नाभि से संबद्ध 'रसहरा' नाड़ी गर्भ की नाभि से जुड़ी हुई होती है, और उस रसहरा के द्वारा गर्भस्थ शिशु का पोषण होता है, उसी प्रकार पृथिवीस्थ अन्नादि रसों से मनुष्य की पुष्टि होती है । (उत्तानयोः चम्वोः अन्तः योनिः) परस्पर में तने हुये या दूर तक फैले हुये इन सूर्य तथा पृथिवी में से जो योनि, अर्थात् पृथिवी है, (अत्र

दुहितुः गर्भं आधात्) उस दूरस्थित पृथिवी में सूर्य वृष्टि के द्वारा गर्भ को स्थापित करता है।

सूर्य तथा पृथिवी के द्वारा ही संपूर्ण ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। और 'ओषधिभ्यो ऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः' के अनुसार प्राणि मात्र के उत्पादक ये ही दोनों हैं। सूर्य रूपी पिता भूमिरूपी माता में वृष्टि रूपी वीर्य का सेचन करता है, जिससे ओषध्यादिक पैदा होते हैं।

नैरुक्त-मत के अनुसार मंत्र का अर्थ दिया जा चुका। परन्तु परिव्राजक या आत्मवित् संप्रदाय के लोग इस मंत्र को सीधा मनुष्यों की उत्पत्ति की ओर लगाते हैं। इस पक्ष में यहां लुप्तोपमा होगी। जिस प्रकार सूर्य पृथिवी में गर्भ स्थापित करता है, उसी प्रकार पुरुष स्त्री में गर्भ को निहित करता है। **यहां पिता के प्रसङ्ग से 'दुहिता' का अर्थ माता है।**

पितृ—'पा' या 'पाल' धातु से 'तृच्' प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध किया गया है (उणा० २.९५)। इसी प्रकार दोनों धातुओं से 'डति' प्रत्यय (उणा० ४.५७) करने पर **पति** की सिद्धि होती है। **'बन्धु'**—'बन्ध' धातु से 'उ' (उणा० १.१०)। **नाभि**—बन्धनार्थक 'नह' धातु से 'इञ्' प्रत्यय और 'ह' को 'भ' (उणा० ४. १२६)। माता की नाभि-स्थित 'रसहरा' नाड़ी से गर्भस्थ शिशु का पोषण होने के कारण नाभि से बंधे हुए गर्भ उत्पन्न होते हैं, ऐसा तत्ववेत्ता कहते हैं। और इसी से ज्ञातियों को 'सनाभि' अर्थात् समान नाभि वाले, और सम्बन्धु कहते हैं। सुश्रुत में लिखा है 'मातुस्तु खलु रसहरायां नाड्यां गर्भनाड़ी प्रतिबद्धा'। और यह रसहरा नाड़ी माता की नाभि से संबद्ध है। **ज्ञाति**—'ज्ञा' धातु से 'क्तिच्'। बन्धुओं का सारा हाल ज्ञात रहता है, और उनके गुप्त भेद भी पता रहते हैं। इस प्रकार उन से सम्यक्तया जानकारी होने के कारण उन्हें ज्ञाति कहा जाता है। **उत्तान**—(क) परस्पर में तने हुए। उत्तान—उत्तान। 'उत्तान' शब्द उत्तन् और तान के मेल से बना हुआ है। 'उत्तन्' का अर्थ है तनना। (ख) ऊर्ध्वतान। उत् = ऊर्ध्व। दुहिता = पृथिवी, क्योंकि यह सूर्य से बहुत दूर स्थित है। पर्जन्य = सूर्य।

४८. शंयोः

'अथा नः शंयोररपो दधात'। रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणाम् यावनं च भयानाम्। अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते-'तच्छंयो-

शंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये' इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये ॥ ५ । २१ ॥

शंयोस्—इसमें 'शम्' और 'योस्'—ये दो पद हैं । 'शम्' का अर्थ है रोगों का शमन, और 'योस्' का भयों का दूरीकरण । 'शमु' धातु से 'क्विप्' करने पर 'शम्' और पृथग्भावार्थक 'यु' धातु से 'डोसि' प्रत्यय (उणा०२.६९) करने पर 'योस्' की सिद्धि होती है ।

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ १०.२५.४

देवता—पितरः । (बर्हिषदः पितरः !) उन्नति करने हारे पितृजनो ! (ऊती अर्वाक् आगत) रक्षा के लिये हमारी ओर आइए । (इमा हव्या वः चकृम) हमने ये भेंटें आपके लिये तय्यार की हुई हैं, (जुषध्वम्) उनका आप सेवन कीजिए । (ते शन्तमेन अवसा) वे आप अत्यन्त शान्ति देने हारी रक्षा के साथ हमारे पास आइए, (अथ नः शंयोः, अरपः दधात) और हमारे में रोगों के शमन तथा भयों के दूरीकरण को, और निष्पापत्व को धारण कीजिए ।

रपस् और रिप्र—ये दोनों शब्द पाप के वाचक हैं ।

बृहस्पति परमेश्वर के भक्त सदाचारी मनुष्य को **'शंयु'** कहते हैं । शान्तिवाचक 'शम्' शब्द से 'मतुप्' अर्थ में 'युस्' प्रत्यय (पा०५.२.१३८) । अथवा 'वसुयु' 'अध्वर्यु' की न्याई कामना अर्थ में 'युच्' प्रत्यय । एवं, 'शंयु' का अर्थ हुआ शान्ति वाला, सुखी, या शान्ति की कामना करने हारा । यह शान्ति या सुख परमेश्वर की भक्ति द्वारा सदाचार—प्राप्ति से ही लब्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं । आपटे ने 'बार्हस्पत्य' का अर्थ Morality किया है ।

यास्काचार्य ने 'शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते' इसलिये लिखा कि 'शंयु' के उदाहरण में जो 'तच्छंयोरावृणीमहे' मंत्र दिया है, उसका प्रकरणानुसार संबन्ध 'बार्हस्पत्य' के साथ है । कई ग्रन्थों में 'अथा नः शंयोररपो दधात' के पूर्व 'शंयुः सुखंयुः'—ऐसा पाठ मिलता है । उस स्थल पर तो यह पाठ असंगत है, अतः संभवतः 'अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते' के आगे 'शंयुः सुखंयुः' पाठ हो । ऐसा होने से 'शंयुर्बार्हस्पत्यः' का भाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये दैवी स्वस्तिरस्तु

नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः । ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

यह वचन कहां का है, यह ज्ञात नहीं । (तच्छंयोः) हे वेदपते परमात्मन्! हम उस सदाचारी शान्त विद्वान् के (यज्ञाय गातुं) अपने यज्ञ में आने की, (यज्ञपतये गातुं) और यज्ञपति के समीप पधारने की (आवृणीमहे) याचना करते हैं । (नः दैवी स्वस्तिः अस्तु) हमें सूर्य चन्द्र अग्नि आदि देवों से कल्याण प्राप्त हो, प्रभो! हमें आधिदैविक ताप से सुरक्षित कीजिए । (मानुषेभ्यः स्वस्तिः) मनुष्यों से भी स्वस्ति प्राप्त हो, आधिभौतिक ताप से भी हम बचे रहें । (भेषजं ऊर्ध्वं जिगातु) आपका भैषज्यमय हाथ हमारे ऊपर रक्षा रहे । (नः द्विपदे शं अस्तु) हमारे दोपाये मनुष्यादिकों को शान्ति प्राप्त हो, (चतुष्पदे शं) और चौपाये पशुओं के लिये सुख हो ।

'क्व स्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः (ऋ०२.३३.७) में परमेश्वर के हाथ को 'भेषज' कहा है ॥ ५ । २१ ॥

❀ चतुर्थ पाद ❀

४६. अदिति अदितिरदीना देवमाता—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (१.८९.१०) इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे, एनान्यदीनानीति वा ॥ १ । २२ ॥

अदिति—सब देवों का निर्माण करने हारा अदीन परमेश्वर । 'नञ्' पूर्वक 'दीङ्' धातु से 'क्तिन्' और ईकार को ह्रस्व; अथवा 'दो' अवखण्डने से 'क्तिन्' करने पर ओकार को 'इ' (पा० ७. ४. ४०) । परमात्मा अक्षय और अखण्डित है ।

द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पञ्चजन, जात और जनित्व—ये सब नाम अदिति परमेश्वर के हैं । आकाश स्वरूप होने से परमेश्वर द्यौ है, अन्तर्यामी होने से अन्तरिक्ष है, सब का निर्माता होने से माता है, पालक होने से पिता है, दुःखों से रक्षा करने वाला होने से पुत्र है, सब दिव्य गुणों से पूर्ण होने से विश्वेदेव है, पञ्चभूतों को पैदा करने हारा होने से पञ्चजन है, भूत काल में विद्यमान रहने से जात है, और भविष्यत् में भी एकरस वर्तमान रहने से जनित्व है ।

इस प्रकार यह मंत्र अदिति की विभूति को बतलाता है ।

अथवा, इस मंत्र का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि अन्तरिक्ष आदि सब अदीन हैं। द्युलोक और अन्तरिक्षलोक शीघ्र नाशवान् न होने से अदिति हैं। माता, पिता, पुत्र, सब विद्वान् लोग, और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र तथा निषाद—ये पांचों प्रकार के मनुष्य अदीन है, इन्हें अपनी दीनता कभी प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए। एवं भूत, तथा भविष्यत् काल भी अपने महत्व से अदीन हैं।

एवं, उपर्युक्त मंत्र में निषाद तक को अदीन रहने की परमेश्वर ने आज्ञा दी हुई है, अतः किसी भी मनुष्य को कभी किसी के सामने दीन नहीं बनना चाहिए ॥१।२२।

५०. एरिरे

'यमेरिरे भृगवः'। एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः।

एरिरे—'आङ्' उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'ईर' धातु के 'लिट्' में 'ऋ' को 'इरेच्' तथा 'ईर्' धातु को द्वित्व। भाषा में 'ईराञ्चक्रे' प्रयोग होता है। मंत्र [१. १४३. ४] यह है--

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे स एको वस्वो वरुणो न राजति॥

देवता—अग्निः। (यं विश्ववेदसं भृगवः एरिरे) जिस सर्वज्ञ अग्रणी परमेश्वर को तपस्वी लोग प्राप्त करते हैं, (पृथिव्याः भुवनस्य नाभा मज्मना) जो पृथिवी और भुवनों के अन्दर अन्तर्यामितया अपने सामर्थ्य से विद्यमान है, (यः एकः वस्वः वरुणः न आराजति) और जो अद्वितीय सब प्रकार के धनों का मालिक होता हुआ सूर्य की न्याईं सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है, (तं अग्निं स्वे दमे गीर्भिः हिनुहि) हे मनुष्य ! उस परमात्मा को अपने घर में या हृदय-मन्दिर में स्तुति वाक्यों के द्वारा प्राप्त कर।

५१. जसुरिः

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनुक्रोशन्ति क्षितयो भरेषु। नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् ॥ ४. ३८. ५

अपि स्मैनं वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम्। वस्त्रं वस्तेः। तायुरिति स्तेननाम, संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः, तस्यतेर्वा स्यात्। अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु। भर इति संग्रामनाम, भरतेर्वा,

हरतेर्वा । नीचायमानं नीचैरयमानं । नीचैर्निचितं भवति । उच्चैरुच्चितं भवति । जस्तमिव श्येनम् । श्येनः शंसनीयं गच्छति । अवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्—अवश्चापि पशुमच्च यूथम्—प्रशंसां च यूथं च, धनं च यूथं चेति वा ।

जसुरि = मुक्त, मोचनार्थक 'जसु' धातु से 'उरिन्' प्रत्यय (उणा० २.७३)।

देवता—इन्द्रः । (उत) और (तायुं न भरेषु वस्त्रमथि) चोर की न्याईं युद्धों में वस्त्र तक चुरा लेने हारे, (नीचायमानं) नीचता की ओर जाने वाले, (जसुरि श्येनं न) तथा खुले हुए श्येन पक्षी की न्याईं हिंसक (एनं क्षितयः यानुक्रोशन्ति) जिस राजा को प्रजाजन या शत्रुजन कोसते हैं, और जिसकी (पशुमत् अवः च) पशुतुल्य कीर्ति या धन को (यूथं च) तथा पशु तुल्य कर्मचारि–वर्ग या सैनिक–वर्ग को कोसते हैं, वह राजा (स्म) शीघ्र विनष्ट होजाता है ।

जो राजा युद्धकाल में युद्ध के बहाने प्रजा के वस्त्र तक छीन लेता है–प्रजा को नंगा कर देता है, अनेक नीच कर्म करता है, इतस्ततः प्रजा का घात पात करता है, और जिस की कीर्ति या ऐश्वर्य पशुतुल्य है, तथा जिस के कर्मचारिवर्ग पशु समान हैं, वह राजा शीघ्र नष्ट होजाता है । इसी प्रकार जो राजा युद्धों में शत्रुओं को बिलकुल नंगा कर देता है, उन के साथ नीच वर्ताव करता है, श्येन पक्षी की न्याईं दोषी निर्दोषी—सब शत्रुओं का घात पात करता है, और जिसके सैनिक लोग शत्रुओं के साथ पशुसमान वर्ताव करते हैं, वह दुष्ट राजा शीघ्र नष्ट होजाता है ।

स्म = सद्यः । 'विनश्यति' का अर्थानुसार अध्याहार स्वामी जी ने किया है । **वस्त्र**—आच्छादनार्थ 'वस' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय (उणा० ४.१५९)। **तायु** = चोर । (क) इस में पाप एकत्रित होता है—ऐसा नैरुक्त मानते हैं । संघातार्थक 'स्त्यै' धातु से 'उण्' प्रत्यय (उणा० १. २)) स्त्यायु–तायु । (ख) अथवा, 'तसु' उपक्षये से 'उण्' । तासु—तायु । चोर पतित होता है। **भर** = संग्राम, युद्ध में (भरण) लाभ, और (हरण) नाश—दोनों होते हैं, अतः 'भृ' या 'हृ, धातु से 'अप्' प्रत्यय करने पर 'भर' की सिद्धि होती है । **नीचैस्**—नि+चिञ् चयने, यह निकृष्ट निर्मित होता है　उच्चैस्—उत्+चि, यह उत्कृष्ट चिना हुआ होता है। **श्येन**—'इस की गति बड़ी प्रशस्त है। 'श्यैङ्' गतौ धातु से 'इनच्' प्रत्यय (उणा० २. ४६) । यहां 'श्यैङ्' धातु प्रशस्त गति में प्रयुक्त है । अच्छ = अपि ।अवस् = प्रशंसा, धन । **यूथ** = समूह, 'यु' धातु से 'थक्' प्रत्यय (उणा० २. १२) इस में छोटे बड़े सब संयुक्त होते हैं, मिले हुए होते हैं ।

५२. जरते 'इन्धान एनं जरते स्वाधीः' । गृणाति ।

लोक में 'जॄ' धातु वयोहानि में प्रयुक्त है, परन्तु वेद में स्तुत्यर्थक का शब्दार्थक भी मानी गई है ।

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥ १०. ४५. १

देवता—अग्निः । (दिवस्परि प्रथमं जज्ञे) सब प्राणियों में अग्रणी, श्रेष्ठ मनुष्य ज्ञान-प्रकाश के देने हारे ब्रह्मचर्याश्रम में पहले उत्पन्न होता है । (जातवेदाः अस्मत् परि द्वितीयं) फिर वेद-विद्या को ग्रहण किया हुआ मनुष्य हम गृहस्थियों में वर्तमान गृहस्थाश्रम में दूसरा जन्म धारण करता है, (नृमणाः अप्सु तृतीयं) फिर विद्यार्थिजनों में संलग्न मन वाला वनस्थ कर्मप्रधान वानप्रस्थाश्रम में तीसरा जन्म ग्रहण करता है, (एनं अजस्रं इन्धानः स्वाधीः जरते) और फिर इस परमात्मा को निरन्तर अपने हृदय में प्रदीप्त करता हुआ ध्यानी सन्यासी वैदिक-धर्म का उपदेश करता ।

इस में चारों आश्रम-धर्मों को क्रमशः पालन करने की आज्ञा दी गई है ।

५३. मन्दिने मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः। 'प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचः' प्रार्चत मन्दिने पितुमद्वचः॥ २।२३॥

मन्दिन् = स्तुत्य । स्तुत्यर्थक 'मदि' धातु से 'घञ्' और पुनः 'मतुप्' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय ।

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना ।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ १. १०१. २

देवता—इन्द्रः । (यः ऋजिश्वना कृष्णगर्भाः निरहन्) जो ब्राह्मण विद्वान् सरल ज्ञान के द्वारा पापगर्भा अविद्याओं का निरन्तर हनन करता है, (मन्दिने पितुमत् वचः प्रार्चत) उस स्तुत्य विद्वान् के लिए प्रशस्त अन्न से संयुक्त प्रियवाणी का उच्चारण करो । (अवस्यवः) हम जिज्ञासु लोग (वृषणं) विद्यामृत की वर्षा करने हारे, (वज्रदक्षिणं) अविद्या के नाश के लिए ज्ञानरूपी वज्र को देने वाले, (मरुत्वन्तं) और अनेक प्रशस्त मनुष्यों से सहायता-संपन्न आचार्य को (हवामहे) स्वीकार करते हैं ।

स्वामी जी ने 'मन्दिने पितुमत् वचः प्रार्चत' का अर्थ इस प्रकार किया है—आनन्द देने वाले के लिए अच्छा बनाया हुआ अन्न, अर्थात् पूरी कचौरी लड्डू

बालुशाही जलेबी अमिरती आदि अच्छे २ पदार्थों वाले भोजन, और प्यारी वाणी को अच्छे प्रकार निवेदन करो।

स्वञ्ञ्—गत्यर्थक 'श्वि' धातु से 'कनिन्'। ऋजि = ऋजु।

५४. गोः — **गौर्व्याख्यातः। अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ १.८४.१५**

अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः। स्वं नामापीच्यमपचितं, अपगतं, अपहितं, अन्तर्हितं वा ऽमुत्र चन्द्रमसा गृहे।

'गो' शब्द की व्याख्या ११७ पृ० पर होचुकी है। वहां लिखा था कि 'अत्राह गोरमन्वत' की व्याख्या आगे करेंगे। सो अब की जाती है। मंत्र का देवता इन्द्र है। (अत्र चन्द्रमसो गृहे) इस चन्द्रमण्डल में (ह) निश्चय पूर्वक (इत्था त्वष्टुः अपीच्यम्) उस आदित्य से निकल कर गये हुए (गोः नाम) सुषुम्णा नामक सूर्यरश्मि के अवस्थान को (अमंसत) आदित्यरश्मियें अपना अवस्थान मानती हैं।

इस मंत्र से दो वैज्ञानिक सिद्धान्तों की पुष्टि भली प्रकार होती है—(१) चन्द्रमा स्वयं प्रकाशमान नहीं, प्रत्युत सूर्य से प्रकाश लेता है। (२) 'अत्र' से समीप का निर्देश होता है, और 'इत्था' से दूर का। अतः, स्पष्ट है कि चन्द्रमा हमारे समीप है, और आदित्य दूर। 'नाम' शब्द भी इसी भाव को द्योतित करता है, क्योंकि नाम का अर्थ है नमन, अर्थात् नीचे स्थित होना।

अपीच्य—(क) अपचित = पृथक् करके चिना हुआ। 'अप' पूर्वक 'चिञ्' धातु से 'यक्' और टिलोप (उणा० ४.११२)।(ख) अपगत = पृथक् होकर गया हुआ। अप + अंचु + यक्। (ग) अपहित = पृथक् धारके धारण किया हुआ। अप + धा + यक्। (घ) अन्तर्हितम् = अन्दर रखा हुआ। यहां 'अप' उपसर्ग 'अन्तर्' वाची है। अप + धा + यक्।

५५. गातुः — **गातुर्व्याख्यातः। 'गातुं कृणवन्नुषसो जनाय' इत्यपि निगमो भवति।**

'गातु' की व्याख्या ४. ४८ में होचुकी है। यहां गातु का अर्थ गमन किया गया है। 'गाङ्' गतौ धातु से भाव में 'तुन्' प्रत्यय (उणा० १.७३)। मंत्रार्थ ३२ पृ० पर देखिए।

५६. दंसयः दंसयः कर्माणि, दंसयन्ते एनानि । 'कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः' इत्यपि निगमो भवति ।

दंसि = कम । दशनायक चुरादिगणी 'दसि' धातु से 'इण्' प्रत्यय (उणा० ४. ११८) । दंसस् और दसि, दोनों समानार्थक हैं । इन श्रेष्ठ-कर्मों का सभी मनुष्य दर्शन करते हैं । निम्न मंत्र (१०. १३८ १) में 'दंसयः' शब्द द्वितीया के अर्थ को कहता है—

तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नय ऋतं मन्वाना व्यदर्दिरुर्वलम् ।
यत्रा दशस्यन्नुषसो जनाय रिणन्नपः कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः ॥

(इन्द्र ! यत्र जनाय उषसः दशस्यन्) हे सूर्य जिस समय तुम मनुष्य के लिए उषाकाल को प्रदान करते हुए, (अपः रिणन्) और ओस-जल को ले जाते हुए (कुत्साय मन्मन्) परमात्म-स्तोता के लिए आत्म-मननों, (अह्यः दंसयः च) और पाप-नाशक श्रेष्ठ कर्मों को मानो जतलाते हुए उदय होते हो, उस समय (तव सख्येषु) तेरे सख्य में विद्यमान (ते वह्नयः) वे नेता विद्वान् लोग (ऋतं मन्वानाः) सत्यस्वरूप प्रभु का मनन करते हुए (वलं व्यदर्दिरुः) आन्तरिक शत्रु-बल को विदीर्ण करते हैं ।

५७. तूताव 'स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः' । स तुताव नैनमंहतिरश्नोति । अंहतिश्च, अंहश्च, अंहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद् विपरीतात् ॥ ३॥२४॥

तूताव = तुताव । 'तु' गतौ वृद्धौ च धातु का 'लिट्' में रूप है; तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (पा० ६. १.७) से 'उ' को दीर्घ होगया है ।

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम् ।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ १.९४.२

देवता—अग्निः । (यस्मै त्वं आयजसे) हे परमात्मन् । जिसको आप अपनी सहायता प्रदान करते हैं, (सः साधति) वह सब कामनाओं को सिद्ध करता है, (अनर्वा क्षेति) स्वाधीन रहता है, (सुवीर्यं दधते) और सुवीर्य को धारण करता है । (सः तूताव, एनं अंहतिः न अश्नोति) वह सदा उन्नति करता है, उसे कोई कष्ट प्राप्त नहीं होता । (अग्ने वयं तव सख्ये मा रिषाम) हे ज्ञानस्वरूप प्रभो ! हम आप की मित्रता में रहते हुए कष्टापन्न न हों ।

अंहति, अंहस् और अंहु—ये तीनों पद समानार्थक हैं। 'हन्' धातु की उपधा 'अन्' को निकाल कर और विपर्यय करके, (ह् अन्—अन्ह्–अंह्) उस 'अंह्' से 'अति' (उणा० ४. ६२), असुन् (उणा० ४. २१३), और 'उ' (उणा० १.७) प्रत्यय किये जाते हैं ॥३।२४॥

५८. चयसे — 'बृहस्पते चयस इत्पियारुम्' । बृहस्पते यच्चातयसि देवपीयुम् । पीयतिर्हिंसाकर्मा ।

चयसे = चातयसि = नाशयसि । धातुपाठ में 'चय' धातु गत्यर्थक पढ़ी है, परन्तु यहां नाशनार्थक मानी गई है।

ये त्वा देवोस्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः।
न दूढ्ये अनुददासि वामं बृहस्पते चयस इत्पियारुम् ॥ १.१९०.५

देवता—बृहस्पतिः । (देव ! ये पज्राः पापाः) हे पूज्य प्रभो ! जो पाप से जीर्ण पापीलोग (उस्रिकं भद्रं त्वा मन्यमानाः) तेजस्वी तथा कल्याणस्वरूप आप को तिरस्कृत करते हुए (उपजीवन्ति) जीवन व्यतीत करते हैं, दूढ्ये वामं न अनुददासि) उन दुष्ट बुद्धि वाले नास्तिकों को आप तदनुसार मङ्गल सुख प्रदान नहीं करते, (बृहस्पते पियारुं चयसे इत्) प्रत्युत हे सर्वरक्षक प्रभो ! उस नास्तिक को आप नष्ट ही करते हो।

'पज्राः पापेन जीर्णाः' ऐसा सायण ने लिखा है। उस्रिक—'उस्रा' शब्द सूर्य-किरणों का वाचक है, उनका स्वामी होने से परमेश्वर को उस्रिक कहा गया। 'मन' धातु वधार्थक निघण्टु-पठित है। पियारु—धातुपाठ में दिवादिगणी 'पीङ्' धातु पानार्थक लिखी है, परन्तु यहां हिंसार्थक मानी है। 'पीङ्' धातु से 'शील अर्थ में 'आरु' प्रत्यय। पियारु का शब्दार्थ पीयु, अर्थात् नाशक है, परन्तु मंत्रगत 'देव' के साथ संबन्ध होने से आचार्य ने इसका अर्थ 'देवपीयु' किया है।

५९. वियुते — वियुते द्यावापृथिव्यौ, वियवनात् । 'समान्या वियुते दूरे अन्ते' । समानं सम्मानमात्रं भवति । मात्रा मानात् । दूरं व्याख्यातम् । अन्तम् अततेः ।

वियुते = द्यावापृथिवी, ये वियुक्त हैं—पृथक् २ वर्तमान हैं। 'वि' पूर्वक पृथग्भावार्थक 'यु' धातु से 'क्त'।

समान्या वियुते दूरे अन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके ।
उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम ॥ ३.५४.७

(समान्या) समान वृष्टिकर्म को करने हारे (वियुते) तथा पृथक् २ वर्तमान सूर्य और पृथिवी, (दूरे अन्ते) दूर और समीप में (जागरूके ध्रुवे पदे तस्थतुः) सर्वदैव जागरूक ध्रुवपद परमात्मा के आश्रय में स्थित हैं। (उत स्वसारा) और ये स्वकीय परिधि में घूमते हुए (युवती भवन्ती) सामने तथा पीछे होते हुए (आत् उ) उस समय (मिथुनानि नाम ब्रुवाते) अहोरात्र के जोड़ों को कहते हैं, बनाते हैं ।

'समानी' का द्विवचन समान्या=समान्यौ है। ये सूर्य तथा पृथिवी समान वृष्टिकम को कैसे करते हैं, इसके लिये निरुक्त के ७ अ० २३ ख० में उल्लिखित 'समानमेतदुदकम्' मंत्र की व्याख्या देखिए । युवती भवन्ती = मिलते और पृथक् होते हुए । इसी भाव को ऐ. ब्रा० (४. २७) ने **'इमौ वै लोकौ सह आस्तां तौ व्येताम्'** शब्दों में प्रदर्शित किया है।

समान—मुख्यतया एक जैसे परिमाण वाले को समान कहते हैं । उसी के आधार पर किसी विशेष बात की समता से अन्यत्र स्थलों में भी समान का प्रयोग होता है । सम्मान—समान । **मात्रा** = मात्र:, सब से छोटा अवयव होने से अन्य पदार्थ इसी से मापे जाते हैं, यह माप की इकाई है । 'मा' धातु से 'अह्' प्रत्यय (उणा० ४.१६८) । 'दूर' की व्याख्या हो चुकी है (३. १९) । **अन्त**—गत्यर्थक 'अत' धातु से 'अच्' और नुडागम । समीप की वस्तु प्राप्त हुई होती है ।

६०. ऋधक् — **ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति । अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते । 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः' । ऋध्नुवन्नयासीर्ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च ।**

ऋधक्—(क) पृथक् । पृथक्—ऋथक्—ऋधक् । (ख) समृद्धि या समृद्धि युक्त । 'ऋधु' वृद्धौ धातु से 'अजि' प्रत्यय और किद्वाव (उणा० १.१३०)।

वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह ।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन्यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा ॥

यह मंत्र यजु०८.२० का है । देवता—गृहपतिः । (अग्ने ! अस्मिन् प्रयति

यज्ञे) हे तेजस्विन् ब्रह्मचारिन् ! इस प्रयत्न-साध्य गृहस्थ-यज्ञ में (इह वयं होतारं त्वा हि अवृणीमहि) यहां हम इस यज्ञ के करने में समर्थ तुझ को ही चुनते हैं। (ऋधक् अयाः) तू समृद्धि को प्राप्त करता हुआ इस यज्ञ को कर, (उत ऋधक् अशमिष्ठाः) और शक्ति-सम्पन्न होता हुआ विघ्न बाधाओं को दूर कर। (विद्वान् प्रजानन्) गृहस्थ-धर्म को भली प्रकार समझता हुआ विद्यावान् तू (स्वाहा यज्ञं उपयाहि) वेदोक्त आज्ञा के अनुसार गृहस्थ-यज्ञ को प्राप्त कर।

६१. अस्याः अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे, अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। 'अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेडमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व'। अस्यै नः सातय उपभवा-हेडमानोऽक्रुध्यन्। ररिवान्, रातिरभ्यस्तः। अजाश्वेति पूषणमाह। अजाश्व! अजा अजनाः।

जब प्रत्यक्ष अन्वय किसी मुख्य के साथ=विशेष्य के साथ हो, तो 'अस्याः' 'अस्य' उदात्त होते हैं। और जब किसी पूर्व-कथित का 'अस्याः' 'अस्य' से निर्देश किया जावे, तो ये अनुदात्त स्वर वाले होते हैं। उदात्त और अनुदात्त के शब्दार्थ भी ऐसे ही हैं कि जो मनुष्य उत्कृष्ट गुण युक्त होता है, उसे उदात्त कहते हैं, और जो अल्प या हीन गुणों वाला होता है, उसे अनुदात्त कहा जाता है।

उदात्त स्वर वाले 'अस्याः' का उदाहरण यह है—

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेडमानो ररिवाँ अजाश्व
श्रवस्यतामजाश्व। ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः।
नहि त्वा पूषन्नतिमन्य आघृणे न ते सख्यमपह्नुवे॥ १.१३८.४

देवता—पूषा। (अजाश्व श्रवस्यतां अजाश्व) हे क्रियाशील इन्द्रियों वाले, तथा धनवानों में क्रियाशील इन्द्रिय रूपी धन वाले पोषक विद्वान् ! (अहेडमानः ररिवान्) हमारे पर क्रुद्ध न होते हुए और निरन्तर विद्या प्रदान करते हुए (अस्याः सातये नः सु उपभुवः) इस सुखलाभ के लिये हमारे समीप वर्तमान रहिए। (ओ दस्म। साधुभिः स्तोमेभिः त्वा सुववृतीमहि) हे अज्ञाननाशक ! उत्तम वेद-मंत्रों के स्वाध्याय के साथ हम आप के समीप वर्तमान रहें। (आघृणे पूषन् !) ज्ञान से प्रदीप्त पोषक ! (त्वा नहि

अतिमन्ये) मैं आप की आज्ञा का नाही कभी उल्लङ्घन करता हूं, (न ते सख्यं अपह्नुवे) और नाही आप की मित्रता को छिपाता हूं, अर्थात् आप का सदैव कृतज्ञ हूं।

यहां 'अस्याः' उदात्त है, अतएव इसका अन्वय मुख्यतया प्रयुक्त 'सातये' के साथ होगा। एवं, 'अस्याः' को षष्ठ्यन्त नहीं परन्तु चतुर्थ्यन्त मान कर अर्थ करना होगा।

ररिवान्—'रा' धातु से 'लिट्' की जगह 'क्वसु' और 'रा' को द्वित्व। अजाश्व—अजाः अजनाः आश्वाः यस्य तत्संबुद्धौ।

अथानुदात्तम्—'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्'। दीर्घायुरस्याः यः पतिः, जीवतु सः शरदः शतम्। शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति, शीर्णा आप इति वा ॥४।२५॥

अनुदात्त 'अस्याः' का उदाहरण यह है—

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ १०. ८५. ३९

(पुनः पत्नीं) फिर पत्नी होने वाली कन्या को (अग्निः) विवाह-संस्कार की यज्ञाग्नि (आयुषा वर्चसा सह) दीर्घायुष्य तथा तेजस्विता के साथ (अदात्) पति के अर्पण करती है। (अस्याः यः पतिः) इस का जो पति है, वह (दीर्घायुः शरदः शतं जीवाति) दीर्घायु होता हुआ सौ वर्ष जीवे।

यहां 'अस्याः' अनुदात्त है, अतः उसका संबन्ध पूर्व कथित 'पत्नी' के साथ है।

शरत्—इस ऋतु में ओषधियें पक जाती हैं, और जल सूख जाते हैं। 'श्रीञ्' पाके, या 'शॄ' हिंसायाम् धातु से 'अदि' प्रत्यय (उणा० १.१३०)॥४।२५॥

६२. अस्य

अस्येत्यस्या इत्येतेन व्याख्यातम्।
अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

अस्य वामस्य वननीयस्य, पलितस्य पालयितुः, होतुर्ह्वा-व्यस्य तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यशनः। भ्राता भरतेर्हरति-कर्मणो हरते भागं, भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृत-पृष्ठो अस्यायमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं

वा विश्पतिं सप्तपुत्रं, सप्तमपुत्रं, सर्पणपुत्रमिति वा । सप्त सृप्ता संख्या । सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति ॥ ५। २६ ॥

'अस्य' इसकी व्याख्या 'अस्याः' की व्याख्या के अनुसार समझ लेनी चाहिए। भेद केवल इतना है कि 'अस्याः' स्त्रीलिङ्ग में है, और 'अस्य' पुल्लिङ्ग या नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है ।

'अस्य वामस्य' मंत्र (१. १६४.१) का अर्थ इस प्रकार है—

(तस्य अस्य वामस्य पलितस्य होतुः) इस प्रशस्त, पालक तथा ग्रहोपग्रहों के आह्वाता, अर्थात् आकर्षण कर्ता सूर्य का (मध्यमः अश्नः भ्राता अस्ति) मेघ–मध्यवर्ती अशनि दूसरा भाई है, (अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः) और इस का तीसरा भाई अग्नि है। (अत्र सप्तपुत्रं विश्पतिं अपश्यम्) इन तीनों भाईयों में से आदित्य को मैं विशेषतया सर्वपालक देखता हूं। एवं, इस मंत्र में त्रिविध अग्नि का प्रतिपादन किया है।

इस मंत्र में प्रथम 'अस्य' पद उदात्त है, अतः उस का अन्वय सूर्यवाची 'वामस्य' के साथ है; और द्वितीय 'अस्य' अनुदात्त हैं, अतः वह पूर्व कथित 'वामस्य' का निर्देश करता है, 'अश्न' का नहीं।

पलित = पालयिता। अश्न = अशान = अशनि। **भ्रातृ—(क)** धातुपाठ में 'भृञ्' धातु भरणार्थक पठित है, परन्तु यहां हरणार्थक मानी गई है। 'भृ' धातु से 'तृञ्' प्रत्यय (उणा० २. ९५)। भाई दायभाग का आहरण करता है। (ख) अथवा, भरणार्थक 'भृ' धातु से 'तृञ्'। भाई भाई परस्पर में एक दूसरे का पालन करते हैं। घृतपृष्ठः = अग्निः। यज्ञों में घी की आहुतियें देने से अग्नि को 'घृतपृष्ठ' कहा गया है। विश् = विश्व = सर्व।

सप्तपुत्र—(क) आदित्य की सप्तविध किरणें हैं—ऐसा तत्ववेत्ता लोग कहते हैं। अतः, सात रश्मि–पुत्रों वाला होने से सूर्य 'सप्तपुत्र' है। स्वामी जी ने 'सप्तविधैस्तत्त्वैः जातम्' लिखते हुए सूर्य की उत्पत्ति सात तत्त्वों से मानी है; (ख) सप्तम पुत्र होने से सूर्य 'सप्तपुत्र' कहलाता है। सूर्य सातवां पुत्र किस प्रकार है, यह विचारणीय है। सोम मङ्गल आदि वारों में सातवां वार आदित्य है। कहीं इस से तो कोई संबन्ध नहीं ?(ग) अथवा 'सप्तन्' का अर्थ है सर्पण–शील। सूर्य के रश्मि–पुत्र सदा सर्पणशील रहते हैं, कभी अवस्थित नहीं होते ।

सप्तन् = = सात, यह संख्या ६ की अपेक्षा सृप्त है। 'सृप' धातु से 'क्तनिन्' प्रत्यय और 'तुट्' का आगम (उणा० १. १५७)। सृप्तन्—सप्तन् ॥ ५।२६ ॥

सूर्य की सात रश्मियें हैं—इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए यास्क वेदमंत्र देते हैं—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥ १.१६४.२

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणम् । चक्रं चकतेर्वा, चरतेर्वा, क्रामतेर्वा । एको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः । सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति, सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा । इदमपीतरन्नामैतस्मादेवाभिसन्नामात् ।

संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्द्धर्चः । त्रिनाभिचक्रं त्र्यृतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति । संवत्सरः संवसन्ते ऽस्मिन्भूतानि । ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः । वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः । हेमन्तो हिमवान् । हिमं पुनर्हन्तेर्वा, हिनोतेर्वा । अजरमजरणधर्माणम् । अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन् । यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते ।

(एकचक्रं रथं सप्त युञ्जन्ति) एकाकी घूमने वाले एकचक्र सूर्य-रथ को किरण रूपी सात अश्व जोड़ते हैं । (एकः सप्तनामा अश्वः वहति) अथवा, एक 'सप्तनामक' अश्व, अर्थात् सातों रश्मिओं के मेल से बनी हुई एक श्वेत रश्मि ही सूर्य को खींचती है ।

एवं, इस पहली आधी ऋचा में आदित्य का वर्णन हुआ । अब अगली आधी ऋचा में संवत्सर का वर्णन किया जाता है—

(अनर्वं) और किसी के आश्रित न रहने हारे (त्रिनाभिचक्रं) ग्रीष्म वर्षा हेमन्त रूपी तीन नाभिओं वाले संवत्सरकाल-चक्र को बनाता है, (यत्र) जिस चक्र में रहते हुए (इमा विश्वा भुवना अधितस्थुः) ये सब प्राणि तथा अप्राणि मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

एकचक्र = एकचारी । **चक्र**--(क) चलनार्थक 'चक' धातु से 'रक्' प्रत्यय (उणा २.१३) । यद्यपि धातुपाठ में 'चक' धातु तृप्ति तथा प्रतीघात अर्थ में पठित है, परन्तु दुर्गाचार्य ने 'चकनं चलनमुच्यते' कहते हुए चलनार्थक भी मानी है । (ख) गत्यर्थक 'क्रमु' धातु से 'ड' प्रत्यय और द्वित्व । (ग) 'चर' धातु से 'क' प्रत्यय (उणा० ३. ४०) । चर्क—चक्र ।

सप्तनामन् = आदित्य । (क) सप्तास्मै रश्मयो रसान् अभिसन्नामयन्ति, क्योंकि सात रश्मियें इसके लिए रसों को झुकाती हैं । (ख) अथवा, सप्तर्षि,

अर्थात् सूर्य की सातों किरणें मानो सूर्य की स्तुति करती हैं। सप्तैन-मृषयः नमन्ति स्तुवन्तीति सप्तनामा। 'सप्तन्' पूर्वक णिजन्त 'नम' से 'कनिन्' और दीर्घ।

उपर्युक्त मंत्र में सातों रश्मियों को मिला कर बनी हुई आदित्य संबन्धी एक श्वेत रश्मि को 'सप्तनामन्' से ग्रहण करना उचित जान पड़ता है, क्योंकि पहले सूर्य को रथ कहा है, अब उसी को अश्व मानना संगत नहीं। और, फिर 'सप्तनामा' के साथ 'वहति' का प्रयोग है। यदि 'सप्तनामा' का अर्थ सूर्य किया जावे तो वह किस का वहन करता है? श्वेत रश्मि सूर्य का वहन करती।

उपर्युक्त मंत्र से इस वैज्ञानिक सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि लाल, पीला, हरा, आसमानी, नीला, और बनफशी—इन सात रंगों की रश्मियों का मेल श्वेतरश्मि है, वास्तव में श्वेत रंग कोई नहीं।

यह दूसरा संज्ञावाची 'नामन्' पद भी इसी णिजन्त 'नम' धातु से निष्पन्न होता है। किसी पदार्थ के नाम में उस पदार्थ के गुण झुकाये जाते हैं। अर्थात् 'नाम' कहते ही उसको हैं जो कि उस पदार्थ के गुण कर्मों के अनुसार रखा जावे। अतः मनुष्यों को सदा अन्वर्थक नाम धरने चाहिएं।

संवत्सर की मुख्यतया तीन ऋतुएं हैं। इन में से प्रत्येक ऋतु के फिर अनेक विभाग हैं, अतः ये ऋतुएं नाभि, अर्थात् केन्द्र-स्थानीय हैं। संवत्सर काल कभी न्यूनाधिक नहीं होता, अतः यह 'अजर' है। और संवत्सर-काल किसी के आधीन नहीं, प्रत्युत सब उत्पन्न पदार्थ इसी काल के आधीन हैं, अतः यह 'अनर्वा' है। **संवत्सर**—सब भूत इसी में निवास करते हैं। 'सम्' पूर्वक 'वस' धातु से 'सरन्' (उणा० ३. ७२)। **ग्रीष्म**—इस में सब रस सूर्य द्वारा ग्रसित किये जाते हैं, और ओषधि वनस्पतियें सूख जाती हैं। 'ग्रसु' अदने से 'मक्' (उणा०१.१४९)। **वर्षा**—इस में मेघ बरसता है। 'वर्षा' शब्द नित्य बहुवचनान्त है, अतः यास्क ने 'प्रावृट्' बहुवचनान्त रखा है। **हेमन्त**—इस ऋतु में पाला पड़ता है, अतः यह ऋतु पाले वाली होने से मन्त कहलाती है। हिमवत्—हिमवन्त—हेमन्त। पाली में 'हिमवत्' की जगह 'हिमवन्त' ही प्रयुक्त होता है। हिम = पाला या कुहरा। (क) 'हन्' धातु से 'मक्' प्रत्यय [उणा०१.१४७]। कुहरा सामान्यतया ओषधि वनस्पतियें को मारता है। (ख) अथवा, वृद्ध्यर्थक 'हि' धातु से 'मक्'। पाले से यवादिकों की वृद्धि होती है।

अनर्वम् अप्रत्यतमन्यस्मिन्—जो दूसरे के आश्रय में गया हुआ नहीं,

अन्य के आश्रित नहीं, उस स्वाश्रय को 'अनर्वा' कहेंगे। गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'व' प्रत्यय करने पर 'अर्व' की सिद्धि होती है, उसके निषेध से 'अनर्व' है। अधितस्थुः = अभितिष्ठन्ति = संस्थिति गच्छन्ति मृत्युं प्राप्नुवन्ति। 'संस्थिति' शब्द मृत्यु के लिये बहुधा प्रयुक्त होता है॥५।२६॥

संवत्सर-वर्णन

तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति—

'पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने' इति पञ्चर्तुतया। 'पञ्चर्तवः संवत्सरस्य' इति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन। 'षडरे आहुरर्पितम्' इति षड्ऋतुतया। अराः प्रत्यृता नाभौ। षट् पुनः सहर्तेः।

उस संवत्सर का सर्वाङ्ग वर्णन वेद इसप्रकार करता है—

(१) पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते स नाभिः॥१.१६४.१३

(तस्मिन् परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे) उस घूमने वाले वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरत् और हेमन्त रूपी पांच अरों वाले संवत्सरकाल-चक्र में (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सम्पूर्ण प्राणि स्थित हैं। (तस्य भूरिभारः अक्षः न तप्यते) उस चक्र का भूरिभाराक्रान्त अक्ष नहीं तपता (सनात् सव सः नाभिः न शीर्यते) और सनातन काल से कार्य चलाने पर भी वह नाभि नहीं घिसती। रथ पर अत्यधिक बोझ लादने से उस का अक्ष टूट जाता है, और नाभि अक्ष द्वारा घिसकर खुली हो जाती है। परन्तु वह संवत्सर चक्र ऐसा है कि इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मान कर पांच ऋतुयें रह जाती हैं। वे पांच ऋतुयें संवत्सर-चक्र के पांच अरे हैं। यास्क अपने अर्थ को पुष्ट करने के लिये 'पञ्चर्तवः संवत्सरस्य'—इस ब्राह्मण-वचन को उद्धृत करता है।

(२) पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्ये उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥१.१६४.१२

(पञ्चपादं) पांच ऋतुओं वाले पांच पादों से युक्त (द्वादशाकृतिं) और बारह मासों के कारण बारह आकृतियों वाले (दिवः पितरं) दिन के पिता संवत्सर को (परे अर्द्धे पुरीषिणं आहुः) दूसरे अर्धभाग में जल उत्पन्न करने वाला कहते हैं। (अथ इमे अन्ये) और ये दूसरे विद्वान् (उपरे सप्तचक्रे षडरे) सब

प्राणियों को आराम देने वाले, अयन ऋतु मास पक्ष अहोरात्र दिन और रात, इन सात चक्रों वाले, तथा ६ ऋतुओं के कारण ६ अरों वाले संवत्सर में (विचक्षणं अर्पितं आहुः) मनुष्य का निवास बतलाते हैं।

संवत्सर उत्तरायण तथा दक्षिणायन के विभाग से छै छे महीनों में बंटा हुआ है। उन में से दक्षिणायन में वृष्टि होती है, उत्तरायण वृष्टि का काल नहीं। इसी को 'परे अर्द्धे पुरीषिणं आहुः' वचन से अभिव्यक्त किया है। इसका विशेष वर्णन 'कृष्णं नियानं' मंत्र की व्याख्या (निरु० ७.२४ ख०) में देखिए।

अर--ये नाभि में जुड़े हुए होते हैं। गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'अच्'। षष्--'जंघे बाहू शिरो मध्यं षडङ्गमिदमुच्यते' के अनुसार षडङ्ग शरीर से दूसरे का पराभव किया जाता है, अतः ६ की संख्या को 'षष्' (षट्) कहा गया। 'षह' धातु से 'क्विप्' और 'ह' को 'ष'।

'द्वादशारं नहि तज्जराय' 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्' इति मासानाम्। मासा मानात्। प्रधिः प्रहितो भवति।

'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः'। 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः' इति च ब्राह्मणं समासेन।

'सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः'। 'सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः' इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन ॥६।२७॥

(३) द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ १. १६४.११

(द्यां परि) सूर्य के चारों ओर पृथिवी के प्रदक्षिणा करने पर (द्वादशारं) बारह महीनों वाले अरों से युक्त ((ऋतस्य चक्रं) संवत्सरकाल का चक्र (वर्वर्त्ति) निरन्तर घूमता है। (नहि तत् जराय) वह काल-चक्र कभी क्षीण नहीं होता। (अग्ने!) हे विद्वान्! (अत्र) इन संवत्सर-चक्र में [सप्तशतानि विंशतिः च मिथुनासः पुत्राः) ७२० अहोरात्र रूपी यमक पुत्र (आतस्थुः) आस्थित हैं।

पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, उससे मास तथा दिन रात आदि काल की

उत्पत्ति होती है—यह वैज्ञानिक सिद्धान्त इस मंत्र से द्योतित होता है। संवत्सर के दिन और रात—ये दो यमक पुत्र हैं। ३६० दिन हैं, और ३६० रात्रियें। एवं, ७२० मिथुन पुत्र हुए। यास्क इस पक्ष की पुष्टि में 'सप्त च वै शतानि' ब्राह्मण-वचन देता हुआ कहता है कि दिन तथा रात को विभक्त करने से ७२० पुत्र होते हैं।

(४) द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥१.१६४.४८

(एकं चक्रम्) संवत्सर रूपी एक चक्र है, जिस में (द्वादश प्रधयः) बारह महीने १२ परिधियें हैं, (त्रीणि नभ्यानि) और तीन ऋतुयें तीन नाभियें हैं, (तत् कः उ चिकेत) उस चक्र को कौन पूर्णतया जानता है? (तस्मिन् साकं) उस चक्र में एक साथ (त्रिशताः शङ्कवः न) शंकुओं की न्याईं ३०० (न षष्टिः) और ६० अहोरात्र (अर्पिताः) लगे हुए हैं, (चलाचलासः) जो सदा चलायमान रहते हैं। यहां दूसरा 'न' समुच्चयार्थक है।

संवत्सर के ३६० दिन होते हैं। यहां भी यास्क इस पक्ष की पुष्टि में 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि' ब्राह्मण-वाक्य उद्धृत करते हुए कहते हैं कि दिन और रात को इकट्ठा मिलाकर गिनने से वर्ष ३६० दिन का होता है।

प्रधि—परिधि, प्रहित अर्थात् ऊपर निहित होती है। 'प्र' पूर्वक धा धातु से 'इण्' और डिद्भाव (उणा०४.१३४)। **मास**—इस से समय को मापते हैं। 'मा' धातु से 'स' (उणा० ३.६२)।

उपर्युक्त मंत्रों के आधार पर हम संवत्सर काल के अवयवों का इस तरह उल्लेख कर सकते हैं—

(१) त्रिनाभिचक्रम्, त्रीणि नभ्यानि = तीन ऋतुयें।
(२) पञ्चार, पञ्चपाद = पांच ऋतुयें।
(३) षडर = वसन्तादि ६ ऋतुयें।
(४) द्वादशाकृति, द्वादशार, द्वादशप्रधि = १२ मास।
(५) त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न = ३६० दिन।
(६) सप्तशतानि विंशतिश्च मिथुनासः पुत्राः = ७२० दिन और रात।
(७) परे अर्द्धे पुरीषिणम् = दो अयन।
(८) सप्तचक्र = अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, दिन, रात—ये सात विभाग ॥६।२७॥

पञ्चमाध्याय :

* प्रथम पाद *

१. सस्निम्

'सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम्'। सस्निं संस्नातं मेघम्।

सस्नि = संस्नात, अत्यन्त शुद्ध पवित्र। 'ष्णा' शौचे से 'कि' प्रत्यय और लिङ्वत् (पा० ३. २.१७१)।

सस्निमविन्दच्चरणे नदीनामपावृणोद् दुरो अश्मव्रजानाम्।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परिजानादहीनाम्॥१०.१३९.६

देवता—इन्द्रः। (नदीनां चरणे सस्निं अविन्दत्) जल के स्थान में-अन्तरिक्ष में-मेघ को प्रजा प्राप्त करती है जबकि (अश्मव्रजानां दुरः अपावृणोत्) बिजुलियें जिस में दौड़ रही हैं ऐसे मेघों के द्वारों को सूर्य खोल देता है। (आसां अमृतानि गन्धर्वः प्रवोचत्) इस मेघ-जन्य जल के अमृतत्व का आयुर्वेद-ज्ञाता वैद्य प्रवचन कर सकता है, (इन्द्रः अहीनां दक्षं परिजानात्) यतः, वह तत्त्वदर्शी मेघ-जल के बल को भलीप्रकार जानता है।

२. वाहिष्ठः। ३. दूतः।

'वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा'। वोढृतमो ह्वानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ। नरा। मनुष्याः, नृत्यन्ति कर्मसु। दूतो जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा, । 'दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्' इत्यपि निगमो भवति।

वाहिष्ठ = वोढृतम = उत्तम वाहक। वोढृ से 'तुश्छन्दसि' (पा० ५.३.५९) से 'इष्ठन्', तुरिष्ठेमेयःसु (६.४.१५४) से 'तृच्' का लोप। वहिष्ठ—वाहिष्ठ, छान्दस दीर्घ। दूत = संदेश प्रापक, ज्ञान प्रापक, अनर्थ निवारक। (क) जवते प्रापयति इति दूतः। 'जु' गतौ से 'क्त' (उणा० ३.९०) जुत—दूत। (ख) 'द्रु

गतौ से 'क्त' और दीर्घ। द्रुत—दूत। (ग) वारयति अनर्थान् इति दूतः।

वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा। युवाभ्यां भूत्वश्विना॥ ८.२६.१६

देवता—अश्विनौ। (नरा! हवानां वाहिष्ठः दूतः वां स्तोमः हुवत्) हे पुरुषार्थी स्त्री पुरुषो! प्रार्थनीय ज्ञान तथा धर्मादिकों का उत्तम प्रापक, और अनर्थ-निवारक वेद तुम्हें प्रदान किया है। (युवाभ्यां भूतु) वह सर्वदा तुम्हारे लिए विद्यमान रहे।

भूतु = भवतु, 'शप्' का लुक्। नर = मनुष्य, यतः वे विविधकर्मों में नर्तन करते हैं। 'नृत्' धातु से 'अच्' प्रत्यय और 'त्' का लोप।

'दूत' शब्द के लिए यास्काचार्य एक और मंत्र देते हैं—

यन्त्वा जनासो अभिसंचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन॥ १०. ४. २

देवता—अग्निः। (यविष्ठ! गावः उष्णं व्रजं इव जनासः यं त्वा अभिसञ्चरन्ति) सब में रमे हुए पर सब से पृथक् ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! जैसे गायें शीत-त्राण के योग्य गर्म गोष्ठ को सेवती हैं, वैसे मनुष्य जिस तुझ को अपने परित्राण के लिए सेवते हैं, वह तू (देवानां दूतः असि, महान्, मर्त्यानां अन्तः रोचनेन चरसि) दिव्यगुणों का प्रापक है, महान् है, और मनुष्यों के अन्दर, प्रकाश सहित विचर रहा है।

अभिचरति = परिचरति। यविष्ठ = युवतम, 'यु' मिश्रणामिश्रणयोः।

४. वावशानः वावशानः वष्टेर्वा वाश्यतेर्वा। 'सप्तस्वसृरुषीर्वावशानः' इत्यपि निगमो भवति।

'वश' कान्तौ, लिटः कानच्वा (पा० ३. २. १०६) ववशान, तुजादीनां दीर्घो ऽभ्यासस्य (पा० ६.१.७) से दीर्घ, वावशान। (ख) 'वाशृ' शब्दे, छान्दस उपधा-ह्रस्व, 'वश्' से पुनः पूर्ववत् रूपसिद्धि।

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानः विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य॥ १०. ५. ५॥

देवता—अग्निः। (वावशानः मध्वः विद्वान्) कान्तिमान या वेदोपदेष्टा, तथा सृष्टि विद्या के ज्ञाता अग्रणी परमेश्वर ने (अरुषीः सप्तस्वसृः) अप्रकाशमान सात बहिनों को, अर्थात् स्वयं प्रकाशमान न होने वाले सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, पृथिवी— इन सात भूमियों को (दृशे उज्जभार)

सूर्य के लिए उत्तम रीति से धारण किया है। (पुराजाः इच्छन्त् अन्तः अन्तरिक्षे येमे) सनातन परमात्मा ने इच्छा करते हुए उन सप्त ग्रहों को सौर-मण्डलान्तर्गत अन्तरिक्ष में यंत्रित किया हुआ है, (पूषणस्य वव्रि अविदत्) और उन्हें पोषक सूर्य का प्रकाश प्रदान किया है।

अविदत् = प्रायच्छत् (सायण)। पृथिव्यादि लोकों को 'मधु' के नाम से पुकारा है, यतः ये सब प्राणियों को सुख प्रदान करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् के मधुविद्या प्रकरण से यही ज्ञात होता है। अरुपी = नञ् पूर्वक 'रुच' दीप्तौ।

५. वार्यम् वार्यं वृणोतेरथापि वरतम्। 'तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्'। तद्वार्यं वृणीमहे वर्षिष्ठं गोपायितव्यं, गोपायितारो यूयं स्थ, युस्मभ्यमिति वा ॥ १ ॥

वार्य = वरणीय, वरतम। 'वृञ्' वरणे से 'ण्यत्' (पा० ३. ३. ११३)। (ख) उपर्युक्त सूत्र से ही 'तमप्' अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय।

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्।
मित्रोयत्पान्ति वरुणो यदर्यमा ॥८.२५.१३

देवता—विश्वेदेवाः। (तत् वार्यं वरिष्ठं, गोपयत्यं वृणीमहे) हम उस श्रेष्ठतम या वरणीय, अतिविस्तृत तथा रक्षा के योग्य ज्ञान का वरण करते हैं, (यत् मित्रः वरुणः, यत् अर्यमा पान्ति) जिसकी मित्र, श्रेष्ठ, तथा न्यायकारी देव-जन रक्षा करते हैं।

(२) उस श्रेष्ठतम, अतिविस्तृत, तथा हे विद्वान् लोगो! जिसके तुम संरक्षक हो उस ज्ञान का हम वरण करते हैं।

(३) उस श्रेष्ठतम, अतिप्रवृद्ध, तथा हे विद्वान् लोगो। जो तुम्हारे लिये रक्षा करने के योग्य है, उस ज्ञान का हम वरण करते हैं।

'गोपयत्यम्' के यास्क ने तीन अर्थ किये हैं—गोपायितव्यम्, गोपायितारो यूयं स्थ (यस्य तं) और युस्मभ्यं (गोपायितव्यम्)। तदनुसार मंत्र के क्रमशः तीनों अर्थ दर्शाये गये हैं ॥ १ ॥

६. अन्धः अन्ध इति अन्ननाम, आध्यायनीयं भवति। ... त्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः'। अमत्रं पात्रमगा ... न्नदन्ति, अमा पुनरनिर्मितं भवति। पात्रं पाना। तमोऽप्यन्ध

उच्यते, नास्मिन् ध्यानं भवति न दर्शनम् । 'अन्धन्तमः' इत्यभिभाषन्ते । अयमपीतरो ऽन्ध एतस्मादेव 'पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः' इत्यपि निगमो भवति ।

(क) अन्धस्-यह अन्नवाची है, यतः यह सर्वदा चिन्तनीय होता है। 'आङ्' पूर्वक 'ध्यै' चिन्तायाम् । आ ध्या असुन्—अन्धस् । उणादि-कोष में 'अद्' भक्षणे धातु से 'असुन्' प्रत्यय करके (४. २००) रूप-सिद्धि की गई है। अद्यते यत् तत् अन्धः । क्षीर स्वामी ने 'अन' धातु से 'अन्धस्' बनाया है, यतः यह जीवन-हेतु है। अनिति अनेन अन्धः ।

अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः ।
कामी हि वीरः सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि ॥ २.१४.१

देवता—इन्द्रः । (अध्वर्यवः इन्द्राय सोमं मद्यं अन्धः भरत) हिंसा-रहित यज्ञों के करने हारे मनुष्यो ! तेज-प्राप्ति के लिये दूध, सोम आदि सात्विक रस, तथा प्रसन्नताप्रद अन्न को धारण करो। (अमत्रेभिः आसिञ्चत) बड़े २ पात्रों से उस रस तथा अन्न का सेवन करो । (हि एषः कामी वीरः सदं अस्य पीतिं वष्टि) निश्चय से यह कामनावाला, वीर, तेजस्वी पुरुष सदा इस अन्नरस का सेवन चाहता है । (तत् इत् वृष्णे जुहोत) अतः, उसी अन्न रस को बलवीर्य सम्पन्न इन्द्र बनने के लिये ग्रहण करो ।

इन्द्र—'इन्ध' दीप्तौ । पीति = पान, भक्षण । **अमत्र** = बड़ा पात्र । 'अमा' अव्यय यद्यपि संस्कृत में इकट्ठे अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु यहां अनि-मित्-अमित, अर्थात् अधिक परिमाण के अर्थ में यास्क ने माना है । 'अमत्र' उस पात्र को कहते हैं जिस में मनुष्य अधिक परिमाण में खाते हैं, जिस पात्र में भोजन ज्यादा आ सकता हो। अमा अद्—अमत्र । अमा-'नञ्' पूर्वक 'मा' माने । **पात्र**—'पा' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय (उणा०४.१७०)। पात्र शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि यद्यपि 'पा' धातु पानार्थक है परन्तु यहां पान तथा भक्षण, दोनो अर्थों में अभिप्रेत है, अतः 'पात्र' शब्द अमत्र के लिये व्यवहृत किया गया है।

(ख) अन्धकार को भी 'अन्धस्' कहते हैं, यतः उस में किसी पदार्थ का ध्यान अर्थात् दर्शन नहीं होता । ध्यान = दर्शन । नञ ध्यै असुन्—अन्धस् । अन्धकार अर्थ में 'अन्धन्तमः' इत्यादि मंत्र कहते हैं ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥ यजु० ४०. १२

(ये अविद्यां उपासते अन्धन्तमः प्रविशन्ति) जो मनुष्य केवल कर्म की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में पड़े हुए हैं, (ये उ विद्यायां रताः ते ततः भयः इव तमः) और जो केवल ज्ञान में रत हैं, वे उस से भी अधिक अन्धेरे में प्रविष्ट हैं। यहां 'इव' पदपूर्ति के लिए है।

(ग) यह भी दूसरा अन्धे का वाचक 'अन्धस' शब्द इसी 'नञ्' पूर्वक 'ध्यै' से बना है। एनं ध्यानं दर्शनं न भवति, यतः इसे किसी पदार्थ का दर्शन नहीं होता।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥ १.१६४.१६

(सतीः स्त्रियः तान् उ मे पुंसः आहुः) जो सत्य विद्या को जानने हारी स्त्रियें हैं, कविलोग उन्हें मुझे पुरुष-तुल्य बतलाते हैं। (पश्यत् अक्षण्वान्) द्रष्टा विद्यावान् मनुष्य आंखों वाला है, (न विचेतत् अन्धः) और जो अच्छा ज्ञानवान् नहीं, वह अन्धा है। (यः पुत्रः कविः सः ईम् आचिकेत) जो अल्पवयस्क मनुष्य भी मेधावी हो, वह इस सत्य कथन को समझता है। और (यः ता विजानात् सः पितुः पिता असत्) और जो मनुष्य उन तत्त्वों को समझता है, वह वृद्ध मनुष्य का भी पितृवत् पूज्य होता है।

मन्त्र के अन्तिम भाव को मनुस्मृति (२.१५३) ने इस तरह कहा है—"अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मंत्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मंत्रदम्"॥१॥

७. असश्चन्ती 'असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती'। असज्यमाने इति वा, अव्युदस्यन्त्याविति वा। बहुधारे उदकवत्यौ।

असश्चन्ती = (क) असज्यमाने = पृथग्भूत, अलिप्त। **(ख)** अव्युदस्यन्त्यौ मिश्रित, संयुक्त। 'सश्च' धातु गत्यर्थक निघण्टु में पठित है। गति के ज्ञान गमन, प्राप्ति—ये तीन अर्थ होते हैं। प्राप्ति पक्ष में संगार्थक, और गमन पक्ष में प्रक्षेपणार्थ मान कर 'सश्चन्ती' की सिद्धि की है। और 'असश्चन्ती' उस का निषेध है। 'असश्चन्ती' प्रथमा विभक्ति का द्विवचनान्त है, पा०६. १. १०६ से 'औ' को पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होगया है। अव्युदस्यन्ती = नञ् वि उत् अस्यन्तौ।

असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते। राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम् ॥ ६.७०.२

देवता—द्यावापृथिव्यौ। (असश्चन्ती) परस्पर में संबद्ध, पर वास्तव में पृथक् २, (भूरिधारे) सब को धारण करने वाले, (पयस्वती) जल को पैदा करने हारे, (सुकृते) साधु निर्मित, (शुचि व्रते) और ठीक २ काम करने वाले सूर्य तथा पृथिवी लोक (घृतं दुहाते) जल को दोहते हैं। (अस्य भुवनस्य राजन्ती रोदसी यत् मनुर्हितम् रेतः अस्मे सिञ्चतम्) इस संसार के राजा ये सूर्य पृथिवी जो मनुष्यों के लिए हितकर जल है, उसे हमारे लिये बरसावें।

८. वनुष्यति

वनुष्यतिर्हन्तिकर्मानवगतसंस्कारो भवति। 'वनुयाम वनुष्यतः' इत्यपि निगमो भवति। 'दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः'। दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्। पापः पाताऽपेयानाम्, पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा, पापत्यतेर्वा स्यात्।

'वनुष्य' नाम-धातु हननार्थक है। 'वन' धातु हिंसार्थक भ्वादिगणी है, यहां कंड्वादिगणी मानकर 'यक्' और 'उस्' का आगम किया है। अथवा, निघण्टु में 'वनुष्य' धातु क्रोधार्थक पठित है, यहां हिंसार्थक मानी गई है।

यदिन्द्राग्नी जना इमे विह्वयन्ते तना गिरा। अस्माकेभिर्नृभिर्वयं सासह्याम पृतन्यतः। वनुयाम वनुष्यतो नभन्तामन्यके समे ॥८.४०.७.

(इन्द्राग्नी! यत् इमे जनाः तना गिरा विह्वयन्ते) हे ब्राह्मण प्रधानमंत्रिन्! तथा राजन्! जो ये उपस्थित प्रजाजन विस्तृत वाणी से—बहुसम्मति या सर्वसम्मति से—आपको राज्य-प्रबन्धार्थ निर्वाचित करते हैं, (वयं अस्माकेभिः नृभिः पृतन्यतः सासह्याम) वे हम अपने नेताओं के द्वारा सेना के साथ आक्रमण करने वाले शत्रुओं को बारंबार पराजित करें, (वनुष्यतः वनुयाम) और आततायिओं को नष्ट करें कि जिससे (समे अन्यके नभन्तां) सब दुश्मन दूर होजावें।

यदिन्द्रश्च अग्निश्च भूयिष्ठभाजौ देवतानां तस्माद् ब्राह्मणश्च राजा च भूयिष्ठभाजौ मनुष्याणाम्। (दुर्गाचार्य ५. ६६)।

यह ब्राह्मण वचन है, अतः 'इन्द्राग्नी' का अर्थ उपर्युक्त किया गया है।

इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्।
दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः॥ ७. ८२.१

देवता—इन्द्रावरुणौ। (इन्द्रावरुणा युवं नः अध्वराय विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्) राजन्! तथा अज्ञान-नाशक शिक्षाध्यक्ष! आप हमारे हिंसारहित यज्ञ के लिए प्रजाजन को पूर्ण सुख प्रदान करें। (यः दीर्घप्रयज्युं अतिवनुष्यति, वयं दुःध्यः पृतनासु जयेम) और जो दीर्घयज्ञ करने हारे पुरुष को अधिक सताता है, हम उस पाप-बुद्धि दुष्ट को युद्धों में जीतें।

इसी सूक्त के ७. ८२.२ मंत्र में इन्द्र, वरुण को क्रमशः सम्राट् और स्वराट् कहा है (सम्राडन्यः स्वराडन्यः उच्यते०)। ७.८४. २ में इन्द्र वरुण के विषय में यह कहा है कि तुम्हारी अध्यक्षता में राष्ट्र बड़ा खुश रहता है (युवो राष्ट्रं बृहत् इन्वति०)। और ७.८५.३ में कहा है कि एक वरुण प्रजा को पवित्र तथा विवेकी बनाता है, और दूसरा इन्द्र बलवान् शत्रुओं का हनन करता है [कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति]। एवं इस प्रकरण से इन्द्र वरुण का उपर्युक्त अर्थ ही ज्ञात होता है।

यज्युः = यजतीति यज्युः। 'यज्' धातु से 'युच्' [उणा० ३.२०]। प्र = प्रतत अर्थात् विस्तृत। दूढ्यः = दूढ्यं = दुर्धियं = पापधियं। दुर्धियः—दुःध्यः-दूढ्यः। दुर्धियं—दुःध्यं—दूढ्यं। यहां यास्क ने 'दूढ्यः' बहुवचनान्त को एकवचनान्त 'दूढ्यं' माना है।

पाप = (क) पाता अपेयानाम्, अर्थात् अरक्षणीय का रक्षक। पाता अपेयानाम्—पा·······प। [ख] पापत्यमानः अपाङ् एव पतति—पा·······प। जिस से २ बार पतित होता हुआ अधोगति को पहुंचता है वह पाप कहाता है। [ग] पापत्यतेः। यङ्लुगन्त 'पत्' धातु से यहां 'पाप की सिद्धि की गई है। इससे मनुष्य बारबार पतित होता है। उणादि-कोष में 'पा' धातु से 'प' प्रत्यय करके पाप सिद्ध किया गया है (३.२३)। पान्ति आत्मानं अस्मात् सः पापः।

९. तरुष्यति　**तरुष्यतिरप्येवङ्कर्मा। 'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्' इत्यपि निगमो भवति।**

'तरुष्य' नाम-धातु भी ऐसे अर्थवाली, अर्थात् हिंसार्थक हैं। यहां पर 'तृ' धातु हिंसार्थक मानकर पूर्ववत् 'यक्' 'उस्' से नाम-धातु मानी गई है।

ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि।
वाजो अस्माँ अवतु वाजसाताविन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् ॥ ७.४८.२

देवता—ऋभवः (ऋभुभिः ऋभुः यः अभिस्याम) सत्य से प्रकाशित विद्वानों द्वारा सत्यवक्ता हम तुम झूठों का विजय करें। (विभुभिः विभ्वः शवसा शवांसि) बलवानों द्वारा बलवान् हम अपने पराक्रम से शत्रुओं के पराक्रम मन्द करें। (वाजः अस्मान् वाजसातौ अवतु) ज्ञानी पुरुष हमारी संसाररूपी संग्राम में रक्षा करे। (इन्द्रेण युजा वृत्रं तरुषेम) और परमेश्वर के साथ युक्त होकर हम पाप को नष्ट करें।

१०. भन्दना भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः। 'पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः' इत्यपि निगमो भवति।
'स मन्दना उदियर्त्ति प्रजावतीः' इति च।

'भन्दना' स्तुत्यर्थक 'भदि' धातु से सिद्ध होता है। 'भदि' कल्याणे सुखे च धातु है, परन्तु वेद में स्तुत्यर्थक भी प्रयुक्त हुई है। अथवा स्तुत्यर्थक 'वदि' धातु से भी 'भन्दना' सिद्ध किया जा सकता है। वन्दना—भन्दना।

पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।
आविवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः ॥ ३.३.४

देवता—वैश्वानरोऽग्निः। (यज्ञानां पिता) यज्ञों का रक्षक, (विपश्चितां असुरः) तत्ववेत्ताओं का प्राणदाता, (वाघतां विमानं वयुनं च) तथा बुद्धिमानों से मान्य और प्रशस्य (अग्निः) सर्वनायक ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (भूरिवर्पसा रोदसी आविवेश) अनेकरूपों वाले द्यावापृथिवी में अन्तर्यामितया प्रविष्ट है। (पुरुप्रियः कविः धामभिः भन्दते) वह बहुप्रिय कवि अपने तेज से काव्य वेद का बखान करता है।

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीर्विश्वायुः विश्वाः सुभरा अहर्दिवि।
ब्रह्म प्रजावद्रयिमश्वपस्त्यं पीत इन्दविन्द्रमस्मभ्यं याचतात् ॥ ९.८६.४१

देवता—सोमः पवमानः। (सः विश्वायुः अहर्दिवि विश्वाः सुभराः प्रजावतीः भन्दनाः उदियर्त्ति) हे पावक सोम परमात्मन्! वह समस्त मनुष्यवर्ग अहर्निश सब उत्तम गुणों को धारण कराने वाली सृष्टिरचना विषयक तेरी स्तुतियें उच्चारण करता है। (इन्दो! पीतः प्रजावत् ब्रह्म, अश्वपस्त्यं रयिं, इन्द्रं अस्मभ्यं याचतात्) प्रकाशक परमेश्वर! प्राप्त किये

हुए आप उत्तम प्रजासहित ब्रह्म–ज्ञान, बल के भण्डार धन, और तेजस्वी जीवात्मा को हमें प्रदान कीजिए। इस मंत्र में परमेश्वर की स्तुति का फल सब उत्तम गुणों का धारण करना बतलाया गया है।

११. आहनः ‘अन्येन मदाहनो याहि तूयम्’। अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रमाहंसीवभाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहन इव भवत्येतस्मादाहनः स्यात्।

आहनः = आहंति = हे असभ्यभाषिणि। ‘आङ्’ पूर्वक ‘हन’ धातु से ‘असुन्’। असभ्य भाषण से दूसरे का दिल दुखाया जाता है। ‘अन्येन मदाहनः’ मंत्र का अर्थ दैवत–काण्ड के अन्त में यमयमी–सूक्त में देखिए।

१२. नदः ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः। ‘नदस्य मा रुधतः काम आगन्’। नदनस्य मा रुधतः काम आगमत् संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिण इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ॥ २ ॥

नद्र = ऋषि = स्तोता = वेदपाठी। यहां ‘नद’ धातु स्तुत्यर्थक मानी गई है:

‘नदस्य मा रुधतः’ मंत्र का अर्थ समझने के लिए इस के सारे सूक्त पर (ऋ० १.१७९) विचार करना अत्यावश्यक है, अन्यथा पाठकों को इस का महत्त्व ज्ञात नहीं होसकता। इस सूक्त का देवता ‘दम्पती’ है। अब आप क्रमशः सूक्त–गत मंत्रों का अर्थ देखिए—

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥ १ ॥

(अहं पूर्वीः शरदः) मैं प्रारम्भिक वर्षों से लेकर, अर्थात् विवाह—काल से लेकर (जरयन्तीः उषसः, दोषावस्तोः शश्रमाणा) आयु को क्षीण करने वाली उषा, तथा दिन रात श्रम करती रहूं, (अपि उ) यहां तक कि (जरिमा नु तनूनां श्रियं मिनाति) वृद्धावस्था ही शरीरों की कान्ति को नष्ट करे, और किसी अनियम से शरीर निस्तेजस्क न हों। (पत्नीः वृषणः जगम्युः) ऐसी धारणा युक्त पत्नियें वीर्यवान् पतियों को प्राप्त करती हैं।

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिः जगम्युः ॥ २ ॥

(ये चित् हि पूर्वे ऋतसापः आसन्) जो मनुष्य पहले, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्यायी रहे हों, (देवेभिः साकं ऋतानि अवदन्) और विद्वानों के साथ सत्य-वचनों को बोलते रहे हों, (ते चित् अव असुः) वे दुर्गुणों को छोड़ देते हैं; (नहि अन्तं आपुः) वे ब्रह्मचर्य का अन्त नहीं पाते। अर्थात्, वे गृहस्थ में भी ऋतुगामी होते हुए ब्रह्मचारी रहते हैं। (उ नु वृषभिः पत्नीः संजगम्युः) ऐसे ब्रह्मचारी वीर्यवान् पतियों से पत्नियें विवाह करें।

ऋतसाप—ऋत + सप स्पर्शने। अव असुः—'अव' पूर्वक 'षो' धातु विमोचनार्थक है (निरु० ८२ पृ०)।

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव॥ ३॥

दम्पती का निश्चय—(यत् मृषा श्रान्तं देवाः न अवन्ति) यतः, व्यर्थ श्रम करने वाले मनुष्य की ईश्वरीय नियम रक्षा नहीं करते, इस लिए (विश्वाः इत् स्पृधः अभ्यश्नवाव) हम दोनों संपूर्ण देवासुर-युद्धों को घेर लें, जीत लें। (यत् सम्यञ्चा मिथुनौ अभ्यजाव) यदि हम दोनों एक दूसरे का आदर करते हुए मिले रहें, (अत्र शतनीयं आजिं जयाव इत्) तो हम इस गृहस्थ में अनेक प्रकार के विषय भोगों की ओर ले जाने वाले इन्द्रिय-संग्राम को अवश्य जीत लेंगें।

ऋतुगामी न रह कर व्यर्थ श्रम करने से ईश्वरीय नियम शरीरों को क्षीण कर देते हैं, अतः स्त्री पुरुषों को उपर्युक्त प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

सम्यञ्च्—'सम्' पूर्वक पूजनार्थक 'अञ्चू'।

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥ ४॥

उपर्युक्त नियम के भङ्ग होने पर पत्नी पश्चात्ताप करती है—

(नदस्य रुधतः मा कामः आ अगन्) वेदपाठी ब्रह्मचारी पति के होते हुए मुझे काम उत्पन्न हुआ है। (इतः आजातः) क्या यह यहां मेरे अन्दर से ही पैदा हुआ है! (अमुतः कुतश्चित्) अथवा, किन्हीं बाह्य कामोत्पादक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न हुआ है! (लोपामुद्रा) जो यह ब्रह्मचर्य की मर्यादा को तोड़ने वाली (वृषणं नीरिणाति) वीर्यवान् पति के पास जाती है, (अधीरा श्वसन्तं धीरं धयति) और अधीर होकर महाप्राण वाले तथा ब्रह्मचर्य-व्रत से अविचलित चित्त वाले पति से गमन करती है।

मुद्रा = मर्यादा। शब्दकल्पद्रुम में 'समुद्र' का निर्वचन 'सह मुद्रया मर्यादया वर्तते' ऐसा किया है। रुधत् = संरुद्धप्रजनन = जितेन्द्रिय।

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुपब्रुवे ।

यत्सीमागश्चकृमा तत्सुमृळतु पुलुकामो हि मर्त्यः ॥ ५ ॥

यदि कभी प्रमादवश ऋतुगमन का व्रत भग्न होजावे, तो स्त्री पुरुष उस दुष्कर्म के लिए पश्चात्ताप करें, और बलदायक औषध का सेवन करके, उस निर्बलता को दूर करें—

(नु इमं अन्तितः सोमं) मैं इस पास रखे हुए ओषधि-सार को (हृत्सु पीतं) जी भरके पीकर (उपब्रुवे) कहता हूं (यत् सीम् आगः चकृम) कि जो मैंने दोष उत्पन्न किया है, (तत् सुमृडतु) उसको यह औषध दूर करके कल्याण करे, (हि पुलुकामः मर्त्यः) क्योंकि हम स्त्री या पुरुष बहुत कामी बन गये हैं ।

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः ।

उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम ॥ ६ ॥

(खनित्रैः खनमानः) जैसे कृषक खनित्र-साधनों से भूमि को भलीप्रकार खोद कर, और ऋतु अनुसार उत्तम बीज को डाल कर उत्तम अन्न पैदा करता है, (अगस्त्यः) एवं जो ऋतुगामी होकर (प्रजां अपत्यं) श्रेष्ठ सन्तान (बलं इच्छमानः) और पति पत्नी में बल की इच्छा रखता हुआ, (ऋषिः उग्रः उभौ वर्णौ पुपोष) तत्वदर्शी और तेजस्वी पुरुष, एक दूसरे को वरण करने से अपना और पत्नी इन दोनों वर्णों का पोषण करता है, (सत्याः आशिषः देवेषु जगाम) वह देवजनों से सच्चे आशीर्वादों को प्राप्त करता है ।

अगस्त्य—ये धर्मादन्यत्र न गच्छन्ति न अगस्तयः, तेषु साधु अगस्त्यः (स्वामी जी) । 'नञ्' पूर्वक 'गम्' से 'ति' (उणा० ४. १८०) । प्रजा—प्रकृष्टं जायत इति प्रजा । देवेषु = देवेभ्यः । 'उभौ वर्णौ' से यह भाव स्पष्टतया अभिव्यक्त होता है कि विवाह संबन्ध उन्हीं स्त्री पुरुषों में होना चाहिए, जिन्हों ने एक दूसरे को वरण किया हो ॥२॥

१३. अक्ताः

'न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः' । अश्नोतेरित्येवमेके ।

'अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः' । क्षियतिनिगमः पूर्वः, क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके । अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति । सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः ।

निघण्टु में 'सोमो अक्षाः' पाठ है। 'अक्षाः' के साथ 'सोमः' का पाठ मंत्रों में इन के संबन्ध को जतलाने के लिए दिया है। **अक्षाः** = अश्नुते, क्षरति, क्षियति। 'अशूङ्' व्याप्तौ लिङ्, 'अक्षीष्ट' की जगह 'अक्षाः'। 'क्षर' संचलने लुङ् 'अक्षारीत्' की जगह 'अक्षाः'। 'क्षि' निवासे लुङ् 'अक्षैषीत्' की जगह 'अक्षाः'।

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि॥ १०.८९.६

देवता—इन्द्रः। (यस्य द्यावापृथिवी न) जिस परमेश्वर की महिमा को द्युलोक पृथिवीलोक नहीं पाते, (धन्व न) समुद्र नहीं पाता, (अन्तरिक्षं न) अन्तरिक्ष नहीं पाता. (अद्रयः न) पर्वत नहीं पाते, (सोमः अक्षाः) उस की महिमा को शान्त जीव पा लेता है। (यत् अस्य अधिनीयमानः मन्युः) जिस महिमा से इस परमेश्वर का प्राप्त हुआ मन्यु (वीडु शृणाति, स्थिराणि रुजति) अभिमानिओं को शीर्ण करता है, और कठोरचेतायों को भग्न करता है।

इस मंत्र में दर्शाया गया है कि यह महान् सूर्य, पृथिवी, समुद्र और विशाल पर्वत आदि भी परमेश्वर की महिमा को नहीं पाते, परन्तु शान्त जीवात्मा पा लेता है।

शाकपूणि आचार्य 'अक्षाः' निवासार्थक मानता है। उस के पक्ष में 'यस्य' को 'यस्मिन्' अर्थ में मानकर मंत्र का यह अर्थ होगा—

जिस परमेश्वर में द्यावापृथिवी निवास नहीं करते, जिस में समुद्र निवास नहीं करता, जिस में अन्तरिक्ष निवास नहीं करता, जिस में पर्वत निवास नहीं करते, उस परमेश्वर में शान्त जीव निवास करता है।

अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन्मन्दी मदाय तोशते॥ ९. १०७.९

देवता—पवमानः सोमः। (अनूपे गोमान् गोभिः अक्षाः) जब जलप्राय देश में गो-स्वामी गायों के साथ निवास करता है, (दुग्धाभिः सोमः अक्षाः) तब दोही हुई गायों से भी दूध झरता रहता है। (समुद्रं न संवरणानि अग्मन्) जैसे जल चहुं ओर से समुद्र को प्राप्त होते हैं, एवं भक्षण किए हुए घासादिक का रसरूप दूध गाय के स्तनों में प्राप्त होता रहता है। (मन्दी मदाय तोशते) तब प्रसन्न-वदन गोस्वामी तेज धारण करने के लिए निर्बलता आदि को दूर करता है।

इस अर्थ के अनुसार कई आचार्य पहला 'अक्षाः' निवासार्थक, तथा दूसरा क्षरणार्थक मानते हैं। दुग्धाभिः = दुग्धाभ्यः। नितोशते = हन्ति (निघण्टु)। शाकपूणि आचार्य तीनों स्थलों में प्रयुक्त 'अक्षाः' शब्द को निवासार्थक

मानता है। पहले स्थल में निवासार्थक मानने से मंत्र का क्या अर्थ होगा, वह लिखा जा चुका। दूसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

जल-प्राय देश में जब गोस्वामी गायों के साथ निवास करता है, तब दोहीं हुई गायों में भी दूध रहता है। दुग्धाभिः = दुग्धासु।

'अनूप' का लक्षण अमरकोश की टीका में इस प्रकार किया है—

नानाद्रुमलतावीरुन्निर्झरप्रान्तशीतलैः।
वनैर्व्याप्तमनूपं तत् सस्यैर्व्रीहियवादिभिः॥

निरुक्त में 'अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः'–इस के आगे 'लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः'–यह पाठ और दिया हुआ है। यहां पर इस पाठ का देना अप्रासङ्गिक है। यह पाठ ऋ.१०.२८.४ मंत्र का भाग है। ज्ञात होता है कि यह लेखक के प्रमाद से यहां लिखा गया है। यास्क ने इस मंत्र-भाग की व्याख्या यहां पर नहीं की। पता लगता है कि किसी लेखक ने 'अत्साः' की जगह पर 'अक्षाः' समझ कर नोट के तौर पर यह मंत्र लिख रखा होगा।

१४. श्वात्रम्

श्वात्रमिति क्षिप्रनामाशु अतनं भवति। 'स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः'। स पतति च इत्वरं स्थावरं जङ्गमञ्च यत् तत् क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः।

'श्वात्रम्' यह क्षिप्रवाची है। आशु च तत् अतनं, अर्थात् वह शीघ्र और सततगन्ता है। शु आ अत् र–श्वात्र। निघण्टु में धन को भी 'श्वात्र' कहा गया है यतः वह आशुयायी अर्थात् चञ्चल होता है। 'आशु' और 'शु' समानार्थक हैं (निरु०६.१)।

यो होतासीत्प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येनावृणानाः।
स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः॥ १०.८८.४

देवता—जातवेदाः अग्निः। (यः प्रथमः देवजुष्टः होता आसीत्) जो अनादि, विद्वत्सेवित सृष्टिकर्ता है, (यं आज्येन आवृणानाः समाञ्जन्) जिसको भक्ति रूपी हवि से भजते हुए भक्तजन अपने हृदयों में प्रदीप्त करते हैं, (सः जातवेदाः अग्निः) उस सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर ने (यत् पतत्रि इत्वरं, स्था जगत्, श्वात्रं अकृणोत्) जो उड़ने वाले और चलने वाले, तथा स्थावर और जङ्गम पदार्थ हैं, उन सब को शीघ्र पैदा किया।

आज्य = 'आङ्' पूर्वक 'अञ्जु' । आवृणानाः—'वृङ्' संभक्तौ ।

१५. ऊतिः

ऊतिरवनात् । 'आ त्वा रथं यथोतये' इत्यपि निगमो भवति ।

'ऊति' शब्द 'अव' रक्षण गति कान्ति प्रीति तृप्त्यवगम प्रवेश श्रवण स्वाम्यर्थ याचन क्रियेच्छा दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन हिंसा दान भाग वृद्धिषु—इस धातु से सिद्ध होता है । यह 'ऊति यूति जूति' इत्यादि [पा० ३. ९७] सूत्र से सिद्ध किया गया है । 'अव' धातु के रक्षा, गति, शोभा, प्रीति, तृप्ति, बोध, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, याचन, क्रिया, इच्छा, तेज, प्राप्ति, आलिङ्गन, हिंसा, आदान, भजन और वृद्धि—ये १९ अर्थ हैं । पाठकों को इन अर्थों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते ॥ ८.६८.१

देवता—इन्द्रः । (शविष्ठ सत्पते इन्द्र !) अतिशय बल वाले, सज्जन-रक्षक राजन् ! (तुविकूर्मिं ऋतीषहं त्वा) बहुकर्मा तथा सत्य से बलवान् तुझ को (रथं यथा ऊतये, सुम्नाय आवर्त्तयामसि) गाड़ी की न्याई रक्षा के लिये, गति के लिये, वृद्धि के लिये और सुख के लिये प्राप्त करते हैं ।

'वृत्' धातु, निघण्टु में गमनार्थक पठित है ।

१६. हासमाने
१७. पड्भिः

हासमाने इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

हासमाने' की व्याख्या आगे (९.३२) करेंगे ।

'वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम्' । पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा ।

पड्भिः = पानैः, रक्षाओं से; स्पाशनैः—रोकने से या स्पर्शनों से । 'पा' रक्षणे या 'स्पश' बाधनस्पर्शनयोः से 'पट्' सिद्ध किया गया है ।

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम् ।
स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः ॥१०.९९.१२

देवता—इन्द्रः । (एवा महः असुर ! वक्षथाय वम्रकः पड्भिः इन्द्रं उपसर्पत्) एवं, हे महान् प्रज्ञानघन ! ज्योति के लिये तीनों एषणाओं को उगलता हुआ सत्यासत्य आत्मसंरक्षणों, इन्द्रियों को विषयों से रोकने या

सद्गुण-स्पर्शनों से तुझ परमेश्वर के निकट पहुंचता है। (सः श्यानः अस्मै स्वस्ति करति) वह प्राप्त किया हुआ इन्द्र इस योगी के लिये कल्याण प्रदान करता है। (इषं, ऊर्जं, सुक्षितिं विश्वं आभाः) और इस के लिये ज्ञान, बल, और उत्तम निवास मोक्षधाम—ये सब कुछ प्रदान करता है।

बौद्ध धर्म में सन्यासी के लिये वान्ताश (जिसने सब आशायें, इच्छायें उगल दी हैं) होने का बड़ा वर्णन आता है। ऋ.१.५१.९ में स्वामी जी ने 'वम्र' का अर्थ 'अधर्मस्योद्गिरकः' किया है।

१८. ससम् 'ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम्'। स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनं तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम्।

ससं = स्वपनं, अर्थात् नित्य न दीखने वाली मेघस्थ विद्युत्। 'षस' धातु से 'अच्' प्रत्यय।

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः॥ १०.७९.३

देवता—अग्निः। (कुमारः मातुः प्रतरं गुह्यं इच्छन्) हृष्टपुष्ट अग्नि स्वरूप तेजस्वी बच्चा माता के प्रकृष्ट स्तन्यपान की इच्छा करता हुआ (उर्वीः वीरुधः न प्रोपसर्पत) पृथिवीजन्य अन्नों वा ओषधियों के समीप नहीं जाता। (रिपः उपस्थे अन्तः रिरिह्वांसं) एवं, माता की गोद में दूध चूंगते हुए बच्चे को पिता (पक्वं ससं न शुचन्तं अविदत्) प्रकटित/विद्युत् की न्याईं शोभायमान/पाता है।

'रिप्' पृथिवीवाची निघण्टु में पठित है, और पृथिवी शब्द माता के लिये प्रयुक्त होता है, जैसे 'द्यौर्मे पिता जनिता' इत्यादि मंत्र में प्रयुक्त है।

इस मंत्र में बच्चे के लिये वर्षा-काल-जन्य विद्युत् की उपमा विशेष महत्त्व रखती है। जैसे ९,१० मास विद्युत् अपक्व रहती है, और वर्षाऋतु आने पर प्रकटित होती है, एवं बच्चा ९, १० मास माता के गर्भ में रहता हुआ स्वपन अवस्था में-अप्रकटित दशा में— होता है, और तत्पश्चात् उत्पन्न होने पर पक्वावस्था में आता है।

१९. द्विता 'द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः'। द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थाने उत्तमे च। शम्भुः सुखभूः।

यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः।
तस्यानु धर्म प्रयजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ ॥ ३.१७.५

देवता—अग्निः। (अग्नेः यः त्वत् होता, पूर्वः, यजीयान्, द्विता च सत्ता स्वधया च शंभुः) हे विद्वान्! जो तेरा दाता, सनातन, तथा सृष्टि-यज्ञ रचने वालों में श्रेष्ठतर परमेश्वर है, और जिस की सत्ता सब के अन्दर और बाहर दोनों प्रकार से है, तथा जो पृथिवी द्वारा सुख पहुंचाने वाला है, (तस्य धर्म अनुप्रयज) उसके वेदोक्त धर्म के अनुकूल उत्तम यज्ञ कर। (अथ चिकित्वः! देववीतौ नः अध्वरं धाः) एवं, हे ज्ञानवान्! दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये हमारे हिंसारहित यज्ञ को धारण कर।

ईश्वर और जीव—ये दोनों चेतन सृष्टिकर्ता हैं। परन्तु परमेश्वर दोनों में श्रेष्ठतर है, अतएव 'यजीयान्' में 'ईयसुन्' प्रत्यय किया गया है।

द्विधा—द्विता। मध्ये भवः मध्यमः = सब के अन्दर रहने वाला। उत्तमः, ऊपर रहने वाला, अर्थात् सब के बाहर रहने वाला।

२०. व्राः

'मृग न व्रा मृगयन्ते'। मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः ॥३॥
गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते।
अभित्सरन्ति धेनुभिः ॥८.२.६

देवता—इन्द्रः। (यत् ईम् अस्मत् अन्ये व्राः मृगं न मृगयन्ते) यद्यपि इस अन्वेषणीय इन्द्र को हमारे से भिन्न दूसरे संस्कारहीन मनुष्य, जैसे नौकर शिकार में सिंहादिक को ढूडते हैं, एवं शास्त्रों से ढूंढते हैं, तथापि वे (धेनुभिः अभित्सरन्ति) उन शास्त्रों से छद्मवेष को ही धारण करते हैं, परमेश्वर को नही ढूंडते।

व्रात्यः—व्राः। 'व्रात्य' शब्द प्रैषवाची-भृत्यवाची है। और जो जन्म से तो द्विज हो, परन्तु उपनयन संस्कार से हीन होने के कारण द्विज-धर्म से पतित होकर गुणकर्म से शूद्र बनगया हो, उसे भी व्रात्य कहते हैं, जैसे मनुस्मृति [२. ३९] में व्रात्य का लक्षण करते हुए यह कहा है—अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकाल-मसंस्कृता। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३॥

२१. वराहः

वराहो मेघो भवति वराहारः। 'वरमाहारमाहार्षीः' इति च ब्राह्मणम्। 'विध्यद्वराहं तिरो

अद्रिमस्ता इत्यपि' निगमो भवति। अयमपीतरो वराह एतस्मादेव, बृहति मूलानि, वरं वरं मूलं बृहतीति वा। 'वराहमिन्द्र एमुषम्' इत्यपि निगमो भवति। अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः'। अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते। 'पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्'।

(क) वराह का अर्थ मेघ होता है, क्योंकि इस से उत्तम आहार—श्रेष्ठ जल प्राप्त होता है। उत्तम आहाररूपी जल को तू आहरण करता है—यह वचन मेघ के लिये ब्राह्मण में भी प्रयुक्त हुआ है। वराहार-वराह।

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ १.६१.७

देवता—इन्द्रः। (अस्य इत् उ मातुः सवनेषु) इसी जगन्निर्माता परमेश्वर के ऐश्वर्यों में स्थित (पपिवान् सद्यः महः पितुं, चारु अन्ना मुषायत्) रसपान करने वाला सूर्य शीघ्रता से महान् जल को, तथा उत्तमोत्तम अन्नों के रस को, चोर की न्याईं गुप्त भाव से चुराता है, (सहीयान् विष्णुः पचतं अद्रिं वराहं विध्यत् तिरः अस्ता) और फिर तेजस्वी विष्णु सूर्य परिपक्व तथा पर्वताकार मेघ को छिन्नभिन्न करता हुआ नीचे की ओर फेंकता है।

(ख) यह भी दूसरा पर्वत-वाची 'वराह' इसी उपर्युक्त निर्वचन से सिद्ध होता है। (१) पर्वत में श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। (२) मूल पदार्थों को पर्वत से मनुष्य उखाड़ता है। मूलानि वृहति अस्मात्, 'वृहू' उद्यमने। (३) अथवा यहां से मनुष्य उत्तमोत्तम मूल पदार्थों को उखाड़ता है। वर बृह—वराह। पर्वतों में कन्द तथा आलू आदि मूल वस्तुयें उत्तम तथा आधिक्य से उपजती हैं।

द्वितीयाध्याय के २२ वें खण्ड में मेघवाची शब्दों का निर्देश करते हुए यास्क ने 'वराह' के भी मेघ तथा पर्वत-ये दो अर्थ जतलाये हैं। अतः, इस स्थल में 'अयमपीतरो वराहः' से दूसरा 'वराह' पर्वतवाची ही लेना चाहिए, सूकर-वाची नहीं। दुर्गाचार्य आदिक भाष्कारों को सूकरवाची मानने में भ्रान्ति हुई है।

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥ ८.७७.१०

देवता—इन्द्रः। (उरुक्रमः त्वेषितः विष्णुः इन्द्रः) बहुत पराक्रमी, तेजस्वी,

तथा उत्तम गुणों को प्राप्त किया हुआ सेनापति (एमुषं वराहं) चोरों के निवासस्थान पर्वत प्रदेश को जीत कर (शतं महिषाङ्, क्षीरपाकं ओदनं ता विश्वा इत् आ अभरत्) अनेक प्रशस्त पदार्थों, और दूध में पकाए जाने वाले चावल इत्यादि सभी वस्तुओं को धारण करता है।

एमुषः = आमुषः, आ अधिष्ठिताः मुषाः मोषका अत्र। 'महिष' शब्द महाङ् अर्थ में निघण्टु-पठित है। 'एमुषं वराहं' इसके आगे 'विजित्य' का अध्याहार किया गया है, जैसे कि चरक-ब्राह्मण से प्रतीत होता है—

'अयं वराहो वामामुष एकविंशत्या पुरां पारे ऽश्ममयीनां वसति। तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति तमिमं जहीति । अर्थात् यह पर्वत प्रदेश जो कि प्रशस्त पदार्थों के चोरों का निवासस्थान है, और जो इक्कीस प्रकार के पाषाण-निर्मित दुर्गों के अन्दर बसा हुआ है, उस प्रदेश में दुष्ट-जनों का प्रशस्त धन है, उस पर्वत प्रदेश को नष्ट कर।

(ग) 'अङ्गिरस्' अर्थात् तेजस्वी जन भी 'वराह' नाम से पुकारे जाते हैं, क्योंकि इनका आहार सात्विक होता है—

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं विधनसैरदर्दः।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ १०. ६७. ७

देवता—ब्रह्मणस्पतिः। (सः ब्रह्मणस्पतिः) वह वेद-ज्ञाता (सत्येभिः, सखिभिः, शुचद्भिः, विधनसैः, वृषभिः, वराहैः, घर्मस्वेदेभिः गोधायसं अदर्दः) सत्यवादी, मित्र, पवित्र, त्यागी, बलवान्, सात्विक-अन्नसेवी, और यत्नों से स्वेद युक्त अङ्गिरस् लोगों के साथ वेदपति परमेश्वर का आदर करता है, और इस परमेश्वर-पूजा से (द्रविणं व्यानट्) आत्मिकबल को प्राप्त करता है।

एवं, इस मंत्र में 'वराह' अङ्गिरस् का विशेषण है। यद्यपि यहां 'अङ्गिरस्' शब्द प्रयुक्त नहीं, परन्तु इसी सूक्त के दूसरे मंत्र में 'अङ्गिरस्' शब्द प्रयुक्त है, उसी का संबन्ध संपूर्ण सूक्त में है। वह मंत्र इस प्रकार है—

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

सत्य की प्रशंसा करने वाले, धर्म-मार्ग का ध्यान करने वाले, और तेजस्वी तथा ज्ञानी मनुष्य के वीर पुत्र तेजस्वी लोग विप्र-पद को धारण करते हुए पूज्य परमेश्वर के मुख्यस्थान मोक्ष-धाम की इच्छा करते हैं।

निघण्टु में 'मन्' धातु इच्छार्थक पठित है।

(घ) और ये मध्यमस्थानीय 'मरुतः' नामी देवगण 'वराहु' नाम से पुकारे जाते हैं। 'मरुतः' देवता के बारे में निरुक्त ११.८ देखिए।

एतत्त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो वः।
पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्॥ १.८८. ५

देवता—मरुतः। (मरुतः! एतत् योजनं त्यत् न अचेति) हे राजपुरुषो! यह शुभ दिन और पवित्र बुद्धि का योग, उस पूर्व मंत्रोक्त की न्याईं तुमने भली प्रकार जान लिया, (यत् हिरण्यचक्रान्, अयोदंष्ट्रान् वराहून् विधावतः वः पश्यन् गोतमः ह सस्वः) यतः, चमकीले चक्रों वाले, लोहनिर्मित आयुधों से युक्त, सात्विक-आहारसेवी और इतस्ततः गति करने वाले तुम पुरुषार्थिओं को देख कर वेदवेत्ता ब्राह्मण ने तुम्हें उपदेश दिया है।

दंशनसाधना ऋष्टयो दंष्ट्राः—(सायणाचार्य)। सस्वः—'स्वृ' शब्दोपतापयोः। शुभ दिनों और पवित्र बुद्धि का योग वेदाध्यन से होता है, यह पहले मंत्र में बतलाया गया है, जो इस तरह है—

अहानि गृध्राः पर्या व आगुरिमां धियं वार्कार्य्यां च देवीं।
ब्रह्म कृण्वन्तो गोतमासो अर्कैरूर्ध्वं नुनुद्र उत्सधिं पिबध्यै॥

(ब्रह्म कृण्वन्तः गृध्राः गोतमासः) हे मनुष्यो! वेदाध्यापन करते हुए मंगलाभिलाषी ब्राह्मण लोग, (पिबध्यै उत्सधिं अर्कैः ऊर्ध्वं नुनुद्रे) जैसे जलपान के लिए कूपप्रदेश को ऊंचा उठाया जाता है, एवं सुख-भोग के लिए वेद-मंत्रों द्वारा तुम्हें ऊपर उठाते हैं, जिस से (वः अहानि परि आ अगुः) तुम्हारे लिए वे ब्राह्मण लोग शुभ दिनों को प्राप्त कराते हैं, (वार्कार्य्यां देवीं च इमां धियं च) और जल की न्याईं निर्मल, तथा देदीप्यमान इस बुद्धि को प्राप्त कराते हैं।

२२. स्वसराणि स्वसराण्यहानि भवन्ति स्वयंसारीणि, अपिवा स्वरादित्यो भवति स एनानि सारयति। 'उस्रा इव स्वसराणि' इत्यपि निगमो भवति।

स्वसर शब्द दिन-वाची है, क्योंकि यह स्वयं प्राप्त होता है, स्वयंसर-स्वसर। अथवा 'स्वः' अर्थात् आदित्य इन्हें प्राप्त कराता है स्वःसार—स्वसर।

विश्वेदेवासो अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः। उस्रा इव स्वसराणि॥१.३.८

देवता—विश्वेदेवाः। (अप्तुरः, तूर्णयः विश्वेदेवासः!) शुभ-कर्मों को

शीघ्र करने हारे और सदा फुर्तीले सब विद्वान् लोगो ! (स्वसराणि उस्राः इव) जैसे प्रकाशित करने के लिए दिनों को सूर्यरश्मियें प्राप्त होती हैं, (सुतं आगन्त) एवं पुत्रवत् वर्तमान मनुष्य-वर्ग का विद्या से प्रकाशित करन के लिए प्राप्त होवो ।

२३. शर्याः शर्या अङ्गुलयो भवन्ति, सृजन्ति कर्माणि । शर्या इषवः शरमय्यः । शरः शृणातेः । 'शर्य्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः' इत्यपि निगमो भवति ॥ ४ ॥

'शर्या' अङ्गुलियों का वाची है, क्योंकि इन से कर्म किये जाते हैं । 'सृज्' धातु से सर्जा—शर्या । 'शर्या' का दूसरा अर्थ इषु है, क्योंकि यह शरमय अर्थात् सरकण्डे का बना हुआ होता है । गोपयसोर्यत्, और द्रोश्च (पा०४.३.१६१,१६२) इन सूत्रों से गो, पयस् और द्रु—इन्हीं शब्दों से विकारार्थक 'यत्' प्रत्यय किया गया है, परन्तु यहां 'शर' शब्द से 'यत्' प्रत्यय किया गया । 'शॄ' हिंसायां से 'शर' सिद्ध होता है ।

अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् ।
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ ६.११०.५

देवता—पवमानः सोमः । (कञ्चित् अक्षितं जनपानं उत्सं न) जैसे कोई परोपकारी सज्जन किसी न सूखने वाले कूप को मनुष्यों के जलपानार्थ बनाता है, एवं हे जगदुत्पादक पावक प्रभो ! (हि अभिश्रवसा अभिततर्दिथ) निश्चय से आप प्रभूत अन्न के निमित्त से उत्स अर्थात् मेघ का निर्माण करते हो, (गभस्त्योः शर्याभिः न भरमाणः) और जैसे परोपकारी सज्जन बाहुओं की अंगुलिओं से अर्थात् अपने हाथ से तृषार्त मनुष्य को जल प्रदान करता है, एवं आप सूर्य के रश्मि-बाणों से वृष्टिद्वारा जल प्रदान करते हो ॥ ४ ॥

२४. अर्कः अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति । अर्को मंत्रो भवति, यदनेनार्चन्ति । अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति संवृत्तः कटुकिम्ना ।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे । १०.१०.१

गायन्ति त्वा गायत्रिणः,प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणः, ब्राह्मणा-

स्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे । वंशो वनशयो भवति, वननाच्छ्रूयत इति वा ।

(क) 'अर्क' पूज्यदेव को कहते हैं, यतः इसको पूजते हैं। (ख) अर्क वेदमंत्र का वाची है, यतः इस के द्वारा देव को पूजते हैं। (ग) अर्क अन्नवाची है, यतः यह प्राणियों को पूजता है-उनकी रक्षा करता है। (घ) अर्क अर्क वृक्ष का वाचक है, यतः यह कड़ुवेपन से संयुक्त है। पहले तीन अर्थ 'अर्च' पूजायां धातु से क्रमशः कर्म, करण और कर्ता कारक में उणा०३.४०. से 'क' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। अर्च् क—अर्क् क—अर्क। और अर्क-वृक्ष वाची 'अर्क' शब्द 'संवृत्तः कटुकिम्ना' का संक्षिप्त रूप है। संवृत्तः कटुकिम्ना—अ क—अर्क।

उपर्युक्त मंत्र का देवता इन्द्र है। (गायत्रिणः त्वा गायन्ति) हे परमेश्वर! गायक लोग आप का ही गान करते हैं, (अर्किणः अर्कं अर्चन्ति) वेदपाठी लोग पूज्यदेव आपको पूजते हैं; (शतक्रतो! ब्रह्माणः त्वा वंशं इव उद्येमिरे) अनन्तज्ञान वाले! ब्राह्मणलोग आप को झण्डे की न्याईं ऊपर उठाते हैं।

इस स्थल पर 'वंश' शब्द वंशनिर्मित झण्डे का द्योतक है। एवं 'अर्किणः' में 'अर्क' मंत्रवाची, और 'अर्कम्' में देववाची है। बांस को 'वंश' इस लिये कहते हैं कि यह वन में पैदा होता है, और संभजन से अर्थात् अधिक उपयोगी होने से प्रसिद्ध है। वनशय-वन्श-वंश। वच्छ्रु—वन्श—वंश।

२५. पविः पवी रथनेमिर्भवति यद्विपुनाति भूमिम् । 'उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा' 'तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः' इत्यपि निगमौ भवतः ।

'पवि' शब्द रथचक्र के घेरे का वाचक है, यह भूमि को उखाड़ता है। पू' धातु से 'इ' प्रत्यय (उणा०४.१३८)।

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः ।
उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा ॥५.५२.९

देवता—मरुतः । (उत ते परुष्ण्यां ऊर्णाः शुन्ध्यवः वसत) और वे मनुष्य पर्वों (तहों) वाली भूमि अर्थात् पर्वत प्रदेश पर सुरक्षित तथा

शुद्धता पूर्वक निवास करें, (उत रथानां पव्या ओजसा अद्रिं भिन्दति) और यानों की नेमि के लिये, अर्थात् यान चलाने के लिये पराक्रम से पर्वत को तोड़ें।

पव्याः = पव्यै, चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी विभक्ति है।

'तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः'—यह वचन कहां का है, ज्ञात नहीं।

२६. वक्षः
२७. धन्व

वक्षो व्याख्यातम्। धन्वान्तरिक्षं, धन्वन्त्यस्मादापः। 'तिरो धन्वातिरोचते' इत्यपि निगमो भवति।

'वक्षः' की व्याख्या की जा चुकी है (४.२४)। 'धन्वन्' शब्द अन्तरिक्षवाची है, यतः इससे जल प्राप्त होता है। 'धवि' गतौ धातु से 'कनिन्' प्रत्यय (उणा०१.१५६)।

य: परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते।
स नः पर्षदतिद्विषः ॥ १०.१८७.२

देवता—अग्निः। (यः परस्याः परावतः) जो सूर्य बहुत दूर से (तिरः धन्व अतिरोचते) शीघ्र अन्तरिक्ष का अतिक्रमण करके प्रकाशमान है, (सः नः द्विषः अतिपर्षत्) वह हमारे दुश्मनों को बहुत दूर करे।

सूर्य रोगक्रिमिओं, अन्धकार, चोर डाकू और हिंसक पशु आदि अनेक दुश्मनों को दूर करता है।

२८. सिनम्

सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि। 'येन स्म सिनं भरथः सखिभ्यः' इत्यपि निगमो भवति।

'सिन' अन्नवाची है, यतः यह प्राणियों को बांधता है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में भी जीवात्मा की रज्जु अन्न बतायी गयी है (४अध्या०-४ का० ५ वर्ग०८०)। 'षिञ्' बन्धने से 'नक्' (उणा०३.२)।

इमा उ वां भृमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या अभूवन्।
क्व त्यदिन्द्रावरुणा यशो वां येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः ॥ ३.६२.१

देवता—इन्द्रावरुणौ। (इन्द्रावरुणा उ इमाः मन्यमानाः वां भृमयः) हे दीप्यमान प्रभावान्वित तथा निर्वाचित राजन् ! और यह तुम्हें मानने वाली तुम्हारी भ्रमणशील प्रजा (युवावते तुज्याः न अभूवन्) यौवन वाले, अर्थात् प्रबल शत्रु के लिए हिंसनीय न होवें। (वां त्यत् यशः क्व) तुम्हारा वह प्रताप कहां है ? (येन स्म सखिभ्यः सिनं भरथः) जिस से मित्रों के लिये

मन्न आहरण करते हो ।

इस मंत्र में दर्शाया गया है कि प्रधानमंत्री और राजा का धर्म है कि वे पर-राष्ट्र में गए हुए प्रजा-जनों की वहां भी पूर्ण रक्षा करें, और ऐसा न हो कि उस राष्ट्र के शत्रु के प्रबल होने से उन प्रजा-जनों की उपेक्षा की जावे।

२९. इत्था । ३०. सचा — इत्थाऽमुथेत्येतेन व्याख्यातम् । सचा सहेत्यर्थः। 'वसुभिः सचाभुवा' वसुभिःसहभुवौ।

इत्था की व्याख्या अमुथा से समझ लें (देखो ३.१६,४. ५४)

इत्था—(क) 'अदस्' से इवार्थ में 'थाल्' प्रत्यय करने से इत्था 'सिद्ध' होगा । (ख) 'इदम्' से भी 'थाल्' करने पर इत्था सिद्ध होता है। (ग) 'इदम्' शब्द से 'था हेतौ च छन्दसि' (पा० ५. ३. २६) से हेतु और प्रकारवचन में 'था' प्रत्यय करने पर भी इत्था बनता है । (घ) 'अदस्' से सप्तमी के अर्थ में 'था' प्रत्यय । एवं, इत्था निपात के क्रमशः ये पांच अर्थ हुए—उसकी न्याईं, इसकी न्याईं, इस हेतु से, इस प्रकार और वहां पर । संस्कृत—साहित्य में केवल चौथे अर्थ में 'इत्थं' प्रयुक्त होता है । निघण्टु में (३.१०) 'इत्था' शब्द सत्यवाची पठित है ।

'सचा' यह निपात 'सह' अर्थ में है ।

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥ ८.३५.१

देवता—अश्विनौ । (सजोषसा अश्विना ! अग्निना, इन्द्रेण, वरुणेन, विष्णुना, आदित्यैः, रुद्रैः, वसुभिः, उषसा, सूर्येण च सचाभुवा) सब से प्रीति करने वाले स्त्री पुरुषो ! तुम अग्नि, वायु, जल, परमात्मा, आदित्य रुद्र वसु ब्रह्मचारियों, उषाकाल और सूर्य के साथ रहते हुए (सोमं पिबतम्) ऐश्वर्यपान करो ।

३१. चित् — चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः । 'चिदसि मनासि धीरसि' । चितास्त्वयि भोगाः, चेतयस इति वा ।

'चित्' यह अनुदात्त निपात पहले ही (१.४,२.१६) व्याख्यात होचुका है ; परन्तु यह 'चित्' उदात्तस्वर में पशुवाची होता है, जैसे इस मंत्र में है—

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी । सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनः पात्विन्द्रायाध्यक्षाय यजु० ॥ ४. १९

देवता—वाक्। हे वेदवाणी! तेरे में सब प्रकार के भोग संचित हैं अथवा तू चेतना देने हारी है, तू मनन-शक्ति-प्रदात्री है, तू बुद्धि देने हारी है, तू उत्तम दान है, तू क्षात्र-तेज वाली है, तू यज्ञ के योग्य है, तू अविनश्वर है, तू सर्वतोमुखी है—अर्थात् तू संपूर्ण सत्यविद्याओं को जतलाने हारी है। वह तू हमारे पूर्वकाल में—प्रारम्भिक वयस में सुखदायिनी हो, और अन्तिम काल में सुखदायिनी हो। मित्र-जन तुझे प्राप्तव्य व्यवहार में दृढ़तया संयुक्त रखें। वह पोषक वेदवाणी अध्यक्ष परमेश्वर की प्राप्ति के लिये हमें कुमार्ग से बचावें।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते—इस मनुवचन में वेदविद्या के दान को सर्वश्रेष्ठ जतलाया गया है। इसी का मूल 'दक्षिणा असि' यह मंत्र-वाक्य है। शोभनः प्राक् कालो यस्यां सा सुप्राची।

उवट, महीधर ने 'मनासि' की जगह 'मनोंसि' ऐसा पाठ दिया है, परन्तु स्वामी जी ने 'मनासि' ही दिया है। यह ही पाठ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि 'मना' का प्रयोग वेद में अन्यत्र भी आता है।

'पूषा' यह 'टाप्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है।

३२. आ आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथाप्यध्यर्थे दृश्यते। 'अभ्र आँ अपः'। अभ्रे आ अपः-अपोऽभ्रेऽधीति।

'आ' यह उपसर्ग पहले ही (१.३,१.४,२.१६) व्याख्यात होचुका है। यह 'अधि' अर्थ में भी देखा जाता है। जैसे इस मंत्र में है—

क्रतु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयशसे महे वयम्।
आमेन्यस्य रजसो यदभ्रे आँ अपो वृणाना वितनोति मायिनी ॥५.४८.१

देवता—विश्वेदेवाः। (आमेन्यस्य रजसः अभ्रे आ यत् अपः वृणाना वितनोति, मायिनी) सर्वतोज्ञेय अन्तरिक्ष लोक के मेघ में जैसे जल को वरती हुई विद्युत् उसे वृष्टि द्वारा फैलाती है, वैसे बुद्धिपूर्वक नीति 'अपस्' अर्थात् कर्मों को वरती हुई, उनको सर्वत्र फैलाती है। (क्रतू उ प्रियाय धाम्ने, स्वक्षत्राय, महे स्वयशसे, वयं मनामहे) सुख के लिए और प्रिय स्थान के लिए—प्रियराष्ट्र बनाने के लिये, स्वकीय क्षात्र-तेज के लिये, तथा स्वकीय महान् यश के लिए हम उस नीति को समझें। अपस् = जल, कर्म।

३३. द्युम्नम् द्युम्नं द्योततेर्यशो वा अन्नं वा। 'अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि'। अस्मासु द्युम्नं रत्नं च धेहि॥५॥

द्युम्न = यश, अन्न। द्युत्' दीप्तौ धातु से 'नक्' प्रत्यय, द्योतते दीप्यते इति द्युम्नम्। अथवा 'द्यु' अभिगमने धातु से भी सिद्ध होसकता है।

शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासे सहस्रं शंसा उत रातिरस्तु।
जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्यास्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि॥७. २५.३

देवता—इन्द्रः। (शिप्रिन्) सुन्दर मुख वाले, या मुकुटधारी राजन्! (सुदासे ते शतं ऊतयः, सहस्रं शंसाः, उत रातिः अस्तु) कर देने हारे प्रजावर्ग के लिए तेरी सैंकड़ों प्रकार की रक्षायें, सहस्रों तरह की शुभ कामनायें और विद्यादि-दान हो। (वनुषः मर्त्यस्य वधः जहि) हिंसक दुष्ट मनुष्य के वध-साधनों को नष्ट कर, (अस्मे द्युम्नं रत्नं च अधिधेहि) और हमारे में यश अन्न, तथा रत्न पदार्थों को अधिकतया स्थापित कर।

स्वामी जी ने 'शिप्रिन्' का अर्थ सुमुख किया है। यास्क ने ६. १७ में 'शिप्रे हनू नासिके वा' ऐसा लिखा है। अतः, जिसके कपोल तथा नाक प्रशस्त हों, उसे 'शिप्रिन्' कहा जासकता है। और इसी कारण 'शिप्रिन्' का अर्थ 'सुमुख' होगा। सायणाचार्य ने 'शिप्रिन्' का अर्थ 'उष्णीषिन्' किया है। वह 'शिरः पाति रक्षतीति शिप्रः'—इस निर्वचन से किया जासकता है। शिरस्प—शिप्र॥५॥

* द्वितीयपाद *

३४. पवित्रम् पवित्रं पुनातेः। मन्त्रः पवित्रमुच्यते। 'येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा' इत्यपि निगमो भवति। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। 'गभस्तिपूतः' 'गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः' इत्यपि निगमौ भवतः। आपः पवित्रमुच्यन्ते। 'शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः'। बहूदकाः। अग्निः पवित्रमुच्यते। वायुः पवित्रमुच्यते। सोमः पवित्रमुच्यते। सूर्यः पवित्रमुच्यते। इन्द्रः पवित्रमुच्यते। 'अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु' इत्यपि निगमो भवति॥१।६॥

पवित्र = पावक। 'पूञ्' पवने क्र्यादिगणी धातु से 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (पा० ३. २. १८६) सूत्र से करण तथा कर्ता में 'इत्र' प्रत्यय।

(क) वेदमन्त्र पावक होने से पवित्र कहा जाता है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः॥ साम उ० ५.२.८.५॥

(देवाः येन पवित्रेण आत्मानं सदा पुनते) विद्वान् लोग जिस वेद-मंत्र से अपने को सदा पवित्र करते हैं, (सहस्रधारेण तेन पावमानीः पुनन्तु नः) सहस्र बार जाप किये गए उस मन्त्र से पावक ऋग्वेदादि-वाणियें हमें पवित्र करें।

(ख) सूर्यरश्मियें पावक होने से पवित्र कहाती हैं। रश्मियें पावक हैं—इसकी सिद्धि में दो वेद-मंत्र यास्क इस स्थल पर देता है। रश्मि अर्थ में 'पवित्र' शब्द का प्रयोग 'पवित्रवन्तः परिवाचमासते' इत्यादि स्थल (नि० १२.२०) में दिखाया है।

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि॥ यजु० ७. १

देवता—सोमः। (वाचस्पतये पवस्व) हे सोम मनुष्य! तू वेद-रक्षक परमेश्वर की प्राप्ति के लिये पवित्र हो, (वृष्णः अंशुभ्यां) तू वीर्यशाली मनुष्य की भुजाओं की प्राप्ति के लिए पवित्र हो। (गभस्तिपूतः, दिवः देवेभ्यः पवस्व, येषां भागः असि) तू सूर्य-रश्मिओं से पवित्र होता हुआ और दिव्य गुणों को धारण करता हुआ देव-जनों की प्राप्ति के लिए पवित्र हो, जिन देवजनों का तू भाग है।

पवमान महार्णो विधावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया।
गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो महे वाजाय धन्याय धन्वसि॥ ९.८६.३४

देवता—पवमानः सोमः (पवमान! महि अर्णः विधावसि) पवित्रात्मन्! तू महान् ज्ञान-सागर को विशेषतया प्राप्त करता है। (सूरः न चित्रः) तू सूर्य की न्याईं अद्भुत गुणों वाला है। (पव्यया अव्ययानि) तू पवित्र वेद-वाणी से अविनश्वर वस्तुओं को पाता है। (गभस्तिपूतः, अद्रिभिः नृभिः सुतः) तू रश्मिओं से पवित्र और आदरणीय माता पिता आचार्य से उत्पन्न हुआ २ (महे वाजाय धन्याय धन्वसि) महान् ज्ञान, बल तथा ऐश्वर्य के लिए गति करता है।

'पवि' वाणी अर्थ में निघण्टु-पठित है। पवि, पवित्र, पव्या—समानार्थक हैं।

(ग) जल पावक होने से पवित्र कहा जाता है।

शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपियन्ति पाथः।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत॥ ७.४७.३

देवता—आपः। (शतपवित्राः, स्वधया मदन्तीः, देवीः) प्रभूत जल वाली, जल से खेतों को तृप्त करती हुई-सींचती हुई बड़ी २ नहरें (देवानां पाथः अपियन्ति) देवों के अन्न को—सात्विक अन्न को प्राप्त कराती हैं। (ताः इन्द्रस्य व्रतानि न मिनन्ति) वे नहरें राजा के प्रजापालनादि व्रतों को नष्ट नहीं करतीं, प्रत्युत पूरा करतीं हैं। (सिन्धुभ्यः घृतवत् हव्यं जुहोत) अतः, हे मनुष्यो ! नहरों के लिए जल रूपी हवि प्रदान करो। अर्थात् नहरें खोद कर उन में जल छोड़ो ताकि उपर्युक्त कार्य सम्पन्न हो।

(घ) अग्निः, वायु, सोम, सूर्य, विद्युत्—ये सब पावक होने से पवित्र हैं। 'अग्नि पवित्रं स मा पुनातु' यह वचन कहां का है, ज्ञात नहीं। इसका अर्थ सुस्पष्ट है॥ ११६॥

३५. तोदः

तोदस्तुद्यतेः। 'पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा। तोदस्येव शरण आ महस्य' ॥१.१५०.१

बहु दाश्वाँस्त्वामेवाभिह्वयामि। अरिरमित्र ऋच्छतेः, ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव। यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद्द दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्—'तोदस्येव शरण आ महस्य'। तुदस्येव शरणेऽधि महतः।

'तोद' शब्द 'तुद' व्यथने धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। इसके अर्थ कूप, बिल, गृहस्थ, शिक्षक आदि अनेक हो सकते हैं। देवराजयज्वा ने निघण्टुटीका में गृहस्थ किया है। परन्तु प्रस्तुत मंत्र में यास्काचार्य के मंत्रभाष्य के अनुसार कूप अर्थ ही ठीक बैठता है।

१ इस मंत्र का देवता अग्नि है। (अग्ने ! अरिः पुरु दाश्वान्) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! पूर्णतया आत्मसमर्पक सेवक मैं, अथवा हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! तुम सब के ईश्वर हो अतः पूर्णतया आत्मसमर्पक मैं (महस्य तोदस्य इव तव शरणे आ) महान् कूप की न्याईं तेरी शरण में अधिष्ठित हुआ २ (त्वा स्वित् आवोचे) तुझे ही रक्षार्थ पुकारता हूं।

स्वित् = एव । आ = अधि, अभि । अरि = अमित्र, अर्थात् जो मित्र न हो, अर्थात् सेवक। परिचरणार्थक 'ऋच्छ' धातु निघण्टु-पठित है, उस से सेवक अर्थ में 'अरि' सिद्ध होता है । ईश्वरवाची 'अरि' शब्द भी इसी धातु से सिद्ध होता है । अच्छर्यते सेव्यते यः सः अरिः ।

यतः, विष्णु, पूषा, रुद्र, इन्द्र, यम, सूर्य आदि अन्य सब देवताओं की आहुतियें भी अग्नि देवता में डाली जाती हैं, इस बात को देखकर 'तोदस्येव शरणे आमहस्य' ऐसा वेद ने कहा है । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' (मंत्र का अर्थ ७.१८ में है) इत्यादि मंत्र में इन्द्रादि सब नाम अग्नि परमेश्वर के ही बतलाये गये हैं । यज्ञ करते समय भिन्न २ देवता वाले मंत्रों से जो आहुतियें दी जाती हैं, वे सब एकमात्र अग्नि परमेश्वर को ही स्मरण करके दी जाती है, अतः यह अग्नि एक विशाल कूप है ।

३६. स्वञ्चाः — **स्वञ्चाः सु अञ्चनः । 'आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः' इत्यपि निगमो भवति ॥ २ । ७ ॥**

स्वञ्चस् = स्वञ्चन = सुगमन ।

सं भानुना यतते सूर्यस्याजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः ।
तस्मा अमृध्रा उषसो व्युच्छान्य इन्द्राय सुनवामेत्याह ॥ ५.३७.१

देवता—इन्द्रः । (घृतपृष्ठः, स्वञ्चाः, आजुह्वानः सूर्यस्य भानुना संयतते) जिस तेजस्वी मनुष्य की घी की आहुतिओं से संसिक्त, और हवि को भलीप्रकार अन्तरिक्ष में लेजाने वाली यज्ञाग्नि ऊंची २ ज्वालाओं से नित्य प्रज्वलित होती है, (तस्मै इन्द्राय अमृधाः उषसः व्युच्छान्) उस यज्ञकर्ता जीव के लिये मङ्गलमयी उषायें निकलती हैं । (यः सुनवाम इति आह) और जो यह कहता है कि मैं यज्ञ का निष्पादन करूं-जिस के मन में दृढ़ इच्छा है कि मैं यज्ञ का संपादन करूं—उस के लिये भी मङ्गलमयी उषायें निकलती हैं ॥ २ । ७ ॥

३७. शिपिविष्टः **३८. विष्णुः** — **शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ।**

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।
मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥ ७.१००.६

किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनायं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः । अपिवा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् । किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टो ऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवति । मा वर्पो अस्मदपगूह एतत्, वर्प इति रूपनाम, वृणोतीति सतः । यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयतरश्मिः ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तन्त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥७.१००.५

तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि, अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानाम्, अर्यस्त्वमसीति वा । तन्त्वा स्तौमि तवसमतव्यान् । तवस इति महतो नामधेयम्, उदितो भवति । निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते ॥ ३ । ८ ॥

शिपिविष्ट और विष्णु—ये दोनों विष्णु के नाम हैं । औपमन्यव का मत है कि पहला 'शिपिविष्ट' नाम निन्दित अर्थ का वाचक है । इसका अर्थ इसप्रकार करता है—शेप इव निर्वेष्टितः, अर्थात् उपस्थेन्द्रियजन्य वीर्य की न्याईं निःशेषतया वेष्टित । जैसे, सार शरीर में वीर्य लिपटा रहता है, एवं सर्वव्यापक । शेप निर् वेष्ट—शेप इ वेष्ट—शिपिविष्ट । परन्तु यास्क 'शिपिविष्ट' का अर्थ इसप्रकार करता है कि 'शिपि' रश्मिवाची है, उन रश्मियों के साथ सर्वत्र प्रविष्ट । शिपिभिः आविष्टः शिपिविष्टः । 'शिपि' का निर्वचन यास्क ने कहीं नहीं किया । 'सृप्' गतौ धातु से 'शिपि' बनाया जासकता है, जैसे कि यास्क ने ६. ७२ में 'शिप्र' शब्द 'सृप्' से सिद्ध किया है । रश्मियों के लिये 'गो' शब्द प्रयुक्त होता ही है, वह गत्यर्थक 'गम्' धातु से बनाया जाता है । अथवा, दर्शनार्थक 'पश' ('दृश्' का रूपान्तर) धातु से वर्णव्यत्यय करके 'शिपि' सिद्ध हो सकता है ।

दृश्यते अनेन इति शिपिः। यजुर्वेद १६. २९ मंत्र की व्याख्या में स्वामी जी ने 'शिपिविष्टाय' का अर्थ 'शिपिषु पशुषु पालकत्वेन विष्टाय प्रविष्टाय वैश्याकृतये' ऐसा किया है। अतः, 'विष्णु' वैश्य-वाची भी हो सकता है। **विश्, विश्य, वैश्य, विष्णु—ये चारों शब्द समानार्थक हैं।** 'पशवो वै शिपिः, यज्ञो वै शिपिः' इस स्थल पर शतपथ ब्राह्मण ने 'शिपि' के पशु और यज्ञ—ये दो अर्थ दिये हैं (देखो यजुर्वेद १६. २९ महीधर भाष्य)।

'शिपिविष्ट' विष्णु के लिये प्रयुक्त होता है, इसे दिखाने लिये निघण्टु में इस स्थल पर विष्णु शब्द भी पढ़ा हुआ है, अन्यथा दैवतकाण्ड में विष्णु शब्द पठित ही है। 'किमित्ते विष्णो' आदि उपर्युक्त दोनों मंत्रों का देवता 'विष्णु' है।

(विष्णो ! किम् इत् ते अपरिचक्ष्यं भूत्) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! क्या यह ही तेरा सामान्य रूप है (यत् प्रववक्षे शिपिविष्टः अस्मि) जिसे तू जतलाता है कि मैं शरीर में व्याप्त वीर्य की न्याईं इस भूमण्डल में व्याप्त हूं। अथवा, (विष्णो ! किम् इत् ते परिचक्ष्यं भूत् यत् प्रववक्षे शिपिविष्टः अस्मि) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! क्या यही तेरा विशेष रूप है जिसे तू जतलाता है कि मैं सूर्य-रश्मियों के साथ भूमण्डल में प्रविष्ट हूं। नहीं, यही नहीं, परमेश्वर का इस सृष्टि में अन्य स्वरूप भी है। (यत् अन्यरूपः समिथे बभूथ, एतत् वर्पः अस्मत् मा अपगूह) हे परमेश्वर ! जिस दूसरे स्वरूप वाला तू इस संसाररूपी रंग-स्थली में विद्यमान है, उस स्वरूप को हमारे से मत छिपा।

परमेश्वर भूलोक (प्रकाश्य जगत्) और द्युलोक (प्रकाशमान जगत्) दोनों में व्यापक रहता हुआ दो स्वरूपों में विद्यमान है। इस मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हम संसार में इन दोनों लोकों को भली प्रकार जानते हुए आपके दोनों स्वरूपों का दर्शन कर सकें—ऐसी कृपा कीजिए। परमेश्वर के दोनों स्वरूपों का वर्णन यजुर्वेद के ३१. ३,४ में इसप्रकार है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(अस्य विश्वा भूतानि पादः) इस पुरुष परमेश्वर का संपूर्ण भूमण्डल एकपाद सामर्थ्य है, (अस्य दिवि अमृतं त्रिपात्) और इसका द्युलोक में अमृत स्वरूप तीन पाद वाला सामर्थ्य है। अर्थात्, ईश्वरीय सृष्टि में प्रकाश्य जगत् एकगुणा है, और प्रकाशक जगत् उस से तिगुना है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

(पुरुषः त्रिपात् ऊर्ध्वः उदैत्) वह पुरुष परमेश्वर तिगुने प्रकाशक जगत् से भी

ऊपर स्व-सामर्थ्य से उदित है,(पुनः अस्य इह पादः अभवत्) और फिर जो उसके सामर्थ्य का यहां भूमण्डल में एक पाद है, उस से भी वह ऊपर स्व-सामर्थ्य से प्रकाशमान है। अर्थात्, परमेश्वर के सामर्थ्य का स्वरूप इन्हीं दोनों लोकों में समाप्त नहीं होजाता, वह अनन्त सामर्थ्य वाला है।

'किमित्ते विष्णो' मंत्र में अपरिचक्ष्यं, तथा परिचक्ष्यं–ये दो पदच्छेद करके दो अर्थ किये गये हैं। अपरिचक्ष्यं = अप्रख्यापनीयं = अप्रख्यातं = सामान्यम्। अप्रतिपन्नरश्मि = रश्मिओं रहित—स्वयं प्रकाशमान न होने वाला जगत्। प्रतिपन्नरश्मि = प्रकाश्य-जगत्। संयतरश्मि = रश्मियों से संबद्ध, अर्थात् स्वयं-प्रकाशमान जगत्। 'वर्पस्' रूपवाची है, 'वृञ्' वरणे से कर्ता में 'असुन्' प्रत्यय तथा 'पुट्' का आगम (उणा० ४.२०१)। रूप आश्रय को स्वीकार करता है।

शिपिविष्ट के और अधिक स्पष्टीकरण के लिए अगली ऋचा दी गयी है—

(शिपिविष्ट ! वयुनानि विद्वान् अर्यः प्रद्य ते तत् नाम प्रशंसामि) हे तेजः-स्वरूप विष्णु परमेश्वर ! विज्ञानों को जानता हुआ वाचस्पति मैं आज तेरे उस प्रसिद्ध 'ओ३म्' नाम को भजता हूं। (अस्य रजसः पराके क्षयन्तं) और, इस जगत् से दूर पृथक् रहते हुए (तवसं तं त्वा अतव्यान् गृणामि) महाशक्तिशाली उस तुझ को अल्पशक्ति वाला मैं भजता हूं। अथवा, (शिपिविष्टः अर्यः) हे शिपिविष्ट विष्णु परमेश्वर ! तुम ईश्वर हो, (वयुनानि विद्वान् ते अद्य तत् नाम प्रशंसामि) अतः, विज्ञानों को जानता हुआ मैं आज तेरे उस 'ओ३म्' नाम को भजता हूं।

अर्यः = ईश्वरः स्तोमानां = वाचस्पति = वेद का पूर्णतया ज्ञाता। 'तवस' शब्द महद्वाची है, यतः उदित अर्थात् उद्गत, उन्नत होता है। वृद्ध्यर्थक 'तु' धातु से 'असच्' प्रत्यय (उणा० ३. ११७। पराके = पराक्रान्ते = दूरे ॥ ३। ८॥

३६. आघृणिः

आघृणिरागतहृणिः। 'आघृणे संसचावहै'। आगतहृणे ! संसेवामहै।

'घृणि' पाठ ही वेदों में आता है, हृणि कहीं नहीं आता। निघण्टु में भी क्रोध तथा दीप्ति अर्थ में 'घृणि' का ही पाठ है। अतः, पता लगता है कि इस स्थल पर 'आगतघृणिः' और 'आगतघृणे' ही संभवतः पाठ हों।

'घृ' क्षरणदीप्त्योः या 'घृणु' दीप्तौ धातु से दीप्त्यर्थक 'घृणि' शब्द की सिद्धि होती है। उणादि ४.५२ में 'घृ' धातु से 'नित्' प्रत्यय किया है। 'हृणीङ्' रोषे लज्जायां च धातु कण्ड्वादिगणी है। लौकिकसंस्कृत में वाचस्पत्य के अनुसार हृणिया, और अमरकोष के अनुसार 'हृणीया' शब्द

का प्रयोग घृणा अर्थ में होता है। इसी धातु से 'यक्' के अभाव में क्रोधार्थक 'घृणि' शब्द सिद्ध किया गया है, हृणि-घृणि।

एहि वां विमुचो नपादाघृणे संसचावहै। रथीर्ऋतस्य नो भव ॥६.५५.१

देवता—पूषा। (विमुचः, नपात्, आघृणे, ! एहि, वां संसचावहै) विषयादिकों से विमुक्त, न पतित होने वाले, और ज्ञान से प्रकाशित पोषक विद्वान् ! आइए—हम दोनों भली प्रकार धर्म-सेवन करें। (नः ऋतस्य रथीः भव) आप हमारे लिये सत्य-विद्या के प्राप्त कराने हारे हूजिए।

वां = आवां, आकार-लोप (सायणाचार्य)।

४०. पृथुज्रयाः पृथुज्रयाः पृथुजवः। 'पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः'। मामापयदायुर्दस्योः।

निघण्टु म गत्यर्थक 'ज्रि' धातु पठित है, उससे 'असुन्' प्रत्यय करने से 'ज्रयस्' सिद्ध होता है। पृथुज्रयस् = पृथुजव।

यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति नृतमं हरिष्ठाम्।
इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषैः पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः ॥ ३.४९.२

देवता—इन्द्रः। (यं स्वराजं, नृतमं, हरिष्ठां पृतनासु द्विता नकिः तरति) जिस स्वराट्, उत्तम नेता, और घुड़सवार को युद्धों में शस्त्र अस्त्र—दोनों द्वारा कोई नहीं जीतता, (यः ह इनतमः, पृथुज्रयाः शूषैः सत्वभिः दस्योः आयुः अमिनात्) और जो अतिसमर्थ, अतिवेगवान् शूर मनुष्यों द्वारा दुष्ट मनुष्य की आयु या भोजन को नष्ट भ्रष्ट कराता है, उसे इन्द्र अर्थात् राजा समझो।

शूष = बल। अमिनात् = अमापयत्, 'मीञ्' हिंसायाम्, अन्तर्भावि णिच्।

४१. अथर्युम् **अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥ ७.१.१**

दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति, धीयन्ते कर्मसु। अरणी, प्रत्यृत एने अग्निः, समरणाज्जायत इति वा। हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या। जनयन्त प्रशस्तं, दूरेदर्शनं, गृहपतिम्, अतनवन्तम् ॥४।६॥

देवता—अग्निः। (नरः दीधितिभिः हस्तच्युती अरण्योः) मनुष्य अंगुलियों से पकड़कर हाथ के चलाने से अर्थात् संघर्षण द्वारा आग पैदा करने वाले दो उपकरणों में से (प्रशस्तं, दूरेदृशं, गृहपतिं, अथर्युं—अग्निं जनयन्त)

प्रशस्त, दूर से दीखने वाली अर्थात् प्रकाशमान, गृहस्थों के लिये आवश्यक, तथा सतत-गति वाली अग्नि को पैदा करें।

'दीधिति' अंगुलिवाची है, यतः ये कर्मों में लगायी जाती हैं। यङ्लुगन्त 'धि' धारणे धातु से क्तिच् (पा०३. ३. १७४)। 'अरणी' शब्द अरणि का द्विवचन है। इन्हें अरणी इसलिये कहा जाता है कि अग्नि इनके आश्रित है। अथवा, इन दोनों की मन्थिलित गति से-संघर्षण से अग्नि पैदा होती है। 'ऋ' गतौ धातु से 'अनि' प्रत्यय (उणा०२.१०२)।

मैं समझता हूं 'अरणी' शब्द सामान्यतः प्रत्येक उन दो वस्तुओं का नाम है, जिनके संघर्षण से अग्नि पैदा की जा सकती है। एवं, दियासलाई और उस की डब्बी--इन दोनों को भी 'अरणी' कहेंगे। जिस समय भारतवर्ष में 'शमी' वृक्ष की दो लकड़ियां या विशेष पत्थर के दो टुकड़ों को रगड़ कर आग पैदा की जाती थी, तब उन का 'अरणी' नाम प्रसिद्ध था। फिर हमने अपनी भूल से केवल उन्हीं प्रचलित अरणियों के लिये 'अरणी' शब्द रूढ़ कर दिया है।

अतनगु-अथर्युु—अथयु, मतुप् अर्थ में 'यु' प्रत्यय ॥३१९॥

४२. काणुका

एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ ८.७७.४

एकेन प्रतिधानेनापिबत् साकं सहेत्यर्थः। इन्द्रः सोमस्य काणुका—कान्तकानीति वा, क्रान्तकानीति वा, कृतकानीति वा। इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा। कणेघात इति वा—कणेहतः कान्तिहतः।

तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते—त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि, तान्येतस्मिन्काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति, तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति। तथापि निगमो भवति—'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति' इति। तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति, तथापि निगमो भवति 'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति' इति॥५.१०॥

देवता—इन्द्रः। (इन्द्रः एकया प्रतिधा साकं) सूर्य एक टिकाव से, अर्थात् लगातार (त्रिंशतं सरांसि सोमस्य काणुका अपिबत्) पक्ष के ३० दिन तथा रात में आयी हुई चन्द्रमा को प्रदीप्त, प्राप्त अथवा निर्मल रश्मियों को पीता है।

(ख) (काणुका इन्द्रः) प्रदीप्त सूर्य (एकया प्रतिधा साकं) एक टिकाव से (सोमस्य त्रिंशतं सरांसि अपिबत्) पक्ष के ३० दिन रात में आयी हुई चन्द्रमा की रश्मियों को पीता है।

(ग) (इन्द्रः एकया प्रतिधा साकं) सूर्य एक टिकाव से (सोमस्य त्रिंशतं सरांसि) पक्ष के ३० दिन रात में आयी हुई चन्द्रमा की रश्मियों को (काणुका अपिबत्) अपनी इच्छा की समाप्ति पर्यन्त पीता है, अर्थात् जब तक चन्द्रमा का पूर्णतया प्रकाश नहीं हट जाता, तब तक अमावास्या पर्यन्त पीता रहता है।

इस मंत्र का आशय यह है कि चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान है। सूर्य शुक्लपक्ष (पूर्वपक्ष) में चन्द्रमा को निरन्तर क्रमशः प्रकाश देता रहता है, और कृष्णपक्ष में निरन्तर ३० दिनरातों में क्रमशः उस प्रकाश को हरता रहता है।

काणुका के तीन अर्थ हैं—(१) काणुका काणुकानि। यहां 'शेश्छन्दसि बहुलम्' करके 'शि' का लोप होगया है (क) कान्तक—काणुक, 'कनी दीप्तौ (ख) क्रान्तक—काणुक, गत्यर्थ 'क्रमु' धातु। (ग) कृतक—काणुक, निर्मली-करणार्थक 'कृ' धातु (पातञ्जल महाभाष्य ६. १९)। एवं, प्रथम अर्थ में 'काणुका' सरांसि का विशेषण हुआ।

(२) काणुका = काणुकः, 'सुपांसुलुक्' से 'सु' की जगह 'आ'। कान्तक—काणुक, 'कमु' कान्तौ। एवं, यहां 'काणुका' इन्द्र का विशेषण हुआ।

(३) कणेघातः—काणुका। 'कणेघातः' का अर्थ 'कणेहतः' है। और 'कणे' अव्यय कान्ति अर्थात् इच्छा अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे 'कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते' (पा० १. ४. ६६) की वृत्ति में काशिकाकार 'कणेहत्य पयः पिबति' उदाहरण देते हुए, उसका अर्थ 'तावत्पिबति यावदस्याभिलाषो निवृत्तः श्रद्धाप्रतिहते-त्यर्थः' करते हैं। एवं, इस तीसरे अर्थ में 'काणुका' अपिबत् क्रिया का विशेषण है।

इस मंत्र के अर्थ के बारे में याज्ञिक लोग यह बताते हैं कि माध्यन्दिन सवन में ३० उक्थपात्र एक इन्द्र देवता वाले हैं। उन को इस समय माध्यन्दिन सवन में एक घूंट से पीते हैं, वे यहां 'सरस' कहे जाते हैं। एवं, याज्ञिक-मत से मंत्र का अर्थ यह है—

सोमरस के प्यारे इन्द्र ने एक घूंट से एक साथ माध्यन्दिन-सवनीय सोमरस से पूर्ण ३० उक्थ-पात्रों को माध्यन्दिन सवन में पीया।

परन्तु निरुक्तकार इस याज्ञिक अर्थ से सहमत नहीं। वे कहते हैं—(क) ३० दिनरात कृष्णपक्ष के हैं, और ३० शुक्लपक्ष के। वहां शुक्लपक्ष में जो ये सूर्य से आनेवाली चन्द्रमा की किरणें हैं, सूर्यरश्मियें उन्हें कृष्णपक्ष में पी लेती हैं—इस बात को कहने वाला 'यमक्षितिम्' आदि निगम भी है। (ख) और, उस चन्द्रमा को सूर्य-रश्मियें शुक्लपक्ष में बढ़ाती है। इसकी पुष्टि में 'यथा देवाः' आदि निगम है। अतः, यह ३० सर शुक्लपक्ष के ३० दिनरात में सूर्य से आने वाली चन्द्रकिरणें हैं।

'सरस्' शब्द जलवाची निघण्टु-पठित है। और 'आगमित्य आपः' यहां पर 'आपः' शब्द चन्द्रकिरणों का वाचक है, यतः ये जल की न्याईं शीत गुण रखती हैं।

दुर्गाचार्य मंत्र का संपूर्ण पाठ इस प्रकार देते हैं—

यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति।
तेन चेन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः॥

यह वचन कहां का है, ज्ञात नहीं। अर्थ यह है— (यं अक्षितिं अक्षितयः पिबन्ति) चन्द्र में गयी हुई जिस सुषुम्ना नामक सूर्यकिरण को कृष्णपक्ष में सूर्य-किरणें पी लेती हैं, (देवाः यथा अंशुं आप्याययन्ति) उस सुषुम्ना को शुक्लपक्ष में भेज कर जैसे चन्द्रमा को बढ़ाती हैं, (तेन इन्द्रः वरुणः बृहस्पतिः भुवनस्य गोपाः) उसी तरह वायु, जल और सूर्य—ये सर्वरक्षक (आप्याययन्तु) राजयक्ष्मा से क्षीण मनुष्य को बढ़ावें॥५।१०॥

४३. अध्रिगुः

अध्रिगुर्मन्त्रो भवति गव्यधिकृतत्वात्। अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात्तच्छब्दवत्त्वात्। 'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो' इति। अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते। 'तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः'। अधृतगमन! कर्मवन्! इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते 'अध्रिगव ओहमिन्द्राय' इत्यपि निगमो भवति।

अध्रिगु—(क) वेद-मंत्र, यह वेदवाणी में अधिकृत है। अथवा, जो मंत्र भूमि या गाय के विषय में पाये जाते हैं, उन्हें भी 'अध्रिगु' कह सकते हैं। गवि अधिकृतः अधिगुः—अध्रिगुः।

(ख) अथवा 'अध्रिगु' से प्रशासन-कार्य अभिप्रेत है। अतः, अध्रिगु का अर्थ शासक राजा हुआ। गवि अधिकृतः अधिगुः, यह भूमि का मालिक है। 'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वम्' वचन ऐतरेय-ब्राह्मण (२.१.६) में उल्लिखित

है। उस में 'अध्रिगु' के लिए 'सुशमि !' का प्रयोग करते हुए, उसे शान्ति स्थापित करने की आज्ञा दी गयी है, अतः 'अध्रिगु' शासक हुआ।

(ग) अग्नि को भी अध्रिगु कहते हैं, क्योंकि यह अधृतगमन अर्थात् अनष्ट-गति है। 'धृङ्' अवध्वंसने।

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।
कविशस्तो बृहता भानुना गा हव्या जुषस्व मेधिर॥ ३. २१.४

देवता—अग्निः। (शचीवः अध्रिगो अग्ने!) हे कर्मवीर, अनथक–परिश्रमी विद्वान्! (स्तोकासः तुभ्यं मेदसः घृतस्य श्चोतन्ति) गुणों को कदर करने वाले मनुष्य तुझे स्निग्ध घृतादि उत्तम पदार्थ प्रदान करते हैं। (कविशस्तः! बृहता भानुना आगाः) हे कविप्रशस्त! बड़े तेज के साथ आइए। (मेधिर! हव्या जुषस्व) हे मेधाविन्! सात्त्विक भोजन का सेवन कीजिए।

मनुष्यों का उचित है कि वे महात्मा–जनों का सत्संग करते हुए उनका अन्नादिक से सत्कार करें

स्वामी जी ने 'स्तोकासः' का अर्थ 'गुणस्तावकाः' किया है। स्तावक—स्तोअक—स्तोक। एवं, इस मंत्र में 'अध्रिगु' अग्नि का विशेषण है।

(घ) इन्द्र को भी अध्रिगु कहते हैं, यतः यह अधृतगमन है। 'धृञ् धारणे।

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा॥ ३.६१.१

देवता—इन्द्रः। (अस्मै तवसे, तुराय, माहिनाय, ऋचीषमाय, अध्रिगवे इन्द्राय) इस बलवान्, फुर्तीले, पूज्य, प्रशंसा के योग्य और अक्षीण गतिवाले–जिसकी गतियों को शत्रु धारण न कर सकें, ऐसे राजा के लिए (प्रयः न ओहं स्तोमं, राततमा ब्रह्माणि प्रहर्मि) तृप्तिकारक अन्न की न्याईं प्रापणीय उचित सत्कार, और दातव्य धनों को देता हूं।

हर्मि = हरामि। ओहम्—'वह' प्रापणे से 'घञ्' छान्दस संप्रसारण।

४४. आङ्गूषः

आङ्गूषः स्तोम आघोषः। 'एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः'। अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः॥६।११।

'आङ्गूष' शब्द स्तोम अर्थात् वेद का वाचक है, क्योंकि वेद सर्वत्र प्रचार के योग्य है। आघोष—आङ्गूष।

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तो ऽभिष्याम वृजने सर्ववीराः ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥१.१०५.१६

देवता—विश्वेदेवाः । (एना आङ्गूषेण इन्द्रवन्तः, सर्ववीराः वयं वृजने अभिस्याम) इस वेद के स्वाध्याय द्वारा श्रेष्ठ आत्मा वाले, तथा पूर्ण वीर हम लोग संसार-संग्राम में अन्तरीय और बाह्य—सब शत्रुओं को जीतें । (नः तत्) हमारे उस आत्मिक-बल को (मित्रः, वरुणः, अदितिः सिन्धुः, पृथिवी, उत द्यौः मामहन्ताम्) प्राण, अपान, अन्तरिक्ष, नदी, पृथिवी, और सूर्य—ये सब बढ़ावें ।

एना = एनेन = अनेन ॥ ६ । ११ ॥

४५. आपान्तमन्युः

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवान्छरुमाँ ऋजीषी । सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ॥ १०.८९.५

आपातितमन्युस्तृप्रप्रहारी, क्षिप्रप्रहारी, सोमोवेन्द्रो वा । धुनिः धुनोतेः । शिमीति कर्मनाम, शमयतेर्वा, शक्नोतेर्वा । ऋजीषी सोमः । यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषम् , अपार्जितं भवति । तेनर्जीषी सोमः । अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति 'ऋजीषी वज्री' इति । हर्योरस्य स भागो धानाश्च । धानाः भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति, फले हिता भवन्तीति वा । 'बभ्रूणां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्' इत्यपि निगमो भवति । आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते । बभस्तिरत्तिकर्मा । सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि । नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि दभ्नुवन्ति-यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति, अर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति । इन्द्रप्रधानेत्येके नघण्टुकं सोमकर्म, उभयप्रधानेत्यपरम् ।

देवता—इन्द्रः । (आपान्तमन्युः, तृपलप्रभर्मा, धुनिः, शिमीवान्, शरुमान् ऋजीषी) मन्युयुक्त, क्षिप्रप्रहारी, शत्रुओं को कंपाने वाला, कर्मवीर, शस्त्रों से सज्जित, और प्रशस्त घोड़ों वाला इन्द्र राजा, (सोमः अतसानि वनानि विश्वानि) जैसे सोम ओषधि प्रचुर रस को धारण करती है, एवं सांसारिक

सब ऐश्वर्यों को धारण करे। (इन्द्रं प्रतिमानानि न देभुः) ऐसे राजा को शत्रुओं के मुकाबले नष्ट नहीं कर सकते, (अर्वाक्) प्रत्युत उसके पास पहुंचे बिना ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

कई आचार्य कहते हैं कि यह ऋचा मुख्यतया इन्द्र-देवताक है, सोमपरक अर्थ नैघण्टुक, अर्थात् गौणरूप से है। दूसरे कहते हैं कि यह ऋचा इन्द्र तथा सोम—दोनों देवताओं वाली है, मुख्य या गौण देवता कोई नहीं। प्रथम पक्ष में मंत्र का अर्थ दिया जाचुका है। अब द्वितीय अर्थ दिया जाता है। इस पक्ष में मंत्र के पहले तीन पाद सोम-देवताक हैं, और चतुर्थपाद इन्द्र देवता वाला है—

मन्यु अर्थात् तेज को पैदा करने वाला, क्षिप्रप्रहार की शक्ति देने हारा, क्रियाशील बनाने वाला, निर्बलता को दूर करने वाला, और फोक वाला सोम अपने सब भाग में प्रचुर रस को धारण करता है। उस रस को पान करने वाले इन्द्र राजा को शत्रुओं के मुकाबले नष्ट नहीं कर सकते, प्रत्युत उसके पास पहुंचे बिना ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

आपातितमन्युः—आपान्तमन्युः। तृपलप्रभर्मा = तृप्रप्रहारी, = क्षिप्रप्रहारी। शिमी–कर्म, शमयति अनिष्टम्, अथवा शक्नोति अनया—इससे मनुष्य सामर्थ्यवान् होता है। 'शम्' या 'शक्' धातु से 'इन्' (उणा० ४.११८)।

ऋजीषी = (क) सोम ओषधि। सोम के छानने पर जो शेष रह जाता है उस फोक को 'ऋजीष' कहते हैं, यतः वह फेंक दिया जाता है। ऋजीष वाला होने से सोम 'ऋजीषिन्' कहलाता है। अपार्जनार्थक 'अर्ज' धातु से 'ईषन्' (उणा० ४. २८)। (ख) 'ऋजीषी वज्री' इत्यादि मंत्र में 'ऋजीषिन्' इन्द्र का विशेषण आता है, और 'बब्धां ते हरी धानाः' इत्यादि वचन में 'धाना' अर्थात् भुने हुए 'जौ' और (ऋजीष) घास घोड़े का खाद्य बतलाया है। अतः, घास को भी 'ऋजीष' कहते हैं। 'मतुप्' अर्थ में ऋजीष से 'अर्श आदिभ्यो अच्' (पा० ५. २. १२७) से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'ऋजीष' अश्ववाची हुआ। एवं, ऋजीषिन् = प्रशस्त घोड़ों वाला।

(अस्य हर्योः सः भागः, धानाः च) इन्द्र के घोड़ों का वह ऋजीष, और धाना भाग हैं। भाठ में डाले जाते हैं, या भुन कर फलक पर डाले जाते हैं, अतः इन्हें 'धाना' कहते हैं। दधातीति धानाः, धा धातु से 'नक्' (उणा० ३.६)। 'धाना' शब्द नित्यबहुवचनान्त और स्त्रीलिङ्ग है।

अतस = प्रचुर, 'नञ्' पूर्वक 'तसु' उपक्षये। 'वन' निघण्टु में जलवाची

पठित है। प्रतिमिमते यैः तानि प्रतिमानानि=जिन वस्तुओं से मुकाबला करते हैं, वे प्रतिमान कहलाती हैं।

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुपयासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्स दिन्द्रः ॥५.४०.४

देवता—इन्द्रः। (ऋजीषी, वज्री, वृषभः, तुराषाट, शुष्मी, वृत्रहा, सोमपावा इन्द्रः राजा) प्रशस्त घोड़ों वाला-अर्थात् अश्वारोही, वज्री, बलिष्ठ, हिंसकों का घातक बलिष्ठ सेना वाला, दुर्जन-हन्ता, तथा सज्जन-रक्षक इन्द्र (हरिभ्यां युक्त्वा उपयासत्) घोड़ों से गाड़ी को जोड़ कर राजसभा में जावे। (अर्वाङ्) और, तत्पश्चात् (माध्यन्दिने सवने मत्सत) मध्यान्ह-काल में आनन्द करे, आराम करे।

४६. श्मशा

श्मशा शु अश्नुते इति वा, श्मास्नुते इति वा। 'अव श्मशा रुधद्वाः'। अवारुधच्छ्मशा वारिति ॥ ७।१२ ॥

श्मशा=(क) नदी, यह शीघ्र फैल जाती है। शु+अशूङ् व्याप्तौ। (ख) नाड़ी, यह शरीर में व्याप्त होती है, श्मन्+अश्।

कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः।
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ १०. १०५.१

देवता—इन्द्रः। (वसो ! कदा स्तोत्रं हर्यते) हे सर्ववासक परमेश्वर ! आप कब वेदाध्ययन की कामना करने वाले मुझ को, (श्मशा वाः अवारुधत्) जैसे शरीर-गत नाड़ी रुधिर को रोके रखती है, एवं वीर्य को रोकने की शक्ति प्रदान करेंगे, (दीर्घं सुतं वाताप्याय) जिस से दीर्घायु पुत्र प्राणादि वायुओं से बढ़ा हुआ होता है, महाप्राण वाला पैदा होता है।

अथवा, हे राजन् ! जब कभी (वाः अवारुधत्) जल रुक जावे-अनावृष्टि होजावे, (स्तोत्रं हर्यते) तब वेदप्रेमी (दीर्घं सुतं वाताप्याय) पुत्रवत् वर्तमान प्रजा प्रजावर्ग को जल प्रदान करने के लिये (श्मशा) नहर खुदवाओ।

हर्यते—यहां कर्म में चतुर्थी है। वाताप्य=जल (निरु० ६. १.१३) ॥७।१२॥

※ तृतीय पाद ※

४७. उर्वशी

उर्वश्यप्सरा, उर्वभ्यश्नुते, उरुभ्यामश्नुते, उरुर्वा वशोऽस्याः। अप्सरा अप्सारिणी,

अपि वाऽप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवत्यादर्शनीयं, व्यापनीयं वा, स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः। 'यदप्सः' इत्यभक्षस्य, 'अप्सो नाम' इति व्यापिनः। तद्रा भवति रूपवती, तदनयात्त-मिति वा, तदस्यै दत्तमिति वा॥१।१३॥

तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द, तदभिवादिन्येषर्ग्भवति—
उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त॥७.३३.११

अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठ, उर्वश्या ब्रह्मन्! मनसोऽधिजातः, द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन। द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवति। सर्वे देवाः पुष्करे त्वाधारयन्त। पुष्करम् अन्तरिक्षं, पोषति भूतानि। उदकं पुष्करं, पूजाकरं पूजयितव्यं वा। इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव, पुष्करं वपुष्करं वा। पुष्पं पुष्पतेः।

'उर्वशी' अप्सरावाची है। अप्सरा के विद्युत् तथा स्त्री, ये दोनों अर्थ हैं। उर्वशी के निर्वचन इसप्रकार हैं—

(क) उरु अभ्यश्नुते = बहुत व्यापक होती है। विद्युत् व्यापक होने वाली है, एवं स्त्री बहुगुण-व्यापिका है। 'उरु' पूर्वक 'अशूङ्' व्याप्तौ से 'क्वन्' और ङीप् (उणा० ४. ११८) उरु अश् ई—उर्वशी। (ख) उभयं अश्नुते = विस्तृत दो पदार्थों से व्यापक होती है। विद्युत् धन, ऋण नामी दो शक्तियों से व्याप्त है, और स्त्री ज्ञान तथा कर्म से व्याप्त है। जिन भाष्यकारों ने 'उरु' का अर्थ 'ऊरु' अर्थात् जांघें मान कर उर्वशी का निर्वचन किया है, वह सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि 'ऊरु' के अर्थ में 'उरु' का प्रयोग कहीं नहीं आता। (ग) उरुः वशः अस्याः = इसका वश बहुत है। विद्युत् के वश में संसार-स्थिति बहुत कुछ है, एवं स्त्री भी वशिनी है। उरु वश—उरवश, स्त्रीलिंग में उर्वशी।

अप्सरस् या अप्सरा के निर्वचन यह हैं—

(क) अप्सारिणी। 'अप्' के जल तथा कर्म, ये दोनों अर्थ होते हैं। विद्युत् जलों में सरती है, स्त्री कर्मों में चलती है। अप्सु सरतीति अप्सराः। 'अप्' पूर्वक 'सृ' धातु से 'असि' प्रत्यय (उणा० ४. २३७)। (ख) अथवा

'अप्स' शब्द रूप-वाची है, उस से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय, और स्त्रीलिङ्ग में 'टाप' अप्सरा = रूपवती। (ग) तत् अनया आत्तम् = तत् रूपं अनया आत्तं गृहीतम्। अप्सं रातं यया सा अप्सराः, 'रा' आदाने। (घ) तत् अस्यै दत्तम्। अप्सं रातं दत्तम् अस्यै सा अप्सराः, रा दाने धातु! एवं, उपर्युक्त पिछले तीन निर्वचनों से 'अप्सरा' का अर्थ रूपवती है। सो, विद्युत् तथा स्त्री दोनों हैं।

'अप्स' का अर्थ रूप है, इसको सिद्ध करने के लिए यास्काचार्य इसके तीन निर्वचन देते हैं, और अपने पहले दो निर्वचनों को वेद-मंत्र के प्रमाण से पुष्ट भी करते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) अप्स इति रूपनाम, अप्सातेः। अप्सानीयं भवति आदर्शनीयम्। 'नञ्' पूर्वक 'प्सा' भक्षणे से 'अप्स' बनता है। रूप भक्षणीय नहीं होता, परन्तु भली प्रकार दर्शनीय होता है। अभक्ष्य अर्थ में 'अप्स' का प्रयोग निम्न मंत्र में है—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयं यदप्स-श्चकृमा वयं। तदेकस्यापि चेतसि तदेकस्यापि धर्मणि। तस्य सर्वस्यां-हसो अवयजनमसि॥

यह मंत्र मैत्रायणी संहिता के १ काण्ड १० प्रपाठक २ खण्ड में पाया जाता है। और कुछ पाठ भेद से माध्यन्दिनीय संहिता (२०. १७) में मिलता है।

जो हमने ग्राम में रहते हुए गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम में पाप किया, जो अरण्य-निवासी होते हुए ब्रह्मचर्य या सन्यास आश्रम में पाप किया, जो सभा समाजों में बैठ कर पाप किया, जो मन में पापचिन्तन किया—इस प्रकार जो हमने कहीं पाप किया; और जो हमने अभक्ष्य-भक्षण किया, एवं किसी भी दूसरे के चित्त के विषय में पाप किया, या किसी भी दूसरे के धर्म में बाधा आदि डालते हुए पाप किया, हे अघनाशक प्रभो! उन सब प्रकार के पापों के आप दूरीकर्ता हो।

(ख) व्यापनीयं वा। अथवा, रूप व्यापनीय होता है। 'आप्' व्याप्तौ से 'स' प्रत्यय करने पर 'अप्स' की सिद्धि होती है। व्याप्ति अर्थ में 'अप्स' का प्रयोग निम्न मंत्र में है।

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ यजु० १४.४

(पृथिव्याः पुरीषं असि) हे स्त्री! तू पृथिवी को पालने हारी है। (अप्सः

नाम) तू अप्स, अर्थात् शुभ-गुण-व्यापिनी प्रसिद्ध है। (तं त्वा विश्वेदेवाः अभिगृणन्तु) उस तुझ को सब विद्वान् सत्कृत करें । अत एव मनु ने कहा है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'। (स्तोमपृष्ठा) हे स्त्री ! वेदों को जानने हारी, (घृतवती) और घृतादि प्रशस्त पदार्थों से युक्त तू (इह सीद) इस गृहाश्रम में स्थित हो। (अस्मे प्रजावद् द्रविणा यजस्व) और हमें प्रशस्त सन्तान रूपी धन को प्रदान कर। (अध्वर्यू अश्विना त्वा इह सादयताम्) हे स्त्री ! गृहस्थ-यज्ञ को चाहने वाले माता पिता तुझे इस गृहस्थ में स्थित करें।

(ग) रूपं दर्शनाय इति शाकपूणिः । रूप देखने के लिये स्पष्ट होता है, अतः शाकपूणि आचार्य 'दर्शनाय स्पष्टम्' का संक्षिप्त रूप 'अप्स' है—ऐसा मानता है। दस्प—अस्प—अप्स ।

'उतासि मैत्रावरुणः' मंत्र का अर्थ करने से पूर्व मित्र, वरुण शब्दों पर विचार करना आवश्यक है।

मानार्थक 'मा' धातु से मित्र शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है मापक। मापक अर्थ में ही 'मीटर' का प्रयोग है जोकि 'मित्र' का अपभ्रंश है। पाठक इसे निम्नलिखित तालिका से जान सकते हैं—

थर्मामीटर = घर्ममित्र—तापमापक ।

बारोमीटर = भारमित्र—भारमापक यंत्र ।

ज्योमीटर = गोमित्र–भूमिति–शास्त्र ।

हैड्रोमीटर = साम्द्रमित्र—घनतामापक यंत्र ।

पायरोमीटर = बर्हिःमित्र—अग्निमापक यंत्र ।

लक्टोमीटर = दुग्धमित्र—दुग्धमापक यंत्र । (वेद में 'ड' के जगह 'ळ' हो जाता है, जैसे करूळती, उसी का रूपान्तर 'ल' है) ।

ज्योमिट्री = गोमित्री—भूमिति–विद्या ।

अतः, 'मित्र' हाइड्रोजन वायु का नाम है । यह वायु सब से हलकी है, अतः इसे तोल की इकाई माना गया है, और इसी से अन्य पदार्थों को मापा जाता है । वरुण = आक्सिजन अर्थात् ओषजन वायु । यह वायु वरणीय है, इसके बिना प्राणि एकक्षण भी जीवित नहीं रह सकते, अतः इसे 'वरुण' कहा गया है । मित्र वरुण के उपर्युक्त अर्थों को प्रमाणित

करने के लिये निम्नलिखित दो प्रमाण और दिये जाते हैं—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥ऋ०१.२.७

देवता—मित्रावरुणौ। (पूतदक्षं मित्रं) पवित्रता करने में चतुर उद्रजन (रिशादसं वरुणं च) और जंग द्वारा धातुओं को खाने हारे ओषजन वायु को (हुवे) मैं ग्रहण करता हूं। (घृताचीं धियं साधन्ता) ये दोनों वायुएं मिलकर जलनिर्माण-कर्म को सिद्ध करने हारी हैं।

इस मंत्र में 'मित्र' को 'पूतदक्ष' कहते हुए पवित्रता करने में चतुर बतलाया गया है। यह गुण उद्रजन वायु में विशेष पाया जाता है। यह वायु अशुद्ध धातुओं को शुद्ध करता है। उदाहरण के तौर पर ताम्र के आम्लजिद को लीजिए। इसमें जब उद्रजन गुजारी जाती है, तो यह आम्लजन को लेकर वाष्प बनजाती है, शेष शुद्ध तांबा रह जाता है। अतएव उद्रजन वायु को Reducing agent अर्थात् अशुद्धि को दूर करने का मुख्य साधन बतलाया गया है। आम्लजन वायु के कारण धातुओं पर जंग चढ़ जाता है, और उस जंग से वे धातुएं खायी जातीं हैं, अत एव 'वरुण' को 'रिशादस्' कहा गया। हिंसा अर्थ में 'रुश' 'रिश' धातुएं हैं। अंग्रेजी में जंग का वाचक Rust शब्द इसी 'रुष्ट' का अपभ्रंश है।

(२) निघण्टु-पठित 'मित्र' 'वरुण' का अर्थ यास्काचार्य ने वायु किया है (निरु०९.२,१३) ॥१।१३॥

इन दोनों वायुओं को विद्युत् द्वारा मिलाने से जल की उत्पत्ति होती है, इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को दर्शाने वाला 'उतासि मैत्रावरुणः' मंत्र है। मंत्र के भावार्थ को यास्काचार्य पहले बतलाते हैं कि उस उर्वशी विद्युत् के दर्शन से मित्र वरुण वायुओं का रेतस् अर्थात् जल गिर पड़ा (रेतस् जल-वाची निघण्टु-पठित है)। अब मंत्रार्थ देखिए—

(वसिष्ठ ! उत मैत्रावरुणः असि) हे वासकतम जल ! और तू मित्र वरुण वायुओं से पैदा हुआ है। (ब्रह्मन् ! उर्वश्याः मनसः अधिजातः) अन्नदातः ! तू विद्युत् के सामार्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (द्रप्सं स्कन्नं त्वा) जल के रूप में परिणत तुझ को (दैव्येन ब्रह्मणा) देवजनों के अन्न के निमित्त से, अर्थात् उत्तम अन्न पैदा करने के लिये (विश्वेदेवाः) सूर्य-किरणें (पुष्करे अददन्त) अन्तरिक्ष में धारण करती हैं।

वसिष्ठ = वसुतम, आठ वसुओं में जल भी परिगणित है। 'ब्रह्मन्' शब्द अन्न-

वाची निघण्टु-पठित है। द्रप्स = जल—यह संभृत होता है, इसे प्रत्येक प्राणी धारण करता है, यह उन का जीवनाधार है, और, यह भक्ष्य या पेय है। धृ+प्सा = द्रप्स। जो भाष्यकार 'द्रप्स' का अर्थ वीर्य करते हैं, वह उनकी भूल, है क्योंकि 'वीर्य' भक्ष्य नहीं होता। अददन्त = अधारयन्त, दद धारणे।

पुष्कर—(क) अन्तरिक्ष, यह लोकों को धारण करता है। धारणार्थक 'पुष' धातु से 'करन्' (उणा० ४.४)। (ख) उदक, यह पूजा का साधन या पूजयितव्य आदरणीय है। आतिथ्य-सत्कार पाद्य तथा अर्घ से ही प्रारम्भ किया जाता है। पूजाकर—पुष्कर। अथवा, 'पूज' धातु से 'करन्' प्रत्यय। (ग) कमलपुष्प, यह भी पूजा का साधन या आदरणीय होता है, अतः उपर्युक्त दोनों निर्वचनों से सिद्ध किया जाता है। अथवा, कमल को शरीर की शोभा के लिये प्रयुक्त किया जाता है, अतः यह पुष्कर है। वपुष्कर—पुष्कर। पुष्य—'पुष्प' विकसने, फूल खिला हुआ होता है।

उपर्युक्त मंत्रार्थ की पुष्टि में उस से पहले मंत्र का उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। उस में साक्षात् 'विद्युत्' शब्द ही प्रयुक्त है। मंत्र और उसका अर्थ यह है।

विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार ॥ ७.३३.१०

(वसिष्ठ! विद्युतः ज्योतिः परि सञ्जिहानं यत् त्वा) हे वासकतम जल! विद्युत् की ज्योति से अपने पूर्व रूप को छोड़ते हुए जिस तुझ को (मित्रावरुणौ अपश्यताम्) मित्र वरुण वायुएं देखती हैं कि यह हमारे से पैदा हुआ है (तत् ते एकं जन्म) इस लिए तेरा एक नाम 'जन्म' है। (उत यत् त्वा अगस्त्यः) और जिस तुझ को सूर्य ने (विशः आजभार) मनुष्यों को प्रदान किया है, वह तू 'जन्म' नाम वाला है।

निघण्टु-पठित उदकवाची नामों में 'जन्म' शब्द का भी पाठ है। उपर्युक्त मंत्र ने बतलाया कि जल का 'जन्म' नाम इस लिये है कि यह मित्र वरुण वायुओं से उत्पन्न हुआ है। सायण ने 'मित्रावरुणौ अपश्यताम्' का अर्थ 'आवाभ्यामयं जायेत इति समकल्पताम्'—ऐसा किया है।

सूर्य को 'अगस्त्य' इस लिए कहा गया है कि यह अनेक दोषों को दूर करता है। अगस्त्यः = अस्तदोषः (स्वामी जी)। आगस्+अस्त = अगस्त ॥२।१४॥

४८. वयुनम्

वयुनं वेत्तेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा। 'स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार'। स तमोऽप्रज्ञानं तदन्वत् स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार।

'वयुन' शब्द निघण्टु में प्रशस्य और प्रज्ञा अर्थ में पठित है, परन्तु अनेकार्थक और अनवगत होने से इस स्थल पर फिर पढ़ा गया है। यहां तीसरा अर्थ कान्ति दिया है। प्रज्ञा तथा कान्ति अर्थ में 'वी' धातु से 'उनन्' और प्रशस्य अर्थ में पूजनार्थक 'अज' धातु से 'उनन्' (उणा०३.६१) और अजेर्व्यघञपोः (पा०२.४.५६) से 'अज' को 'वी' आदेश।

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार। कदा ते
मर्त्ता अमृतस्य धामेयक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः॥ ६.२१.३

देवता—इन्द्रः। (सः इत् अवयुनं ततन्वत् तमः) उसी परमेश्वर ने फैले हुए अज्ञानान्धकार को दूर करके (सूर्येण वयुनवत् चकार) सूर्य से कान्ति की तरह वेद द्वारा ज्ञान-प्रकाश किया। (स्वधावः!) हे स्वसामर्थ्ययुक्त प्रभो! (ते अमृतस्य धाम इयक्षन्तः मर्त्ताः) आपके अमृतस्वरूप मोक्ष-धाम को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य (कदा न मिनन्ति) कभी भी हिंसा नहीं करते।

४९. वाजपस्त्यम्
५०. वाजगन्ध्यम्

वाजपस्त्यं वाजपतनं। 'सनेम वाजपस्त्यम्' इत्यपि निगमो भवति। वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम्। 'अश्याम वाजगन्ध्यम्' इत्यपि निगमो भवति।

वाजपस्त्य—वाजस्य ज्ञानस्य पस्त्यं पतनं प्राप्तिर्येन तं वाजपस्त्यम्। 'पत्' धातु से 'य' प्रत्यय (उणा०५.१५) वाजगन्ध्यम्: वाजाय बलाय गृह्यम्। गृह्य—गन्ध्य, गध्य।

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम्॥ ६.६८.१२

देवता—सोमः। (यूयं सखायः वयं च सूरयः) हे विद्यार्थियो! तुम और हम गुरुजन (तं पुरोरुचं वाजगन्ध्यं अश्याम) शीघ्र तेज देने वाले तथा बल

प्राप्ति के लिये ग्राह्य दुग्धादि उत्तम पदार्थ का भक्षण करें, (धाजयत्त्वं सनेम) और बुद्धि–वर्धक सोम का सेवन करें।

दुग्ध घृत आदि सोम पदार्थ तेज, बल तथा ज्ञान के बढ़ाने वाले हैं, अतः उनका सेवन करना चाहिये।

५१. गध्यम् — गध्यं गृह्णातेः। 'ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्' इत्यपि निगमो भवति।

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः।

ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्कविर्यदहन्पार्याय भूषात्॥ ४.१६.११

देवता—इन्द्रः। (कविः, तोदः, वातस्य हर्योः ईशानः) हे राजन्! दूरदर्शी, शासक और वायु–समान घोड़ों के मालिक (यत् गध्यं वाजं न ऋज्रा युयूषन्) जो तुम ग्राह्य बल की न्याईं सत्याचरणों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए (अवस्युः कुत्सेन सरथं यासि) और आत्म–संरक्षण को चाहते हुए वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ एक रथ पर आरूढ़ होकर जाते हो, (अहन् पार्याय भूषात्) वह तुम प्रतिदिन दुःख–सागर से पार होने के लिए सामर्थ्यवान् होते हो।

ऋज्रा = ऋज्राणि। अहन् = अहनि।

५२. गधिता — गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा। 'आगधिता परिगधिता' इत्यपि निगमो भवति।

गधिता—यहां 'गध' धातु मिश्रण अर्थ में मानी गई है, उस से 'क्त'।

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।

ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ १.१२६. ६

राजा कहता है—(या आगधिता, परिगधिता) जो सब कर्मों में मेरे साथ मिली हुई, और सब तरह से संयुक्त राज्ञी (जङ्गहे कशीका इव) पूर्णतया गृहीत राज्य–कर्म में पशुओं के ताड़न–दण्ड की तरह उत्तम शासिका है, (याशूनां यादुरी) वह मेरी पत्नी प्रयत्नशीलों में अधिक प्रयत्नशीला होती हुई (मह्यं भोज्या शता ददाति) मुझे राज्यपालन–सम्बन्धी बहुविध साहाय्य प्रदान करती है।

कशा = कशिका = कशीका। जङ्गहे = भृशं गृहीते। यादुरी—'यती' प्रयत्ने से 'उरच्' प्रत्यय। याशु—'यसु' प्रयत्ने से 'उण्'।

५३. कौरयाणः

कौरयाणः कृतयानः। 'पाकस्थामा कौरयाणः' इत्यपि निगमो भवति।

यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः।
विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम्॥ ८.३.२२

देवता—इन्द्रः। पूर्व तथा अपर मंत्र के विचार से इस का अर्थ यह होगा—

(पाकस्थामा कौरयाणः) महाबली, सब को गति देने वाला (मरुतः इन्द्रः) और सब के जीवनाधार वायु का मालिक परमेश्वर (यं मे दुः) जिस अग्नि सूर्य वृष्टि आदि पदार्थ-समूह को मुझे देने वाला है। (विश्वेषां त्मना शोभिष्ठं दिवि उपधावमानम्) उस प्रभु ने मुझे सब के मध्य में स्वयं-प्रकाशमान और द्युलोक में दौड़ने वाले सूर्य को प्रदान किया है।

कौर—कृत। मंत्र में 'इव' वाक्यालङ्कार में प्रयुक्त है।

५४. तौरयाणः

तौरयाणस्तूर्णयानः। 'स तौरयाण उपयाहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः' इत्यपि निगमो भवति।

स तौरयाण उपयाहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः।
जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन्महे भराय पुरुहूत विश्वे॥

यह वेदमंत्र कुछ पाठ-भेद के साथ ऋग्वेद (३.५१.८) में पाया जाता है। वहां पाठ इस प्रकार है—स वावशान इह पाहि सोमं मरुद्भिरिन्द्र सखिभि सुतं नः। अगला पाठ पूर्ववत् है। उपर्युक्त पाठान्तर के सिवाय चारों प्रधान संहिताओं में 'तौरयाण' का पाठ नहीं आया।

देवता—इन्द्रः। (पुरुहूत इन्द्र!) हे निर्वाचित राजन्! (जातं यत् त्वा विश्वे देवाः) राजा बनाये गये जिस तुझ को सब देवजनों ने (भराय महे पर्यभूषन्) राज्य-पोषण के महान् कार्य के लिये राज-पद से अलंकृत किया है, (सः तौरयाणः) वह फुर्तीला तू (सखिभिः मरुद्भिः सजोषाः) मित्रता पूर्वक वर्तने वाले राज्य-कर्मचारियों के साथ संपूर्ण प्रजा से प्रीति युक्त व्यवहार करता हुआ (यज्ञं उपयाहि) हमारे यज्ञ में रक्षा के लिए आ।

तौर = तूर्ण। तौरयाण = तूर्णयान = फुर्तीला।

५५. अह्रयाण अह्रयाणोऽह्रीतयानः। 'अनुष्टुया कृणुह्यह्रयाण' इत्यपि निगमो भवति।

अह्रयाण = अह्रीतयान = अलज्जित गति वाला = श्रेष्ठकर्मा।

त्वया वयं सधन्यस्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम वाजान्।
उभा शंसा सूदय सत्यताते ऽनुष्टुया कृणुह्यह्रयाण ॥ ४.४.१४

देवता—अग्निः (त्वया सधन्यः त्वा ऊताः वयं) हे राजन् ! आपके द्वारा समान-धनी, और आप से संरक्षित होते हुए हम (तव प्रणीती) आपकी सुनीति से (वाजान् अश्याम) बहुविध अन्नों का भोग करें। (सत्यताते अह्रयाण !) हे सत्यप्रचारक तथा श्रेष्ठ कर्मों के करने वाले राजन् ! (उभा शंसा सूदय) आप स्वदेशी, विदेशी—दोनों प्रकार के पापप्रशंसक शत्रुओं को नष्ट कीजिए, (अनुष्टुया कृणुहि) और धर्मानुष्ठान पूर्वक राज्य कीजिए।

'धन' से 'मतुप्' अर्थ में 'इ' प्रत्यय (पा०५.२.१०९ वा०)।

५६. हरयाणः हरयाणो हरमाणयानः। 'रजतं हरयाणे' इत्यपि निगमो भवति।

हरमाणयान = हरयाण। मंत्र (८.२५.२२) और उसका अर्थ यह है—

ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे। रथं युक्तमसनाम सुषामणि ॥

देवता—मित्रावरुणौ। (उक्षण्यायने) बड़े २ लोकों के गमन-स्थान, (हरयाणे) और एक दूसरे को हरण करने वाले—आकर्षणकर्ता—सूर्य चन्द्रादि रथों के निवास-स्थान (सुषामणि) अत्यन्त रमणीय आकाश में सब के मित्र और श्रेष्ठ जगदीश्वर के द्वारा (युक्तं ऋज्रं रजतं रथं) युक्त किए हुए सुसज्जित तथा रजत-समान चन्द्र-तारकावलि-रूपी रथ को हम प्रतिदिन रात्रि के समय (असनाम) भजते हैं।

'उक्षा' निघण्टु में महद्वाची पठित है। 'सुषम' शब्द अत्यन्त सुन्दर वस्तु के लिये प्रसिद्ध है, उसी का रूपान्तर 'सुषामण्' है। 'ऋञ्ज' धातु प्रसाधनार्थक है (नि०६.२१)।

५७. आरितः 'य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः'। प्रत्यृतः स्तोमान् ॥ ३। १५ ॥

आरितः = प्रतिगतः स्तोमान् = वेदाद्यानुकूलः । आ ऋत—आरित ।

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः ।
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥१.१०१.४

देवता—इन्द्रः । (यः इन्द्रः अश्वानां यः गवां गोपतिः) जो अश्वों का अश्वपति और गायों का गोपति होता हुआ (वशी) सब का वशी, (यः आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः) तथा जो वेदानुकूल चलने वाला और प्रत्येक क्रिया में स्थिर, (यः असुन्वतः वीळोः चित् वधः) और जो अयज्वा बलवान् को भी ताड़ना देने वाला है, (मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे) प्रशस्त राज्य-कर्मचारियों से युक्त उस राजा को हम मित्रता के लिये ग्रहण करते हैं ॥३।१५॥

५८. अन्दी

अन्दी अन्दतेर्मृदुभावकर्मणः । 'नि यद्वृणक्षि श्वसनस्य मूर्द्धनि शुष्णस्य चिद्व्रन्दिनो रोरुवद्वना' । निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्द्धनि शब्दकारिणः शुष्णस्यादित्यस्य च शोषयितू रोरूयमाणो वनानीति वा, वधेनेति वा ।

'अव्रदन्त वीळिता' इत्यपि निगमो भवति । वीळयतिश्च व्रीळयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ पूर्वेण संप्रयुज्येते ।

व्रन्दिन् = कोमलकर्ता । यहां 'व्रन्द' धातु मृदुत्वार्थक मानी गई है, उससे 'इनि' (उणा० ४.६) ।

नि यद्वृणक्षि श्वसनस्य मूर्द्धनि शुष्णस्य चिद्व्रन्दिनो रोरुवद्वना ।
प्राचीनेन मनसा बर्हणावता यदद्याचित्कृणवः कस्त्वा परि ॥ १.५४.५

देवता—इन्द्रः । (यत् श्वसनस्य मूर्द्धनि शुष्णस्य व्रन्दिनः वना चित्) हे राजन् ! यतः, जिस प्रकार शब्दकारी आकाश में रसों को सुखाने वाले और फलादिकों को पकाकर मृदु करने वाले सूर्य की रश्मियें अन्धकार को हटाती है, एवं तू ताड़न से (रोरुवत्) दुष्टों को रुलाता हुआ पापान्धकार को (निवृणक्षि) दूर करता है । (यत् अद्याचित् प्राचीनेन बर्हणावता मनसा) और यतः, सर्वदैव सनातन वेद के द्वारा उदार हृदय से (कृणवः) राज्य करता है, (कः त्वा परि) अतः, कौन मनुष्य तेरे से उच्च है ! कोई नहीं ।

श्वसनस्य = शब्दकारिणः = वायोः वायु के बिना शब्द उत्पन्न नहीं हो सकता । अन्तरिक्ष वायु का मुख्य स्थान है, अतः उसके लिये 'श्वसनस्य

मूर्द्धनि' का प्रयोग किया है। शुष्णस्य=शोषयितुः। धन्वा=वनानि (जलानि), वधेन (ताड़नेन)।

'व्रन्द्' धातु के 'मृदुत्व' अर्थ को परिपुष्ट करने के लिये आचार्य 'अव्रदन्त वीळिता' मंत्र देते हैं, जो इस प्रकार है—

तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन्दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।

उद्गा आजदभिनद्ब्रह्मणा बलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः॥ २.२४.३

देवता—बृहस्पतिः। (देवानां देवतमाय तत् कर्त्वम्) चन्द्रादि देवों में देवतम सूर्य का यह कर्म है—(दृळ्हा अश्रथ्नन्) दृढ वस्तुएं शिथिल हो जाती हैं फैल जाती है, (वीडिता अव्रदन्त) कठोर फलादिक मृदु हो जाते हैं, (गाः उदाजत्) जलों को ऊपर ले जाता है, (ब्रह्मणा बलं अभिनत्) अपने सामर्थ्य से मेघ को विदीर्ण करता है—बरसाता है, (तमः अगूहत्) अन्धकार को दूर करता है, (स्वः व्यचक्षयत्) और प्रकाश को दर्शाता है।

यहां संस्तम्भार्थक (कठोरार्थक) 'वीड' और 'व्रीड' धातुएं पूर्ववर्ती 'अव्रदन्त' के साथ संप्रयुक्त है, अतः 'व्रन्द्' धातु का अर्थ 'मृदुता' ही होगा। इस यास्क-वचन से यह भी पता लगता है कि मंत्र में 'वीळिता' या 'व्रीडिता दोनों ही पाठ-भेद पाये जाते हैं।

५६. निष्षपी

निष्षपी स्त्रीकामो विनिर्गतसपः। सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः। 'मा नो मघेव निष्षपी परादाः'। स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः।

निष्षपिन्=व्यभिचारी, इसकी उपस्थेन्द्रिय निर्गत रहती है। निर् सप। 'षप' धातु धातुपाठ में समवाय (संबन्ध) अर्थ में पठित है, यहां स्पर्शार्थक मानी गई है। 'सप' के स्पष्टीकरण के लिये २३५ पृ० पर 'शेप' का निर्वचन देखिए।

प्रति यत्स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं जानती गात्।

अध स्मा नो मघवञ्चर्कृतादिन्मा नो मघेव निष्षपी परादाः॥१.१०४.५

देवता—इन्द्रः। (यत् स्या नीथा दस्योः ओकः न प्रत्यदर्शि) जो यह न्याय-प्राप्त प्रजा दस्यु से घर की तरह सुरक्षित दीखती है, (सदनं जानती अच्छ गात्) वह राष्ट्र को अपना घर समझती हुई प्राप्त होती है। (अध मघवन्! चर्कृतात् नः) अतः, हे मघवन् राजन्! दुष्कृत कर्म से हमारे

रक्षा कीजिए, (इत् निष्षपी मघा इव नः मा परादाः) परन्तु जैसे व्यभिचारी मनुष्य धन का नाश करता है, एवं दुर्व्यसनों में पड़कर हमारा नाश मत कीजिए।

जैसे, चोर डाकू वर्षा गर्मी सर्दी आंधी आदि दस्युओं से बचाया हुआ मकान, उस में रहने वाले मनुष्यों की रक्षा करता है, एवं भली प्रकार पालित प्रजा, अपने आश्रय में रहने वाले राजा की रक्षा करती है। अतः, राजा को चाहिए कि वह प्रजा की सदैव रक्षा करे।

६०. तूर्णाशम् तूर्णाशमुदकं भवति, तूर्णमश्नुते। 'तूर्णाशं न गिरेरधि' इत्यपि निगमो भवति ॥ ४।१६ ॥

तूर्णाश = उदक, यह शीघ्र व्याप्त होता है—शीघ्र फैल कर समतल हो जाता है। तूर्ण + अशूङ् व्याप्तौ।

प्रतिश्रुताय वो धृषत्तूर्णाशं न गिरेरधि।
हुवे सुशिप्रमूतये ॥ ८. ३२. ४

देवता—इन्द्रः। (वः प्रतिश्रुताय ऊतये) हे मनुष्यो ! तुम्हारे दुःखों को सुनने के लिये और तुम्हारी रक्षा के लिये (धृषत् सुशिप्रं) शत्रुओं का पराभव करने वाले और क्षिप्रकारी राजा को (हुवे) मैं देता हूं। (गिरेः अधि तूर्णाशं न) यह राजा मेघ से प्राप्त जल की तरह शान्तिप्रद और सुखदायी है ॥ ४ । १६ ॥

६१. क्षुम्पम् क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति, यत् क्षुभ्यते। कदा मर्त्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्।

कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ १.८४.८

कदा मर्त्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति, कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग। अङ्गेति क्षिप्रनाम, अञ्चितमेवाङ्कितं भवति ॥ ५।१७ ॥

क्षुम्प = खुम्ब, यह अनायास ही टूट जाती है। 'क्षुभ' धातु से 'प' प्रत्यय (उणा० ३. २३)।

(इन्द्रः) न्यायाधीश आप (कदा अराधसं मर्त्तं) कब नास्तिक मनुष्य को

(पदा क्षुम्पं इव स्फुरत्) पैर से खुम्ब की तरह अनाथास ही दण्डित करेंगे, (कदा अङ्ग नः गिरः शुश्रवत्) और कब शीघ्र हम आस्तिकों की प्रार्थनाओं को सुनेगें। अर्थात्,न्यायाधीश का कर्तव्य है कि वह नास्तिकों को दण्डित करे, और आस्तिकों के दुःख दूर करे।

अराधसम् = अनाराधयन्तम्। 'अङ्ग' निपात क्षिप्रवाची है। यह पाया हुआ सा होता है। 'अञ्च' का ही 'अङ्क' रूप होता हुआ 'अङ्ग' है।

स्फुरत्—'स्फुर' धातु वधार्थक निघण्टु-पठित है। दुर्गाचार्य ने 'अव-स्फुरिष्यति' की जगह 'अवस्फुरसि' और 'श्रोष्यति' की जगह 'शृणोति' पाठ देखते हुए उसे अशुद्ध ठहराया है। परन्तु कई पुस्तकों में 'अवस्फुरिष्यति' और 'श्रोष्यति' ऐसा पाठ मिलता है, वह ठीक है॥ ५। १७॥

६२. निचुम्पुणः निचुम्पुणः सोमो निचान्तपृणो निचमनेन प्रीणाति।

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।
अपां जग्मिर्निचुम्पुणः॥ ८.९३. २२।

पत्नीवन्तः सुता इमेऽद्भिः सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये पानाय, अपां गन्ता निचुम्पुणः।

समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते, निचमनेन पूर्यते। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते, नीचैरस्मिन्क्वणन्ति, नीचैर्दधतीति वा।'अवभृथ निचुम्पुण'इत्यपि निगमो भवति। निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च॥६।१८॥

(क) 'निचुम्पुण' सोम ओषधि का वाचक है। सोम के भक्षण से मनुष्य प्रसन्न-चित्त हो जाता है। नि+'चमु' भक्षणे+'पृण' प्रीणने, नि चम् पृण—निचुम्पुण।

(इमे पत्नीवन्तः सुताः) ये रस वाले सोम (उशन्तः वीतये यन्ति) मानो स्वयं चाहते हुए राजा के पान के लिए प्राप्त होते हैं। (निचुम्पुणः अपां जग्मिः) यह भक्षण किए जाने पर चित्त को प्रसन्न करने वाला सोम जल में मिलाया जाता है, अर्थात् जल मिश्रित सोम का पान किया जाता है।

पत्नीभिः अद्भिस्तद्वन्तः। पत्नी = जल। वीतये पानाय। जग्मि = गन्ता।

(ख) समुद्र को भी 'निचुम्पुण' कहा जाता है, क्योंकि यह निचमन अर्थात् जल से पूर्ण होता है। निचमनपूर्ण—निचुम्पुण।

(ग) यज्ञादि शुभ-कर्म को भी 'निचुम्पुण' कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक शुभ कर्म में मनुष्य कम बोलते हैं, । शुभ कर्म चुपचाप किए जाते हैं, उन में कोलाहल नहीं किया जाता । नीचैः क्वण—निचुङ्कुण—निचुम्पुण । यज्ञादि शुभ-कर्म को अवभृथ' इस लिए कहा जाता है कि इस से मनुष्य पाप को (नीचैः दधति) नीचे फेंकते हैं, पाप को दूर करते हैं । 'नीचे' अर्थ में प्रयुक्त 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'भृ' धातु से 'क्थन्' प्रत्यय (उणा० २. ३) ।

'अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनो यासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ यजु० ३.४८

(निचुम्पुण अवभृथ !) चुपचाप शान्तिपूर्वक किये जाने वाले यज्ञ ! (निचेरुः असि) तू पुण्य का संचय कराने वाला है । (निचुम्पुणः) चुपचाप शान्ति से यज्ञादि शुभ-कर्म करने वाला मैं (देवैः देवकृतं एनः अवयासिषम्) मन तथा वाणी आदि इन्द्रियों से मानसिक तथा वाचिक पाप को दूर करूं, (मर्त्यैः मर्त्यकृतं) और शरीरों से किए जाने वाले कायिक पाप को नष्ट करूं । (देव ! पुरुराव्णः रिषः पाहि ।) हे पूज्य प्रभो ! अनेकविध दुःख देने वाले पाप से आप मेरी रक्षा कीजिए ।

इस से पूर्व मंत्र में वेदानुकूल कर्म करने की आज्ञा दी गई है, अतः 'अवभृथ' का उपयुक्त अर्थ करना उचित जान पड़ता है । वह मंत्र और उसका अर्थ यह है—

अक्रन्कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ३.४७

कर्मशील विद्वान् मंगलमयी वेद-वाणी के स्वाध्याय के साथ २ तदनुकूल कर्म करते हैं । हे मनुष्यो ! तुम परस्पर में सहायक होते हुए दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये शुभ-कर्मों को करके अस्तंगत होवो ।

'निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च' कहते हुए यास्काचार्य 'निचुङ्कुण' पाठभेद भी वेद में मानते हैं ॥ ६। १८ ॥

६३. पदिम् पदिर्गन्तुर्भवति, यत्पद्यते—सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति । यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥ १.१२५.२

सुगुर्भवति सुहिरण्यः स्वश्वो महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति, यस्त्वायन्तमन्नेन प्रातरागामिन्नतिथे ! मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति

कुमारः। मुत्तीजा मोचनाच्च सयनाच्च तननाच्च।

पति=गन्तु=पक्षी, यात्री, परिव्राजक। गत्यर्थक 'पद' धातु से 'इन्'।

(प्रातरित्वः) प्रातः काल आने वाले अतिथि सन्यासिन्! (यः त्वा आयन्तं) जो गृहस्थ तुझ आये हुए को (मुत्तीजया पदिं इव) जाल में पक्षी की न्याईं (वसुना उत्सिनाति) खान पान वास आदि आतिथ्य-सत्कार से बांधता है, (सुगुः असत्, सुहिरण्यः, स्वश्वः) वह आतिथ्य-कर्ता सुन्दर धन वाला, शोभन यशस्वी, तथा सुवीर्यवान् होता है। (इन्द्रः अस्मै बृहत् वयः दधाति) और, परमेश्वर उसे बड़ी आयु देता है।

'गो' शब्द वैदिक-साहित्य में धनमात्र के लिये बहुत्र प्रयुक्त होता है, क्योंकि गाय ही सर्वोत्तम धन है। यही कारण था कि गौ की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म ठहराया गया था। शतपथ में 'यशो वै हिरण्यं' में 'हिरण्य' का अर्थ यश किया है। और, इसीप्रकार 'वीर्यं वै अश्वः' कहते हुए अश्व शब्द वीर्यवाची जतलाया है।

मन्त्र में उपमा का महत्त्व दर्शनीय है। पक्षी का भोजनाच्छादन के लिये नियत स्थान कोई नहीं, अतिथि को भी ऐसा ही होना चाहिए। पर्यटन करते२ जहां कहीं भोजनादि मिल गया उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। जैसे पक्षी का जाल से बन्धन आकस्मिक और दृढ होता है, एवं घर में आये अतिथि का आतिथ्यसत्कार इस प्रकार किया जावे कि उसका एकदम अतिथिसेवी से घनिष्ट आन्तरिक संबन्ध हो जावे। दाता के आतिथ्य को देख कर अतिथि अत्यधिक प्रभावित हो, और उसके लिये सदा मंगल कामनायें रखता रहे।

अब मंत्र का भाव स्पष्ट है कि जो गृहस्थ, घर में आये अतिथि की सेवा बड़े प्रेम तथा दिल से करता है और उसके हृदय को सत्कार द्वारा अपनी ओर भलीप्रकार आकर्षित कर लेता है वह सुधनवान्, सुयशस्वी, सुवीर्यवान् और दीर्घ-जीवी होता है। उसके धन, उसके यश, उसके वीर्य, और उसकी आयु—इन चारों की वृद्धि होती है। इसी अतिथिपूजा की महिमा को प्रदर्शित करते हुए मनु महाराज ने ठीक इस मंत्र का अनुवाद अपने शब्दों में इस प्रकार किया है—

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम्॥ ३.१०

अर्थात्, जब तक गृहस्थ किसी अतिथि को भोजन न करादे स्वयं भोजन न करे। यह अतिथिपूजा धन को, यश को, आयु को, और अत्यन्त

सुख को देने वाली है। इसी आतिथ्य-सत्कार पर गौतम बुद्ध ने भी बड़ा बल दिया था। लंका तथा बर्मा के बौद्ध गृहस्थियों में अभी तक यह प्रथा जारी है कि जब तक कोई भिक्षु भिक्षा नहीं ले जाता वे भोजन नहीं करते। वैदिक धर्म में गृहस्थियों के लिये नित्यंप्रति कर्तव्य पांच महायज्ञों में एक अतिथि-यज्ञ का भी विधान है। पर आज कल कितने आर्य गृहस्थ इस नैत्यिक धर्म का पालन करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर अपने दिलों से ही पूछें।

मंत्र में 'प्रातरित्वः' शब्द पर विशेष ध्यान देना है। 'प्रातरित्वन्' का अर्थ प्रातःकाल आने वाला अतिथि है। सन्यासी के लिये प्रातःकाल ही भोजन करने का विधान है सायकाल नहीं। जो इस विधान को तोड़ते हुए विकाल-भोजन किया जाता है, वह वैदिक आज्ञा के प्रतिकूल है। गौतम बुद्ध वैदिक-धर्म के इस महत्व को भलीप्रकार समझते थे। उन्हों ने भिक्षुओं के लिये यही नियम बना दिया था। वे १२ बजे के पश्चात् किसी तरह का भोजन नहीं कर सकते थे।

यास्काचार्य ने 'मुचीजया पदिमुत्सिनाति कुमारः, में 'कुमारः' का प्रयोग करते हुए द्योतित किया है कि जैसे नन्हे २ बच्चे खेल करते हुए पक्षियों को फन्दे से पकड़ लेते हैं—यह ही पक्षि-बन्धन से अभिप्राय है। मुचीजा = पाश्या। जाल से पक्षी मुक्त किया जाता है, जाल में बांधा जाता है, और जाल को फैलाया जाता है, अतः इसे 'मुचीजा' कहा गया। मुच् + सि + तञ्।

६४. पादुः

पादुः पद्यतेः। 'आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते'। आविष्कुरुते असमादित्यः। गूहते बुसम्। बुसमित्युदकनाम ब्रवीतेः शब्दकर्मणः भ्रंशतेर्वा। यद्वर्षन् पातयत्युदकं, रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते ॥७।१६॥

पादु = गति। 'पद' गतौ से 'उण्'। मंत्र (१०. २७.२४) यह है—

सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मास्मैतादृगपगूहः समर्ये।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते॥

देवता—इन्द्रः। (सा ते जीवातुः) हे मनुष्य ! वह सूर्य तेरा जीवन-साधन है, (उत तस्य विद्धि) अतः उसका भी ज्ञान प्राप्त कर। (समर्ये एतादृक् मा स्म अपगूहः) जीवन-संग्राम में ऐसे उत्तम जीवन-साधन को मत छोड़। (स्वः आविष्कृणुते) यह आदित्य तेज का प्रकाश करता है, (बुसं गूहते) जल को

ग्रहण करता है, रस का आकर्षण करता है। (अस्य निर्णिजः सः पादुः न मुच्यते) इस निरन्तर शोधक सूर्य का यह कर्म नहीं छूटता।

स्वः = भासम् = तेजः। गृहते बुसम् = यद्वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते, अर्थात् वृष्टि करता हुआ जिस जल को बरसाता है, उसे ही रश्मियों से पुनः ग्रहण करता है। बुस = जल। (क) शब्दार्थक 'ब्रू' धातु से 'स' प्रत्यय (उणा० ३. ६६)। जल के बिना मुख के सूख जाने पर मनुष्य बोल नहीं सकता। (ख) अथवा, 'भ्रंशु' धातु से 'बुस' सिद्ध किया जा सकता है, यह वृष्टि द्वारा नीचे गिरता है। भ्रंश—बुस ॥ ७ । १९ ॥

चतुर्थ पाद

६५. वृकः वृकश्चन्द्रमा भवति, विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा।

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि। उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी ॥१.१०५.१८

अरुण आरोचनो मासकृन्मासानां चार्द्धमासानां च कर्ता भवति। चन्द्रमा वृकः पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्। अभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमास्तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी। जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति ॥ १॥ २० ॥

(क) 'वृक' का अर्थ चन्द्रमा है। (१) इसकी ज्योति अन्य नक्षत्रों की अपेक्षा अधिक होती है। विवृतज्योतिष्क—वृ.........क। (२) इसकी ज्योति विकृत है। सूर्य की ज्योति ताप देती है और रूक्षता लिए होती है, परन्तु चन्द्रमा की चान्दनी बड़ी शीतल स्वच्छ और रमणीय होती है। विकृत ज्योतिष्क—वृक। (३) इस की ज्योति अन्य नक्षत्रों की अपेक्षा अत्यधिक है। विक्रान्त ज्योतिष्क—वृक। 'अरुणो मासकृद्वृकः' मंत्र में 'वृक' शब्द चन्द्रमावाची है।

(अरुणः मासकृत वृकः) अन्य नक्षत्रों से अधिक चमकने वाला और मास तथा पक्षों का निर्माता चन्द्रमा (हि पथा यन्तं ददर्श) अपने मार्ग में प्राप्त होते हुए नक्षत्रगणों से योग करता हुआ मानो उनको देखता है। (निचाय्य उज्जिहीते) और, प्रतिदिन जिस नक्षत्र से योग करना होता है, मानो उसे देखकर

उस से योग करता है। (पृष्ठघामयी सष्टा इव) जैसे पृष्ठरोगी 'चित्रा' नक्षत्र चन्द्रमा से योग करता है, एवं अन्य नक्षत्र भी योग करते हैं। (रोदसी मे अस्य वित्तम्) हे स्त्रीपुरुषो तुम मेरी इस नक्षत्र-विद्या को जानो।

अश्विनी भरणी आदि २७ नक्षत्रों से चन्द्रमा का योग होता है। यह प्रतिदिन एक नक्षत्र से योग करता हुआ लगभग २७ दिन में एक चक्र समाप्त करता है। नक्षत्र-योग के समय कभी २ इनका दृश्य अत्यन्त रमणीय होता है। जो लोग नक्षत्र-विद्या में कुछ रुचि रखते हैं, वे इनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं। 'चित्रा' नक्षत्र बड़ा चमकीला है, उसका देवता त्वष्टा है, अतएव चित्रा को त्वष्टा नाम से भी पुकारते हैं। 'त्वष्टा और' तष्टा—दोनों समानार्थक हैं। 'चित्रा' नक्षत्र का पृष्ठ अनेक धब्बों से चिह्नित है। जैसे, चन्द्रमा में धब्बे दिखायी देने पर उसको पीठ पर 'कलङ्क' का होना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार यहां 'चित्रा' की पीठ पर 'रोग' बतलाया गया है। ज्योतिषी लोग मंत्रार्थ को और अच्छी तरह समझा सकेंगे

अरुण = आरोचन। मास = मास, पक्ष। तष्टा = तक्षणुकर्ता = योगकर्ता, 'तक्ष' 'त्वक्ष' धातुएं करणार्थक हैं (निरु० ६. १११, ८. ११) ॥ १।२० ॥

आदित्योऽपि वृक उच्यते, यदावृङ्क्ते । 'अजोहवीदश्विना वर्त्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य' । आह्वयदुषा अश्विना-वादित्येनाभिग्रस्ता, तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम् ।

(ख) आदित्य भी 'वृक' कहलाता है, यतः यह अन्धकार को हटाता है। यहां वृजी' वर्जने से 'वृक' सिद्ध किया है।

अजोहवीदश्विना वर्त्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य ।
वि जयुषा ययथुः सान्वद्रेर्जातं विष्वाचो अहतं विषेण ॥ १. ११७. १६

(अश्विना ! यत् सीम् वां वर्त्तिका अजोहवीत्, वृकस्य आस्नः अमुञ्चतम्) हे राजा तथा राजपुरुषो ! जैसे द्यावापृथिवी सूर्य के मुख से उषा को छुड़ाते हैं, एवं तुमको अब यह प्रजा आत्म-रक्षा के लिए पुकारे, तब तुम दुष्टजन का ग्रास होने से उसे बचाओ। (विजयुषा) विजयी होते हुए (अद्रेः सानु ययथुः) पर्वत के शिखर पर चढ़ाई करो, (विष्वाचः जातं विषेण अहतम्) और विषम गतिओं वाले दस्युमण्डल के अन्नपानादि पदार्थों को विष से नष्ट करो।

सूर्य के सामने पृथिवी के घूमने पर दिन रात की उत्पत्ति होती है। सूर्योदय होने से पूर्व उषा-वेला होती है, सूर्योदय होने पर वह नष्ट हो जाती है।

मानो कि इस उषा को सूर्य ने अपने मुख में पकड़ा हुआ है, और इस सूर्यपृथिवी के चक्र ने उस उषा को आदित्य के मुख से छुड़ा दिया, और वह छूट कर कहीं भाग गई। इसी प्रकार राजा तथा राजपुरुषों का कर्तव्य है कि वह चोर आदि दस्युओं के मुख से अपनी प्रजा को छुड़ावें। यदि वे दस्यु पर्वतों के किन्हीं दुर्गम स्थलों में निवास करते हों, तो वहां जाकर उन के खान पान की सामग्री को विष द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दें।

उपर्युक्त मंत्र में उत्प्रेक्षा तथा श्लेष-दोनों अलङ्कारों के सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दीजिए।

वृक = आदित्य, दस्यु। वर्तिका = उषा, प्रजा। शतपथ-ब्राह्मण में 'विड् वै शकुन्तिका' (१३.२.६.६) कहते हुए प्रजा को शकुन्तिका बतलाया है। उसी भाव को यहां 'वर्तिका' शब्द से द्योतित किया है। अश्विनौ = द्यावा पृथिवी, राजा तथा राजपुरुष। इत्याख्यानम् = इत्यर्थकथनम्।

श्वापि वृक उच्यते, विकर्त्तनात्। 'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः', । उरणमथिः। उरण ऊर्णावान् भवति। ऊर्णा पुनर्वृणोतेः, ऊर्णोतेर्वा।

(ग) कुत्ते को भी वृक कहते हैं। कुत्ता अनजाने मनुष्यों को बड़ा काटता है। वि + 'कृती' छेदने।

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
सेमं न स्तोमं जुजुषाण आगहीन्द्र प्रचित्रया धिया॥ ८.६६.८

यह मंत्र वालखिल्य सूक्त का है। देवता—इन्द्रः। (अस्य वृकः चित् वारणः, उरामथिः) इस राजा का कुत्ता शत्रुओं को निवारण करने वाला और भेड़ों को हांकने वाला हो। (वयुनेषु आभूषति) वह कुत्ता इशारों पर दूसरे पर आक्रमण करने वाला हो। (सः इन्द्र! जुजुषाणः) वह तू हे राजन्! प्रजा से प्रीति करता हुआ (प्रचित्रया धिया) अद्भुत बुद्धि के साथ (नः इमं स्तोमं आगहि) हमारे इस यज्ञ में दुष्टजनों से रक्षा करने के लिये आ।

इस मंत्र में कुत्तों को पालने की शिक्षा दी गई है। इन कुत्तों से दो प्रकार के कार्य सिद्ध करने चाहिएं। एक तो, चोर डाकू आदिकों से गृह की रक्षा, और दूसरे, भेड़ों का हांकना। भेड़ आदि पशुओं के चरवाहे कुत्ते बड़े उत्तम सिद्ध होते हैं। सैकड़ों पशुओं को एक दो कुत्ते ही चराने में पर्याप्त हैं

और साथ ही इन कुत्तों को ऐसा शिक्षित करना चाहिए कि स्वामी के इशारे पर ही काम करें।

उर = उरण = मेढा। उरण = ऊर्णावान्, इससे ऊन पैदा होती है। ऊर्णा तथा ऊण-दाना प्रयुक्त होते हैं, 'ऊर्ण' से 'मतुप्' अर्थ में 'न' प्रत्यय। ऊर्णन–ऊरण—उरण। ऊर्णा—आच्छादनार्थक 'वृ' धातु के संप्रसारण रूप 'उर्' से 'नक्' प्रत्यय (उणा०३.२)। अथवा, 'ऊर्णुञ्' आच्छादने से 'ड' (उणा०५.४७)।

वृद्धवाशिन्यपि वृक्युच्यते। 'शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार' इत्यपि निगमो भवति ॥ २ । २१॥

(घ) बहुत चिंघाड़ने वाली भेड़िनी को भी वृकी कहते हैं। 'कृत' संशब्दने धातु से 'ड' प्रत्यय, वृद्ध कीर्तयति इति वृद्धकः—वृकः, स्त्रीलिङ्ग में 'वृकी'। 'वृकी' का मंत्र (१.११६.१६) निम्न है—

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥

देवता—अश्विनौ। (वृक्ये शतं मेषान् चक्षदानं) भेड़िनी के लिये अनेक भेड़ों को देने वाले (तं ऋज्राश्वं) उस सधे हुए घोड़े वाले शिकारी को (पिता अन्धं चकार) पालक राजा नजरबन्द करे, कारागार में डाले। (नासत्या, दस्रा, भिषजा) सर्वदा सत्य बोलने वाले, अज्ञान-नाशक तथा अध्यात्म-रोगों के चिकित्सक अध्यापक और उपदेशक ! (तस्मै विचक्षे अक्षी आधत्तम्) कारागार में पड़े उस कैदी को सत्य-दर्शन के लिये ज्ञान-नेत्र प्रदान करो, (अनर्वन्) जिससे वह ऐसी हिंसा करने वाला न रहे।

यहां मृगया के समय हिंसक पशु को पकड़ने या मारने के लिये किसी अन्य गरीब पशु का बांधना आदि सर्वथा निषिद्ध ठहराया है। जो शिकारी इस आज्ञा का पालन नहीं करते, उन्हें कैद करने की आज्ञा दी गई है। साथ ही यह भी द्योतित किया गया है कि कैदिओं को शिक्षा देने का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे वे दिल से अपने दोष को समझ सकें।

अनर्वन् = अनर्वा, 'सु' का लुक्। 'नञ्' पूर्वक 'अर्व' हिंसायाम् से 'कनिन्' ॥ २ । २१ ॥

६६. जोपवाकम्

जोपवाकमित्यविज्ञातनामधेयम्, जोपयितव्यं भवति।

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन॥६.५९.४

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्याश्नीथः। अथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीथः।

जोषवाक—अविज्ञात वचन, अविज्ञात वचन बोलने वाला विजञ्जप, अर्थात् 'ओ३म्' का जाप करने वाला। 'जुष' परितकणे, यह परितकणीय होता है।

देवता—इन्द्राग्नी। (ऋतावृधा, पज्रहोषिणा देवा इन्द्राग्नी) हे सत्यप्रचारक, तथा अपनी आज्ञाओं को पालन कराने वाले देव प्रधानमंत्रिन् और राजन्! (यः तेषु सुतेषु वां स्तवत्) जो मनुष्य उन अन्नादि सोम पदार्थों के उत्पन्न होने पर तुम्हारा सत्कार करता है, (भसथः) उसका अन्न तुम खाते हो, (चन जोषवाकं वदतः न) परन्तु जपनशील संन्यासी या ब्राह्मण का अन्न नहीं भोगते।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि जो मनुष्य केवल जप तप में रत हैं और उनके पास संपत्ति नहीं, उन ब्राह्मणादिकों से कर नहीं लेना चाहिए।
भसथः=अश्नीथः, यहां 'भस' धातु भक्षणार्थक है (निरु०५.४५)। पज्रः प्रार्जितः प्राप्तः होषः घोषः ययोस्तौ पज्रहोषिणौ।

६७. कृत्तिः कृत्तिः कृन्ततेर्यशो वा अन्नं वा। 'महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र'। सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरिवेति। इयमपीतरा कृतिरेतस्मादेव सूत्रमयी, उपमार्थे वा। 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः' इत्यपि निगमो भवति।

॥ कृत्ति=यश, अन्न॥ 'कृती' छेदने से 'क्तिन्'। यश अनेक आपदाओं को काटता है, और अन्न भूख को नष्ट करता है।

तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन्॥ ८.९०.६

देवता—इन्द्रः। (असुर! तं त्वा प्रचेतसं उ) हे प्राणदातः! पूर्वोक्त गुणविशिष्ट आप प्रज्ञानघन से ही, (नूनं भागं इव राधः ईमहे) जैसे पुत्र

पिता से दायभाग को मांगता है, वैसे हम धर्म–धन को मांगते हैं। (इन्द्र! ते महि शरणा कृत्तिः इव) हे परमेश्वर! आपकी महान् शरण अन्तरिक्ष में व्याप्त यश की तरह आपदाओं को दूर करने वाली है। (ते सुम्ना नः प्राश्नवन्) आप के आनन्द हमें प्राप्त हों। शरणा=शरणम्।

गदड़ी वाचक 'कृत्ति' शब्द भी इसी 'कृती' धातु से बनता है। छोटे २ अनेक वस्त्र–खण्डों को जोड़ कर यह गुदड़ी बनायी जाती है। यह वेष प्रायः करके तपस्वी साधु सन्तों का होता था। उसी की न्याईं चर्म–वस्त्र भी तापसों का ही वेष है, अतः उसे भी 'कृत्ति' कहा जाता है। 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः' मंत्र की व्याख्या २३३ पृ० पर देखिए।

६८. श्वघ्नी

श्वघ्नी कितवो भवति, स्वं हन्ति। स्वं पुनराश्रितं भवति। 'कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने'। कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति देवने। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः, कृतवाशी नामकः ॥ ३। २२॥

श्वघ्नी=जुआरी, यह धन का नाश करता है। स्वघ्निन्–श्वघ्निन्। स्व=धन, यह किसी के आश्रित रहता है। 'श्रि' से 'व' प्रत्यय।

कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः ॥ १०.४३.५

देवता—इन्द्रः। (यत् मघवा सूर्य जयत्) जिस तेज से धनपति परमेश्वर ने सूर्य को जीता हुआ है, (संवर्गं) दुर्गुणों के हटाने वाले उस तेज को, (श्वघ्नी देवने कृतं न विचिनोति) जैसे जुआरी जूए में विजय को ढूंडता है, एवं ममता–रहित त्यागी ढूंडता है। (मघवन्! ते अन्यः तत् वीर्यं न अनु–शकत्) हे ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप से भिन्न दूसरा कोई उस तेज के अनु–प्रदान में समर्थ नहीं। (न पुराणः, उत न नूतनः) हे धनपते! उस तेज को न पहले किसी ने दिया, और न अब या आगे कोई दे सकता है। अतः, आप ही उस बल के प्रदाता हो, आप मुझे बल प्रदान कीजिए।

कितव—(क) जुआरी लोग जूए में दाव पर धन लगाने के लिए 'तेरे पास क्या है, तेरे पास क्या है'–ऐसा पूछते हैं अतः 'किं तव' के शब्दानुकरण से जुआरी को 'कितव' कहा जाता है। (ख) अथवा, जुआरी के मित्र लोग सदा यही अभिलाषा रखते हैं कि यह 'कृतवान्' अर्थात् विजयी हो, अतः उसे कितव कहा गया। कृतवत्—कितव ॥ ३। २२॥

६९. समम्

समिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्—
मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः।
ऊर्मिर्न नावमावधीत् ॥ ८.७५.९

मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधियः सर्वतो द्वेषसो अंहतिरूर्मि-रिव नावमावधीत्। ऊर्मिरूर्णोतेः। नौः प्रणोत्तव्या भवति, नमतेर्वा। तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति। 'उतो सम-स्मिन्नाशिशीहि नो वसो' इति सप्तम्याम्। शिशीतिर्दानकर्मा। 'उरुष्या णो अघायतो समस्मात्' इति पञ्चम्याम्। उरुष्यति रक्षा-कर्मा। अथापि प्रथमाबहुवचने—'नभन्तामन्यके समे' ॥४।२३॥

'सम' यह सर्वार्थक सर्वनाम है और अनुदात्त है।

देवता—अग्निः। हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आपकी कृपा से (समस्य दूढ्यः परिद्वेषसः अंहतिः) दुष्टबुद्धि और सर्वदा द्वेष करने वाले अखिल दुर्जनों का उत्पात, (ऊर्मिः नावं न नः मा अवधीत्) जैसे बड़ी २ जल-तरंगें नौका का नाश कर देती हैं, एवं हमारा नाश न करें।

दूढ्यः=दुर्धियः=पापधियः। परि=सर्वतः। ऊर्मि=तरङ्ग, आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' धातु से 'मि' प्रत्यय (उणा० ४.४४) यह नदीतट को ढांप लेती है। नौ—(क) यह प्रणोत्तव्य होती है, अर्थात् इसे खेहना पड़ता है। 'नुद' प्रेरणे से 'डौ' प्रत्यय (उणा०२.६४)। (ख) अथवा, यह चलते समय इधर उधर झुकती है। 'नम्' से 'डौ'।

(प्रश्न) यह 'सम' अनुदात्त-स्वभाव वाला नाम कैसे हो सकता है? 'फिषोऽन्तोदात्तः' फिट्सूत्र से नाम अन्तोदात्त होते हैं, अनुदात्त नहीं। परन्तु 'चादयो अनुदात्ताः' फिट्सूत्र से कई निपात अनुदात्त हैं, अतः 'सम' निपात होना चाहिए।

(उत्तर) परन्तु 'सम' का विकार देखा जाता है। निपात सदा अव्यय हुआ करते हैं। अतः, 'त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' फिट्सूत्र के अपवादा-नुसार 'सम' अनुदात्त भी है और नाम भी है। निम्न मंत्र में 'सम' सप्तम्यन्त है—

विद्मा सखित्वमुत शूर भोज्यमा ते ता वज्रिन्नीमहे।
उतो समस्मिन्नाशिशीहि नो वसो वाजे सुशिप्र गोमति ॥८.२१.८

देवता—इन्द्रः। (शूर। ते सखित्वं उत भोज्यं विद्म) हे शूरवीर परमेश्वर!

हम आप की मित्रता और सुख-भोग को समझते हैं, (अग्निश्च ! ता आ ईमहे) अतः हे अग्ने ! हम उन दोनों की याचना करते हैं। (वसो सुशिप्र !) हे सर्वधासक तथा सुन्दर स्वरूप वाले जगदीश्वर ! (उतो समस्मिन् गोमति वाजे) प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त सब प्रकार के बल या ज्ञान में (नः आशिशीहि) हमें सुख प्रदान कीजिए। यहां यङ्लुगन्त 'शी' धातु दानार्थक मानी गई है।

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।

स नो बोधी श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्॥ यजु० ३.२६

देवता—अग्निः। (शोचिष्ठ दीदिवः) शुद्धस्वरूप और देदीप्यमान प्रभो! (नः सखिभ्यः) हम आपके मित्र अपने लिये (तं त्वा सुम्नाय नूनं ईमहे) आप से सुख की याचना करते हैं। (सः नः बोधि) वह आप हमारे पर कृपा कीजिए (हवं श्रुधि) और हमारी प्रार्थना को सुनिए, (नः समस्मात् अघायतः उरुष्य) तथा हमारी सब प्रकार के पापाचरणों से रक्षा कीजिए।

यहां 'सम' पञ्चम्यन्त है। 'उरुष्य' धातु रक्षार्थक मानी गयी है।

'नभन्तामन्यके समे' में प्रथमा-विभक्ति का बहुवचनान्त है। मंत्र की व्याख्या ५.८ में देखिए॥ ४। २२॥

७०. कुटस्य
७१. चर्षणिः

हविषा जारो अपां पिपर्त्ति पपुरिर्नरा।

पिता कुटस्य चर्षणिः॥ १.४६.४।

हविषा अपां जरयिता। पिपर्त्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा, प्रीणातिनिगमौ वा। पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः।

कुट = कृत। पाली में 'कट' प्रयुक्त होता है। चर्षणि = चायिता = द्रष्टा। दर्शनार्थक 'चक्षिङ्' धातु से 'अनि'। चक्षणि—चर्षणि, 'क्' को 'र्'।

देवता—अश्विनौ। (नरा ! अपां जारः) सांसारिक कार्यभार को चलाने वाले द्यावापृथिवी! तुम्हारे में से एक आदित्य जल शोषक, (पपुरिः) पालक या तृप्त करने वाला, (पिता कुटस्य चर्षणिः) पितृस्थानीय, और प्रत्येक कृत कर्म का द्रष्टा है। (हविषा पिपर्त्ति) वह जल के द्वारा सब की पालना या तृप्ति करता है।

पिपर्त्ति और पपुरि—ये दोनों शब्द 'पृ' पालनपूरणयोः या 'प्रीञ्' तर्पणे से बने हुए हैं।

७२. शम्बः

शम्ब इति वज्रनाम, शमयतेर्वा, शातयतेर्वा । 'उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन' इत्यपि निगमो भवति ॥ ५ । २४ ॥

शम्ब = वज्र, हिंसार्थक णिजन्त 'शम' या 'शद' धातु से 'बन्, प्रत्यय (उणा०४.९४)। मंत्र (१०.४२.७) यह है—

आराच्छत्रुमपबाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन ।
अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥

देवता—इन्द्रः । (पुरुहूत इन्द्र !) निर्वाचित राजन् ! (यः उग्रः शम्बः) जो आप का उग्र वज्र है, (तेन आरात् शत्रुं दूरं अपबाधस्व) उससे समीपवर्ती शत्रु को दूर भगाइए, (अस्मे यवमत् गोमत् धेहि) हमारे में प्रशस्तान्न तथा प्रशस्त गौओं सहित धन स्थापित कीजिए, (जरित्रे वाजरत्नां धियं कृधि) और आस्तिक जनों को ज्ञान–रत्न–विद्या प्रदान कीजिए ॥ ५ । २४ ॥

७३. केपयः

केपयः कपूया भवन्ति । कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितं, दुष्पूयं भवति—

पृथक् प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥

पृथक् प्रायन् । पृथक् प्रथतेः । प्रथमा देवहूतयो ये देवान् आह्वयन्त, अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि दुरनुकराण्यन्यैः, येऽशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम् । अथ ये नाशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्, ईर्मैव ते न्यविशन्त—इहैव ते न्यविशन्त, ऋणे हैव ते न्यविशन्त, अस्मिन्नेव लोक इति वा । ईर्म इति बाहु-नाम, समीरिततरो भवति ॥

केपयः = कपूयाः । कपूय—केपय । 'केपयः' में 'सु' बहुवचन की जगह पर है । कुत्सितं कर्म पुनातीति कपूयः, जो पतित कर्म को शुद्ध करता है, परन्तु वह दुष्पूय होने के कारण शुद्ध नहीं हो सकता, उस नीच को 'कपूय' कहते हैं ।

उपर्युक्त मंत्र में (१०.४४.६) कर्मफल के सिद्धान्त का बड़े उत्तम शब्दों में प्रतिपादन किया है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

देवता—इन्द्रः। हे जीवात्मन्! (दुष्टरा श्रवस्यानि अकृण्वत) जिन लोगों ने दुस्तर, अर्थात् इतर जनों से दुरनुकरणीय यश वाले कर्म किए हैं, (देवहूतयः प्रथमाः पृथक् प्रायन्) वे दिव्य गुणों को धारण करने वाले श्रेष्ठजन नीचजनों से भिन्न उत्तम गति को पाते हैं। (ये यज्ञियां नावं आरोढुं न शेकुः) और, जो पवित्र नौका में—धर्म नौका में—बैठने के लिए समर्थ नहीं हुए, (ते केपयः ईर्मा एव न्यविशन्त) वे नीच लोग इसी मृत्युलोक में नीच गति को पाते हैं। अथवा, वे पापीजन ऋषि-ऋण पितृ-ऋण आदि ऋणों में पड़े हुए ऋणी होकर नीच योनिओं में प्रविष्ट होते हैं।

पृथक्—'प्रथ' के संप्रसारण रूप 'पृथ' से 'अजि' प्रत्यय (उणा० १.१३७) भिन्न पदार्थ अन्यों को छोड़ कर विस्तृत होता है। ईर्मा = इह, ऋणे। ईर्म = बाहु, यह अन्य अङ्गों से अधिक लम्बायमान होता है, ईर् + मक्। उपर्युक्त मंत्र के भाव को छान्दोग्य उपनिषद् ने "**अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिमापद्येरन्, श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा**" (५ प्रपा० १० ख०) इत्यादि वचनों में दर्शाया है।

७४. तूतुमाकृषे

'एता विश्वा सवना तूतुमाकृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे'। एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे स्वयं बलस्य पुत्र! यानि धत्स्व॥ ६।२५॥

तूतुमाकृषे = तूर्णमाकुरुषे = शीघ्र निर्माण करते हो।

एता विश्वा सवना तूतुमाकृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मंत्रो ब्रह्मोद्यतं वचः॥ १०.५०.६

देवता—इन्द्रः। (सहसः सूनो!) हे बलस्वरूप परमेश्वर! (यानि एता विश्वा सवना स्वयं दधिषे) आप जिन इन सब लोकों को इस समय स्वयं धारण कर रहे हो, (तूतुमाकृषे) उन सब को आप ही बड़ी शीघ्र बनाते हो। (वराय धर्मणे ते पात्रं) और श्रेष्ठ तथा धर्ता आप के ही रक्षण, (तना, यज्ञः, मंत्रः, उद्यतं ब्रह्म वचः) धन, यज्ञ, गम्भीर विचार और उन्नत वेद वाणी—ये सब कुछ हैं।

'तना' शब्द निघण्टु में धनवाची पठित है। वराय, धर्मणे—यहां षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी है॥ ६।२५॥

७५. अंसत्रम् अंसत्रमंहसस्त्राणं धनुर्वा कवचं वा । कवचं कु अञ्चितं भवति, काञ्चितं भवति, कायेऽञ्चितं भवतीति वा ।

प्रीणीताश्वान्हितंजयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम् ।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् ॥१०.११०.७

प्रीणीताश्वान्, सुहितं जयथ, जयनं वो हितमस्तु । स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम् द्रोणाहावम् । द्रोणं द्रुममयं भवति । आहाव आह्वानात् । आवह आवहनात् । अवतो अवातितो महान् भवति । अश्मचक्रमशनचक्रम् असनचक्रमिति वा । अंसत्रकोशम्, अंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु । कोशः कुष्णातेर्विकुषितो भवति । अयमपीतर कोष एतस्मादेव । सञ्चयः, आचितमात्रो महान् भवति । सिञ्चत नृपाणं नरपाणम् । कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते ॥७।२६॥

अंसत्र = धनुष, कवच । अंहसस्त्रायते इति अंहसस्त्रम्—अंसत्रम् । ये प्रहार से रक्षा करते हैं । कवच—(क)—कु अंचितं भवति, यह कुटिल, अर्थात् वक्र बना हुआ होता है, कु + अञ्चु । (ख) काञ्चितम्, किंचित् कुटिलीकृत होता है, क + अञ्चु । (ग) काये अञ्चितम्, शरीर पर धारण किया जाता है, काय + अञ्चु ।

देवता—विश्वेदेवाः । (अश्वान् प्रीणीत) हे सैनिक पुरुषो ! अश्वों को तृप्त करो, (इत् स्वस्तिवाहं रथं कृणुध्वम्) और आराम से ले जाने वाले रथ को तय्यार करो, और फिर (अवतं) संग्रामरूपी कूप से (नृपाणं सिञ्चत) शत्रुओं के रुधिर-रूपी जल को सींचो । (द्रोणाहावं) जिस कूप-संग्राम में काष्ठ-निर्मित रथ द्रुममय आहाव हैं, (अश्मचक्रं) व्याप्त होने वाले या फैंके जाने वाले चक्र चक्र हैं, (अंसत्रकोशं) और धनुष डोल हैं । (हितं जयाथ) एवं, तुम्हारा विजय सब के लिए हितकारी हो, हानिकर किसी के लिए न हो ।

एवं इस मंत्र में संग्राम के लिए कूप की उपमा दीगई है ।

द्रोण = द्रुममय = काष्ठ-निर्मित । **आहाव** = कूप के समीप पशुओं के जल

पानार्थ बनाया हुआ कुण्ड । यहां पशुओं को जलपान के लिए बुलाया जाता है, अतः उस कुण्ड को 'आहाव' कहते हैं । आ+ह्वेञ् । इसी का दूसरा नाम आवह भी है, क्योंकि जल पान के लिये पशु इस के समीप लाए जाते हैं, आ वह । अवत=कूप, यह बहुत नीचे तक गया हुआ होता है, अव+अत। अश्मन्=अशन, असन—'अशुङ्' व्याप्तौ या 'असु' क्षेपणे से 'मनिन्' प्रत्यय। कोश=ढोल, यह खाली होता है। 'कुष' निष्कर्षे धातु से 'घञ्'। धन-कोश का वाचक 'कोश' शब्द भी इसी 'कुष' धातु से सिद्ध होता है। खजाने से रुपया निकाला जाता है, कुष्णाति अस्मात् सः कोशः। इस कोश का नाम 'सञ्चय' भी है, यतः इस में मात्रा अर्थात् रुपये आदि संचित होते हैं ॥ ७२६ ॥

७६. काकुदम्

काकुदं तात्विस्याचक्षते । जिह्वा कोकुवा, साऽस्मिन्धीयते । जिह्वा कोकुवा, कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा, कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः । जिह्वा जोहुवा । तालु तरतेस्तीर्णतममङ्गम्, लततेर्वा स्याद्ल लम्बकर्मणो विपरीताद्ध यथा तल्वम्, लतेत्यविपर्ययः ।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ८.६९.१२

सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः कमनीयदेवो वा भवसि वरुण ! यस्य ते सप्तसिन्धवः । सिन्धुः स्रवणात् । यस्य ते सप्त स्रोतांसि, तानि काकुदमनुक्षरन्ति, सूर्मि कल्याणोर्मि स्रोतः सुषिरमनु यथा ॥ ८ । २७ ॥

काकुद=तालु । (क) जिह्वा को 'कोकुवा कहते हैं, वह इस तालु में शब्दोच्चारण के लिये लगायी जाती है, अतः तालु को 'काकुद' कहा गया । कोकुवा+धा=कोकुवाध--काकुद । (ख) जिह्वा इस पर वर्णों को प्रेरित करती है । कोकुवानुद—काकुद । (ग) अथवा, शब्दार्थक यङ्लुगन्त 'कु' धातु से 'द' प्रत्यय । तालु पर ही जिह्वा के लगने से शब्दों का उच्चारण होता है, अतः यह शब्दोच्चारण का साधन है । कोकुद--काकुद ।

कोकुवा=जिह्वा, यह कोकूयमाना, अर्थात् शब्द करने वाली होती है ।

'कोकु' से 'वन्' प्रत्यय। जिह्वा—यह रसों का ग्रहण करती है। जुहोत्यादिगणी 'हु' धातु से 'वन्' (उणा०१.१५४)। जोहुवा—जिह्वा। तालु=(क) 'तॄ' धातु से 'ञुण्' प्रत्यय (उणा०१.५) यह अंग बड़ा है। (ख) अथवा लम्बे अर्थ में प्रयुक्त 'लत' धातु के विपरीत रूप 'तल' से 'ञुण्' प्रत्यय। जैसे, इसी धातु के विपरीत रूप से 'तल' की सिद्धि होती है, और 'लता' अविपरीत धातु का ही रूप है। अब मंत्र का अर्थ देखिए—

(वरुण ! सुदेवः असि) हे अज्ञान-नाशक विद्वान् ! तू सुदेव है, (यस्य ते काकुदं सप्तसिन्धवः) जिस के तालु में सात शब्द-नदियों के रूप में सात विभक्तियें (सुषिरां सूर्म्यं इव अनुक्षरन्ति) जैसे सुछिद्र नाली में जल सुगमतया बड़े प्रवाह से वहता है, एवं निरन्तर धारारूप में प्रवाहित हो रही हैं।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण-प्रयोजनों को दर्शाते हुए इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

(सुदेवो असि वरुण) सत्यदेवोऽसि, (यस्य ते सप्तसिन्धवः) सप्तविभक्तयः (अनुक्षरन्ति काकुदं) काकुदं तालु, काकुर्जिह्वा साऽस्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। (सूर्म्यं सुषिरामिव) तद्यथा शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्तसिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति, तेनासि सत्यदेवः। अर्थात्, हे वरुण ! तू सत्यदेव है, जिसके तालु में सात विभक्तियें, जैसे सुछिद्र लोह-प्रतिमा में जलती हुई अग्नि चारों तरफ के छिद्रों में से प्रकाशित होती है, एवं प्रकाशमान होरही हैं।

सुदेव=कल्याणकारी देव, सुन्दर देव। सिन्धु—'स्रु' धातु से 'उ' प्रत्यय। स्रवु—सिन्धु। सिन्धु=स्रोतस् =नाली। सूर्मि=अच्छे वहाव वाली नाली॥८।२७॥

७७. वीरिटे **वीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवाह। पूर्वं वयतेः, उत्तरमीरतेः। वयांसीरन्त्यस्मिन्, भांसि वा।**

तदेतस्यामृच्युदाहरन्त्यपि[1] निगमो भवति—

प्रराह्जे सुपया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥

---

१. कई पुस्तकों में 'अपि निगमो भवति' यह पाठ नहीं है।

प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषामेयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा । वीरिटमन्तरिक्षं, भियो वा भासो वा ततिः । अपिवोपमार्थे स्यात्, सर्वपती इव राजानौ वीरिटे गणे मनुष्याणां, रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिहूतौ वायुश्च नियुत्वान् पूषा च स्वस्त्ययनाय। नियुत्वान् नियुतोऽस्याश्वाः । नियुतो नियमनाद्वा, नियोजनाद्वा ।

वीरिट—इसका अर्थ तैटीकि निरुक्तकार केवल अन्तरिक्ष ही करता है, परन्तु यास्काचार्य इसे गणवाची भी मानते हैं।

तैटीकि वीरिट के दो निर्वचन करते हैं। (क) पक्षीवाचक 'वि' शब्द पूर्वक 'ईर' धातु से 'इटन्' प्रत्यय। (ख) और, 'भास्' पूर्वक 'ईर' से 'इटन्'। अन्तरिक्ष में पक्षी तथा सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि चमकने वाली ज्योतिएं गति करती हैं। परन्तु यास्काचार्य इन निर्वचनों के अतिरिक्त 'भियो वा भासो वा ततिः'—ये दो निर्वचन और करता है। भी+तन्+ड, भास्+तन्+ड, दोनों जगह 'रि' का आगम। आधाररहित अन्तरिक्ष में बड़ा डर लगता है, और इस में सूर्य नक्षत्रादि ज्योतिओं का विस्तार है।

इसी प्रकार गण (समूह) भी भयावह होता है, और उस में तेजस्विता अधिक होती है। निरुक्तकार इस 'वीरिट' को 'प्रवावृजे सुप्रयाः' आदि मंत्र में (ऋ० ७. ३९.२) उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। मंत्र का अर्थ यह है—

(अक्तोः, उषसः पूर्वहूतौ) रात्रि के चले जाने पर और उषाकाल के प्रारम्भ होने पर, (नियुत्वान् वायुः पूषा स्वस्तये) जब कि सब लोकों को नियम में रखने वाली या उन्हें परस्पर में जोड़ने वाली गति से युक्त वायु और सूर्य कल्याण के लिए (वीरिटे आ इयाते) अन्तरिक्ष में आते हैं, (एषां विशां सुप्रयाः बर्हिः प्रवावृजे) तब इन मनुष्यों के लिए शुभागमनयुक्त वृद्धि प्रदान की जाती है। (विश्पती) ये वायु और आदित्य सर्वजनों के रक्षक और पालक हैं।

अथवा, रात्रि के चले जाने पर और उषाकाल के प्रारम्भ होने पर जब कि सब लोकों को नियम में रखने वाली या उन्हें परस्पर में जोड़ने वाली गति से युक्त वायु और सूर्य कल्याण के लिये (वीरिटे विश्पती इव) प्रजा-समूह में प्रजापालक राजा तथा राणी की तरह सर्वपालक होते हुए ऊपर आते हैं, तब इन मनुष्यों के लिए शुभागमनयुक्त वृद्धि प्रदान की जाती है।

एवं, इस मंत्र में प्रभात–वेला को पुष्टि–प्रद बतलाया गया है।

यहां पहले अर्थ में 'इव' पदपूरक है, और दूसरे अर्थ में उपमार्थक है। सुप्रयाः = सुप्रायणम्। उषसः पूर्वहूतौ = उषसः पूर्वस्यामभिहूतौ = उषा की

पहली आवाज़ पर, अर्थात् प्रभातवेला के प्रारम्भ मे। **नियुत्**—नि यम्, नि युज्। वायु का अश्व 'नियुत्' माना जाता है (देखिए १६२ पृ०)।

यजुर्वेद (३३.४४) में भी उपर्युक्त मंत्र पाया जाता है। उसकी व्याख्या में जो महीधर ने निरुक्त का पाठ दिया है, वह अत्यन्त भिन्न है।

७८-८४ अच्छ आदि सात पद

अच्छाभेः, आप्तुमिति शाकपूणिः। परीं सीमिति व्याख्याताः। एनमेनामस्या अस्येत्येतेन व्याख्यातम्।

'अच्छ' निपात 'अभि' अर्थ में प्रयुक्त होता है। शाकपूणि आचार्य इसे आप्तुम् = प्राप्त करने के लिए—इस अर्थ में मानता है।

'परि' उपसर्ग, (१.३) और 'ईम्' (१.९, २.८) 'सीम्' (१ ६) निपातों की व्याख्या कर चुके हैं।

एनम् (इसको) एनाम्—इन दोनों की व्याख्या 'अस्याः 'अस्य' के अनुसार समझ लें (४ अ० २५ ख०)।

८४. सृणिः

सृणिरङ्कुशो भवति, सरणात्। अंकुशोऽञ्चतेः, आकुञ्चितो भवतीति वा। 'नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्' इत्यपि निगमो भवति। अन्तिकतममंकुशादायात्पक्वमौषधम् आगच्छत्विति, आगच्छत्विति॥ ६। २८॥

सृणि = दात्री, यह धान्यादि काटने के लिए बहुत चलायी जाती है। 'सृ' धातु से 'नि' प्रत्यय (उणा०४. ४९)। **अंकुश** = दात्री, 'अञ्चू' से 'उषच्' (उणा० ४. १०७) या आकुचित अर्थात् झुकी हुई होने से इसे 'अंकुश' कहा जाता है। आ+कुञ्च्।

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ यजु० १२. ६८

(सीराः युनक्त) हे कृषको! हल जोड़ो, (युगा वितनुध्वम्) जूए फैलाओ, (इह कृते योनौ च गिरा बीजं वपत) और इस संस्कृत क्षेत्र में कृषि-विद्या के अनुसार बीज का वपन करो, (श्रुष्टिः सभराः असत्) जिस से शीघ्र हरा भरा क्षेत्र हो, (नेदीयः इत् सृण्यः पक्वं एयात्) और स्वल्पकाल में ही दात्री के द्वारा पका धान्य हम प्राप्त हों॥ ९। २८॥

षष्ठाध्याय ।

* प्रथम पाद *

१. आशुशुक्षणिः — त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्व-मश्मनस्परि । त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ २.१.१

त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिः । आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः, क्षणिरुत्तरः क्षणोतेः । आशु शुचा क्षणोतीति वा सनोतीति वा । शुक् शोचतेः । पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा, तथा हि वाक्यसंयोगः । आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात् चिकीर्षितज उत्तरः, आशुशोचयिषुरिति । शुचिः शोचतेर्ज्वलति-कर्मणः । अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव, निष्षिक्तमस्मात्पापक-मिति नैरुक्ताः ।

आशुशुक्षणि—(क) 'आशु' और 'शु'—ये दोनों शीघ्रार्थक हैं, उनके आगे हिंसार्थक 'क्षणु' धातु का 'क्षणि' रूप है । शीघ्रातिशीघ्र नाश करने वाला । (ख) आशु शुचा क्षणोति, शीघ्र अपनी दीप्ति से नाश करने वाला । आशु शुच् क्षणि । (ग) आशु शुचा सनोति, शीघ्र अपने प्रकाश से देने वाला । (घ) आ इत्याकार उपसर्गः0, 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक सन्नन्त 'शुच्' धातु से 'अनि' प्रत्यय (उणा0२.१०३) । प्रदीप्त करने की इच्छा रखने वाला ।

'त्वमग्ने द्युभिः' मंत्र का देवता अग्नि है । विद्युत् किन पदार्थों से उत्पन्न होती है—यह विज्ञान इस मंत्र में दिया हुआ है ।

(अग्ने ! त्वं द्युभिः) हे विद्युत् ! तू सूर्यकिरणों से, (त्वं अद्भ्यः) तू जल से, (त्वं अश्मनः परि) तू पत्थर से, (त्वं वनेभ्यः) तू लकड़ियों से, (त्वं ओषधीभ्यः) और तू ओषधियों से (जायसे) पैदा होती है । (नृणां नृपते !) हे मनुष्यों की पालना करने वाली ! (त्वं आशुशुक्षणिः) तू

अतिशीघ्र नष्ट करने वाली, तू शीघ्र दीप्ति के साथ जलाकर नष्ट करने वाली, तू शीघ्र दीप्ति से अनेक लाभ देने वाली (शुचिः) और देदीप्यमान होने वाली है।

इस मंत्र में विद्युत् पैदा करने के ५ साधन बतलाये गये हैं। (१) सूर्य की किरणों से बिजुली पैदा की जा सकती है। आजकल के वैज्ञानिक Ultra Voilet नामी सूर्य--किरणों को विद्युन्मय मानते हैं। उन्हीं के सहारे बिना तार के तारबर्की चलायी गई है। एवं, थर्मोपाइल नामी यंत्र में सूर्य-किरणों से विद्युत्-धारा चलायी जाती है। (२) जल से विजुली की उत्पत्ति प्रायः मेघों में देखी ही जाती है। (३) नैसर्गिक चुम्बक जिसे अंग्रेज़ी में Lode Stone कहते हैं: उस से विद्युत् पैदा होती है। (४) आबनूस की लकड़ी तथा सरकण्डे को रगड़ने से बिजुली उत्पन्न होती है। (५) और, डाक से उत्पन्न होने वाली लाख तथा अन्य गूदों में भी विद्युत् की उपस्थिति है।

अशनिपात से किस तरह प्राणी क्षण भर में ही मृत्यु का ग्रास हो जाता है, यह किसी से छिपा नहीं। विद्युत् की भट्ठियों में विद्युत् का प्रकाश ताप में परिवर्तित होकर जलाने का काम देता है। और, विद्युत् की दीप्ति से कितने कार्य चलाये जाते हैं—यह भी सब जानते ही हैं। अतः, विद्युत् को उपर्युक्त पहले तीन निर्वचनों से 'आशुशुक्षणि' कहा गया।

अथवा, 'आशुशुक्षणिः'—यह प्रथमान्त पद पञ्चमी के अर्थ को कहने वाला है, क्योंकि ऐसे ही सारे वाक्य का संबन्ध है। अद्भ्यः, अश्मनः परि, वनेभ्यः, ओषधीभ्यः—यहां सर्वत्र पञ्चमी विभक्ति से विद्युत् के उत्पत्ति-स्थानों को बतलाया गया है, अतः 'आशुशुक्षणिः' भी पञ्चम्यर्थ का द्योतक होना चाहिए। इस पक्ष में उपर्युक्त चौथा निर्वचन घटता है। विद्युत् प्रदीप्त करने की इच्छा रखने वाले पदार्थों से ही उत्पन्न होती है, हर एक पदार्थ से पैदा नहीं होती। दृष्टान्त के तौर पर आबनूस की लकड़ी को ही लीजिए। यदि वह ठंडी होगी, तो विद्युत् पैदा नहीं हो सकेगी। उसके कुछ गर्म होने पर ही बिजुली पैदा होती है। यह जितनी अधिक गर्म होगी, उतनी ही शीघ्र विद्युत् पैदा हो सकेगी।

शुक्—दीप्त्यर्थक 'शुच्' धातु से 'क्विप्'। शुचि—दीप्त्यर्थक 'शुच्' से 'कि' (उणा०४.१२०)। पवित्रवाची 'शुचि' शब्द भी इसी धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि पवित्र वस्तु तेजस्वी होती है। धातुपाठ में 'शुच्' धातु 'पूतीभाव' अर्थ में पढ़ी गई है। 'शुचि' का उपर्युक्त निर्वचन वैयाकरण करते हैं,

परन्तु नैरुक्त 'निर्' पूर्वक 'सिच्' धातु से 'शुचि' की सिद्धि करते हैं। पवित्र मनुष्य से पाप या मलिनता निष्षिक्त होती है, निकाली हुई होती है।

२. आशाभ्यः

'इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्'। आशा दिशो भवन्त्यासदनात्। आशा उपदिशो भवन्त्यभ्यशनात्।

आशा = (क) दिशायें, ये सब पदार्थों के आश्रय हैं, कोई पदार्थ इन से दूर नहीं। आ सद् ड। (ख) उपदिशायें, ये दिशाओं में व्याप्त हैं, उन्हीं में मिली रहती हैं। अभि = आ, आ अश् घञ्।

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।
जेता शत्रून्विचर्षणिः॥ ऋ० २.४१.१२

देवता—इन्द्रः। (शत्रून् जेता विचर्षणिः इन्द्रः) नास्तिक-विजयी सर्वद्रष्टा परमेश्वर (सर्वाभ्यः आशाभ्यः) सब दिशाओं तथा उपदिशाओं से (अभयं परिकरत्) अभय प्रदान करे।

३. काशिः

काशिर्मुष्टिः प्रकाशनात्। मुष्टिर्मोचनाद्वा, मोषणाद्वा, मोहनाद्वा। 'इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते'। इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ, विरोधनात्। रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः। कूलं रुजतेर्विपरीतात्, लोष्टोऽविपर्ययेण। अपारे दूरपारे यत्संगृभ्णासि मघवन्! काशिस्ते महान्।

काशि = मुट्ठी। इस से छिपाई हुई वस्तु प्रकाशित की जाती है। 'काशृ' धातु से 'इन्' (उणा० ४. ११८)। मुष्टि—(क) 'मुच्' धातु से 'क्तिन्' बन्द मुट्ठी को छुड़ाया जाता है। (ख) इस से कोई पदार्थ चुराया जाता है या छिपाया जाता है। मुष् क्तिन्। (ग) इस से ठगा जाता है। मुट्ठी में कोई वस्तु छिपा कर पूछा जाता है, बताओ इस में क्या है? दूसरा इसका ठीक २ उत्तर नहीं दे सकता, एवं वह ठगा जाता है। 'मुह' क्तिन्।

उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेको दृढामवदो वृत्रहा सन्।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते ॥ ३.३०.५

देवता—इन्द्रः। (उत पुरुहूत! एकः वृत्रहा सन्) और, हे निर्वाचित राजन्! तू अद्वितीय दुर्जनघाती होता हुआ (श्रवोभिः अभये दृढां अवदः) आत्मयशों से अभय राष्ट्र में स्थिर वाणी का उच्चारण करता है। (इन्द्र! यत् इमे चित् अपारे रोदसी) हे राजन्! जो तू इन अपार अर्थात् विशाल अन्तरिक्ष और पृथिवी का (संगृभ्णाः) संग्रह करता है, (मघवन् ते काशिः इत्) धनपते! तेरी मुट्ठी बड़ी महान् है।

रोधसी—रोदसी, द्यावापृथिवी में ही सब पदार्थ रुके पड़े हैं। रुध असुन् ङीप्। रोधस=नदीतट, यह प्रवाह को इधर उधर फैलने से रोकता है। कूल=नदीतट, यह नदी के द्वारा तोड़ा जाता है। 'रुजो' भङ्गे के विपरीत रूप 'जुर्' से 'क' प्रत्यय। 'लोष्ठ' यह अविपरीत रूप 'रुज्' से ही सिद्ध होता है। इत्=महान्।

४. कुणारुम् — **'अहस्तमिन्द्र सम्पिणक्कुणारुम्'। अहस्तमिन्द्र कृत्वा सम्पिण्ढि परिक्वणनं मेघम् ॥ १ ॥**

कुणारु=परिक्वणन=गर्जन शील मेघ। 'क्वण' शब्दे के संप्रसारण रूप 'कुण' से शील अर्थ में 'आरु' प्रत्यय।

सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र संपिणक्कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ ३.३०.८

देवता—इन्द्रः। (पुरुहूत इन्द्र!) निर्वाचित राजन्! (क्षियन्तं सहदानुं कुणारुम्) अन्तरिक्ष में निवास करने वाले जलदाता मेघ को जैसे सूर्य छिन्न भिन्न करता है, एवं तू राष्ट्र में रहने वाले अनेक दानवों के साथी दुर्जन को (अहस्तं सम्पिणक्) हस्तरहित कर के नष्ट कर। (इन्द्र! वर्धमानं पियारुं वृत्रं) और हे राजन्! बढ़ते हुए देवजनों के हिंसक पापी को (अपादं तवसा अभि जघन्थ) पादरहित करके अपने सामर्थ्य से नष्ट कर।

एवं, इस मंत्र में दुर्जन पापी के हाथ पैर काटने का विधान है ॥१॥

५. अलातृणः — **अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार। सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥ ३.३०.१०**

अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः, बलो वृणोतेः, व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे। गोरेतस्या माध्यमिकाया वाचः पुरा हननाद्ध भयमानो व्यार। सुगान् पथो अकृणोन्निरजे गाः—सुगमनान् पथोऽकरोन्निरजनाय गवाम्। प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः—आपो वा वहनाद्वाचो वा वदनात्। बहुभिराहूतमुदकं भवति। धमतिर्गतिकर्मा॥ २॥

अलातृणः = अलमार्द्रः मेघः, अर्थात् पर्याप्तया पका हुआ मेघ, जोकि वृष्टि के रूप में छिन्न भिन्न करने के लिये पर्याप्त है। अलम् आतृण—अलातृण। उपर्युक्त मन्त्र का देवता इन्द्र है। उस में श्लेष उत्प्रेक्षा तथा रूपक अलङ्कारों के सौन्दर्य की ओर ध्यान देते हुए मंत्रार्थ देखिए—

(इन्द्र!) हे शत्रु–विदारक राजन्! (बलः, व्रजः, अलातृणः) जैसे अन्तरिक्ष में आच्छादित और इधर उधर मण्डराने वाला पका हुआ मेघ (गोः हन्तोः पुरा भयमानः व्यार) मानो विद्युत्–गर्जन के वाक्–प्रहार से पहले ही भयभीत होकर ढीला पड़जाता है, (गाः निरजे सुगान् पथः अकृणोत्) और एवं यह विद्युत् जलों के निकलने के लिए–बरसने के लिए–सुगम मार्गों को बना देती है। (वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः) और, फिर वे जल नदी तालाब आदि में जाते हुए (प्रावन्) प्राणियों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र में बहुत्र अपने प्रभाव से फैला हुआ, और राष्ट्र में विचरने वाला प्रवृद्ध शत्रु तुम्हारे वाक्–प्रहार से पूर्व ही भयभीत होकर ढीला पड़ जावे, और तुम वेदवाणी के प्रसार के लिये सुगम मार्गों को निकालो। और, फिर ये प्रत्येक मनुष्य के पास पहुंचती हुई वेदवाणियें राष्ट्र का भली प्रकार कल्याण करें।

बल = आच्छादक, 'वृञ्' धातु से 'अप्'। अथवा, 'वल' संवरणे धातु से भी यह निष्पन्न हो सकता है। व्रज = गन्ता। गौ = माध्यमिका वाणी = विद्युत्–गर्जन, वेदवाणी। हन्तोः = हननात्। निरजे = निरजनाय। वाणी = (क) जल, 'वह' धातु से 'इञ्'। (ख) वाणी, 'वद' धातु से 'इञ्'। पुरुहूत = जल, इसे प्रत्येक प्राणी ग्रहण करता है। उपर्युक्त मंत्र में पुरुहूत शब्द 'जलाशय' का वाचक है। इसी तरह 'वेद' भी 'पुरुहूत' है। 'धमन्तीः' में 'धम' धातु गत्यर्थक है॥ २॥

६. सललूकम्

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि। आकीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्म-

द्विषे तपुषिं हेतिमस्य ॥ ३.३०.१७

उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र। मूलं मोचनाद्वा, मोषणाद्वा, मोहनाद्वा। वृश्च मध्यम्, प्रतिशृणीह्यग्रम् । अग्रमागतं भवति । आकियतः देशात् । सललूकं संलुब्धं भवति पापकमिति नैरुक्ताः, सररूकं वा स्यात्सर्तेरभ्यासात् । तपूषिस्तपतेः, हेतिर्हन्तेः ।

सललूक = पापी (क) अन्य नैरुक्त 'सम्' पूर्वक यङ्लुगन्त 'लुभ' विमोहने धातु से 'क्त' और स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय करके 'सललूक' की सिद्धि करते हैं । संलुलुब्धक—सललूक । विमोहन = आकुलीकरण = गडबड़ करना । (ख) यास्क सललूक को 'सररूक' का रूपान्तर भी मानते हैं। यङ्लुगन्त 'सृ' धातु से शील अर्थ में 'ऊक्' प्रत्यय, जैसे 'जागरूक' प्रयोग है। पापी सदा चञ्चल मति वाला होता है।

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र ! रक्षः सहमूलं उद्वृह) दुष्टदलन राजन् ! राक्षस को समूल उखाड़, (मध्यं वृश्च) उसे मध्य से काट, (अग्रं प्रतिशृणीहि) और उसका अग्र नष्ट कर। अर्थात् राष्ट्र में राक्षसजन कहीं भी न रहने पावें, अतः उनका समूल नाश करना चाहिए। (सललूकं आकीवतः चकर्थ) राजन् ! पापी को अत्यन्त दूर देश तक दूर करो, अर्थात् उसे देश-निकाले का दण्ड दो। (ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिं अस्य) और, ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले या नास्तिक के लिये संतापक वज्र फैंको।

उद्वृह = उद्धर = उखाड़ । मूल—'मुच' 'मुष' या 'मुह' धातु से 'क्ल' प्रत्यय (उणा०४.१०८)। मूल को उखाड़ा जाता है, यह छिपा हुआ होता है, और यह न दीखने के कारण अज्ञात होता है। 'मुष' धातु संभवतः छिपाने अर्थ में प्रयुक्त है, चोरी भी छिपाकर ही की जाती है। अग्र—यह आगत होता है, अगि गम् रन् और डिद्वत् तथा ह्रस्व (उणा०२.२८)। आकीवतः = आकियतः देशात् = बहुत दूर देश तक। तपुषि—'तप' सन्तापे से 'उसि' प्रत्यय। हेति—'हन' धातु से 'क्तिन्' (पा०३.३.९७)।

७. कत्पयम्

त्यं चिदित्था कत्पयं शयानम्' । सुखपयसम्, सुखमस्य पयः ।

कत्पय = सुखकारी जल वाला। कम्पयस—कत्पय।

त्यं चिदित्था कत्पयं शयानमसूर्ये तमसि वावृधानम्।

तं चिन्मन्दानो वृषभः सुतस्योच्चैरिन्द्रो अपगूर्या जघान॥ ५.३२.६

देवता—इन्द्रः (त्यं चित् कत्पयं) जैसे, उस सुखकारी जल वाले मेघ को, (इत्था शयानं) जो अन्तरिक्ष में पड़ा हुआ है (असूर्ये तमसि वावृधानं) और रात्रि के समय बहुत वृद्धि करता है, सूर्य छिन्न भिन्न कर देता है, उसी प्रकार (तं चित्) रात्रि-काल में वृद्धि करने वाले उन चोर व्यभिचारी आदिकों को (सुतस्य मन्दानः) पुत्र-तुल्य प्रजा को आनन्द देने वाला (वृषभः इन्द्रः) श्रेष्ठ राजा (उच्चैः अपगूर्य) उत्तमतया धमकाकर दण्डित करे।

८. विस्रुहः विस्रुह आपो भवन्ति, विस्रवणात्। 'वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः' इत्यपि निगमो भवति।

विस्रुह्=जल, 'वि' पूर्वक 'स्रु' गतौ से 'क्विप्' और 'तुक्' की जगह हकारादेश। जल स्रवणशील है। मंत्र (६.७.६) यह है—

वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना।

तस्येदु विश्वा भुवनाधि मूर्द्धनि वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः॥

देवता—वैश्वानरः। (अमृतस्य वैश्वानरस्य) अमर तथा सर्वनायक परमेश्वर के (चक्षसा केतुना) प्रताप और सामर्थ्य से (दिवः सानूनि विमितानि) द्युलोक के उच्च-स्थल निर्मित हैं। (तस्य इत् उ मूर्द्धनि) और, उसी के अधिष्ठातृत्व में (विश्वा भुवना अधि) सब लोक लोकान्तर अधिनिहित हैं। (सप्त विस्रुहः वयाः इव रुरुहः) और, उसी के प्रताप से सर्पणशील जल नदियों के रूप में वृक्ष की शाखाओं की न्याईं चारों दिशाओं में प्रादुर्भूत हैं।

९. वीरुधः वीरुध ओषधयो भवन्ति, विरोहणात्। 'वीरुधः पारयिष्णवः' इत्यपि निगमो भवति।

वीरुध—ओषधि, विविधं रोहन्तीति वीरुधः, ये अनेकविध उगती हैं। वि रुह क्विप्। या 'वि' पूर्वक 'रुध' से 'क्विप' ये अनेकविध रोगों को रोकती हैं।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।

अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥ १०.९७.३

देवता—ओषधिः। (ओषधीः प्रतिमोदध्वम्) हे ओषधियो ! इस रोगी को आनन्दित करो। (पुष्पवतीः प्रसूवरीः) तुम पुष्प तथा फलों से युक्त होती हुई, (अश्वाः इव सजित्वरीः) जैसे उत्तम सैनिकों के संग से घोड़ियें युद्धों में विजयशीला होती हैं, वैसे तुम भी उत्तम वैद्य के साथ मिल कर रोगों को जीतने वाली हो। (वीरुधः पारयिष्ण्वः) एवं, हे ओषधियो ! तुम रोगी को रोग से पार करने वाली हो।

१०. नक्षद्दाभम् — नक्षद्दाभम् अश्नुवानदाभम्, अभ्यशनेन दभ्नोति। 'नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्' इत्यपि निगमो भवति।

नक्षद्दाभ = अश्नुवानदाभ = व्यापक होकर नाश करने वाला, या व्यापक होकर मति देने वाला। व्याप्ति अर्थ में 'नक्ष' धातु, और गति या वध अर्थ में 'दभ' धातु निघण्टु में पठित है। मंत्र (६.२२.२) यह है—

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभिवाजयन्तः।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥

देवता—इन्द्रः। (नक्षद्दाभं) सर्वव्यापक होकर दुष्टों के संहारक, (ततुरिं) दुःख-सागर से तराने वाले (पर्वतेष्ठां) मेघ में स्थित विद्युत् की तरह प्रदीप्त, (अद्रोघवाचं) हितकर वेदवाणी को देने वाले, (मतिभिः शविष्ठम्) और ज्ञानों से भरपूर (तम् उ) उसी परमेश्वर को (अभिवाजयन्तः) भली प्रकार जानते हुए (नः पूर्वे पितरः) हमारे श्रेष्ठ रक्षक (नवग्वाः) और स्तुत्य गतियों वाले (सप्त विप्रासः) सात ऋषि भजते हैं।

बृहदारण्यक में (२ अ० ५ ब्रा०) वेदमंत्र का प्रमाण देते हुए दो आंख, दो कान, दो नाक और मुख—इन सात इन्द्रियों को 'सप्त ऋषि' कहा है। उन्हीं को इस मंत्र में 'सप्त विप्रासः' कहा गया है। अभिवाजयन्तः—तत्करोति तदाचष्टे से 'णिच्' वाजं कुर्वन्तः वाजयन्तः।

११. अस्कृधोयुः — अस्कृधोयुरकृध्वायुः। कृध्विति ह्रस्वनाम, निकृत्तं भवति। 'यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्' इत्यपि निगमो भवति॥ ३॥

अस्कृधोयु = दीर्घायु, अविनाशी। अकृध्वायुः—अस्कृधोयुः। 'कृधु' ह्रस्व

का वाचक है। यह बड़े में से काटा हुआ होता है। 'कृती' छेदने से 'कु' (उणा०१ २३)। कृतु-कृधु।

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः।

यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्तमाभर हरिवो मादयध्यै ॥ ६.२२.३

देवता—इन्द्रः। (पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः) अतिवीर, सैनिकादि अनेक मनुष्यों से युक्त और भलीप्रकार बनाने वाले (अस्य रायः) इस राजारूपी धन के (तं इन्द्रं) मालिक उस परमेश्वर को (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं। (यः अस्कृधोयुः, अजरः, स्वर्वान्) जो परमेश्वर अविनाशी, अजर और आनन्दमय है। (हरिवः ! मादयध्यै तं आभर) हे प्रशस्तेन्द्रिय मनुष्य ! आनन्दलाभ के लिए उसे धारण कर ॥ ३ ॥

१२. निशृम्भाः

निशृम्भा निश्रथ्यहारिणः। आजास पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्। देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ ६.५५.६

आवहन्त्वजाः पूषणं रथे निश्रथ्यहारिणस्ते जनश्रियं जातश्रियम्।

निश्रथ्यहारिन्—निर्गतं श्रथ्यं शैथिल्यं यस्मात् तत् निश्रथ्यम् गमनम्, तेन हरतीति निश्रथ्यहारी। शिथिलता रहित गति से-अविश्रान्त गति से-ले जाने वाला। इसी को '**निशृम्भ**' कहा जाता है। 'निर्' पूर्वक 'श्रथ' धातु के संप्रसारण रूप 'शृथ' से 'क्विप्'। निशृथ्, हर—निशृम्भ।

देवता—पूषा। (ते निशृम्भाः अजासः) वे अविश्रान्त गति से रसहारिणी और क्षिप्र तथा प्रतिक्षिप्र होने वाली सूर्यकिरणें (जनश्रियं देवं पूषणं) प्राणियों के आश्रय या शोभायमान, प्रकाशक तथा पोषक सूर्य को (रथे बिभ्रतः आवहन्तु) द्युलोकरूपी रथ में धारण करती हुई सर्वत्र पहुंचा रही हैं।

अजासः = अजाः, 'अज' गतिक्षेपणयोः।

१३. बृबदुक्थम्

बृबदुक्थो महदुक्थः, वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो वा। 'बृबदुक्थं हवामहे' इत्यपि निगमो भवति।

बृबदुक्थ = अतिप्रगल्भ। (क) बृहत् उक्थ—बृबदुक्थ। (ख) यतेऽस्मा

असौ बृत्रस्, 'ब्रू' धातु से 'अति' प्रत्यय (उणा० २.८५)। जिसकी प्रशंसा कथनीय हो, वह 'बृवदुक्थ' है। मंत्र (८. ३२. १०) यह है—

बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये। साधुं कृण्वन्तमवसे ॥

देवता—इन्द्रः। (बृवदुक्थं) हम अतिप्रशस्त (सृप्रकरस्नम्) परोपकारार्थ सर्पित भुजाओं वाले, (साधु कृण्वन्तं) और साधु-कर्म के कर्ता विद्वान् को (ऊतये अवसे हवामहे) रक्षण तथा ज्ञान के लिए ग्रहण करते हैं।

१४. ऋदूदरः

ऋदूदरः सोमो मृदूदरो मृदूदरेष्विति वा। 'ऋदूदरेण सख्या सचेय' इत्यपि निगमो भवति।

ऋदूदर = सोम आदि हलके भोज्य पदार्थ। (क) मृदूदर, जो भोजन नर्म या हलका हो उसे 'ऋदूदर' कहते हैं। (ख) अथवा, जो खाया हुआ उदर में मृदु रहे, पेट को भारी न करे, वह ऋदुदर है। मृदूदर—ऋदूदर।

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः ॥ ८.४८.१०

देवता—सोमः। (हर्यश्व !) हरण तथा भरण गुणों वाले परमेश्वर ! (सख्या ऋदूदरेण सचेय) मैं मित्र रूप दुग्धादि हलके सात्विक भोजन से युक्त होऊं, (यः पीतः मा न रिष्येत्) जो पीया या खाया हुआ मुझे किसी प्रकार की हानि न पहुंचावे। (अस्मे यः अयं सोमः न्यधायि) और हमारे में जो यह सात्विक भोजन निहित किया गया है, (तस्मै प्रतिरं आयुः इन्द्रं एमि) उस से दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए मैं अन्नदाता प्रभु से याचना करता हूं।

तस्मै = तस्मात्, पञ्चम्यर्थ में चतुर्थी है। पाली में पञ्चम्यन्त 'तस्मा' ही होता है

१५. ऋदूपे
१६. पुलुकामः

ऋदूपे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः। पुलुकामः पुरुकामः। 'पुलुकामो हि मर्त्यः' इत्यपि निगमो भवति।

ऋदूपे' की व्याख्या आगे (६.१२८) 'तुविक्षं ते' मंत्र में करेगें।

पुलुकाम—पुरुकाम। 'पुलुकामो हि मर्त्यः' के संपूर्ण मंत्र की व्याख्या ३१२पृ० पर की जाचुकी है।

१७. असिन्वती

असिन्वती असङ्खादन्त्यौ। 'असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः' इत्यपि निगमो भवति।

असिन्वती = असंखादन्त्यौ = न चबाते हुए। धातुपाठ में स्वादिगणी 'षिञ्' धातु बन्धनार्थक पठित है, परन्तु यहां संखादन (चबाना) अर्थ में मानी गई है।

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।
नाना हनू विभृते संभरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः ॥१०.७९.१

देवता—अग्निः। (मर्त्यासु विक्षु अमर्त्यस्य महतः अस्य) वध्य मनुष्यों में अवध्य और सब से बड़े बच्चे के (महित्वं अपश्यम्) महत्त्व को मैं समझता हूं। (विभृते नाना हनू) बचपन में ही सृष्टिकर्ता की ओर से धारण किए हुए इस के दोनों जबाड़े (संभरेते) दुग्ध का आहरण करते हैं। (असिन्वती बप्सती भूरि अत्तः) और विना चबा कर खाते हुए प्रभूत दुग्ध का पान करते हैं।

इस मंत्र में दुग्धपायी बच्चे का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि यह सर्वथा अवध्य है, इसे किसी तरह का दण्ड नही देना चाहिए। और, बच्चे का महत्त्व विशेष है, क्योंकि यह इतना कोमल-हृदय होता है कि इसे शिक्षण द्वारा जैसा चाहें बना सकते हैं। इस मंत्रार्थ की पुष्टि के लिये प्रकरणगत 'प्र मातुः प्रतरं' मंत्र की व्याख्या ५.१८ में देखिए।

१८. कपनाः　कपनाः कम्पना: क्रिमयो भवन्ति। 'मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः' इत्यपि निगमो भवति।

कपन = कम्पन = क्रिमि, ये गतिशील होते हैं।

अभ्राजि शर्द्धो मरुतो यदर्णसं मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः।
अध स्मा नो अरमतिं सजोषसश्चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्॥५.५४.६

देवता—मरुतः। (मरुतः! शर्द्धः अभ्राजि) हे विद्वान् मनुष्यो! तुम्हारा उत्साह प्रदीप्त हो रहा है, (यत् वेधसः कपनाः वृक्षं इव) जो कि तुम, जैसे बींधने वाले छोटे २ क्रिमि शनैः २ वृक्ष के पत्तों और शाखाओं को हर लेते हैं, (अर्णसं मोषथ) एवं शब्द-सागर वेद को धीरे २ ग्रहण कर लेते हो। (अध) और, इसप्रकार वेदाध्ययन के पश्चात् (सजोषसः) सब के साथ मित्रता का बर्ताव करते हुए (नः यन्तं अरमतिं) विद्या के लिये प्राप्त हुए हमारे उद्योगी पुत्रों को (चक्षुः इव सुगं अनुनेषथ) चक्षु की तरह सुमार्ग-दर्शक ज्ञान-नेत्र प्राप्त कराइए।

'महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना' आदि मंत्र (१.३.१२) में वेद-वाणी को 'अर्णस्' कहा है।

१९. भाऋजीकः भाऋजीकः प्रसिद्धभाः । 'धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः' इत्यपि निगमो भवति ।

भाऋजीकः—प्रसिद्धभाः = प्रख्यातदीप्ति । 'ऋज' गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु से 'ईकन्' (उणा०४.२२) । भासः ऋजीकं स्थानमिति भाऋजीकः ।

देवो देवान्परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् । धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥१०.१२.२

देवता–अग्निः । (ऋतेन नः हव्यं वह) हे अग्नि परमेश्वर ! वैदिक-ज्ञान के द्वारा आप हमें सदा सुख पहुंचाइए । (देवः, देवान् परिभूः) यह परमेश्वर सर्वपूज्य, देवजनों में विद्यमान, (प्रथमः, चिकित्वान्) अनादि और सर्वज्ञ है । धूमकेतुः) जैसे धूआँ अग्नि की उपस्थिति का ज्ञापक है, एवं यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर-सत्ता का द्योतक है । (समिधा भाऋजीकः) यह परमेश्वर अपने तेज के कारण/संपूर्ण दीप्तिओं का स्थान है । (मन्द्रः, होता, नित्यः, वाचा यजीयान्) और, यह आनन्दघन, प्रदाता, नित्य तथा वेदवाणी के द्वारा उत्तम दानप्रदाता है ।

२०. रुजानाः रुजाना नद्यो भवन्ति, रुजन्ति कूलानि । 'संरुजाना पिपिष इन्द्रशत्रुः' इत्यपि निगमो भवति ।

रुजाना = नदी, यह तटों को भग्न करती है । 'रुज' धातु परस्मैपदी है, अतः 'रुजन्ती' रूप बनता, परन्तु यहां आत्मनेपदी मानकर 'शानच्' किया गया है ।

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम् । नातारीदस्य समृतिं वधानां संरुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ १.३२.६

देवता—इन्द्रः । (दुर्मदः अयोद्धा इव) यदि कोई घमण्डी अयोद्धा की तरह निर्बल शत्रु (महावीरं, तुविबाधं, ऋजीषं हि आजुह्वे) महावीर, अनेकों का मुकाबला करने वाले प्रयत्नशील राजा को ललकारता है, (अस्य वधानां समृतिं न अतारीत्) वह इसके प्रहारों की मार को नहीं सह सकता । (रुजानाः इन्द्रशत्रुः संपिपिषे) और, यह नदिओं की तरह नाश करने वाला राजा उसे कुचल डालता है । अतः, अपने से प्रबल शत्रु का कभी मुकाबला नहीं करना चाहिए ।

पीसना 'पिंषण' का ही अपभ्रंश है । ऋजीष—'अर्ज' प्रतियत्ने से 'ईषन्'

(उण०४.२८)। शत्रुः शमयिता वा शातयिता वा, इन्द्रश्चासौ शत्रुः इन्द्रशत्रुः। समृतिम् = संप्राप्तिम्।

२१. जूर्णिः जूर्णिर्जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, दूनोतेर्वा। 'क्षिप्रा जूर्णिर्न वक्षति' इत्यपि निगमो भवति।

जूर्णि = गति करने वाली, हिंसा करने वाली, वेग इत्यादि। 'जु' गतौ 'द्रु' गतौ या 'दूङ्' परितापे से 'नि' प्रत्यय। उणादिकोष में 'ज्वर' से 'नि' किया गया है (४.४८)।

देवराजयज्वा ने क्रोधार्थक 'जूर्णि' के निर्वचन में 'जूर्णिर्जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, जीर्यतेर्वा इति भाष्यम्' कहते हुए निरुक्त में 'दूनोतेर्वा' की जगह 'जीर्यतेर्वा' ऐसा पाठ माना है। परन्तु सायण ने निम्नलिखित मंत्र के व्याख्यान में 'दूनोतेर्वा' पाठ ही दिया है।

प्र प्रा वो अस्मे स्वयशोभिरूती परिवर्ग इन्द्रो दुर्मतीनां दरीमन् दुर्मतीनाम्। स्वयं सा रिषयध्यै या न उपेषे अत्रैः। हतेमसन्न वक्षति क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति॥ १.१२९.८

देवता—इन्द्रः। (वः अस्मे ऊती) हे प्रजाजनो! तुम्हारी और हमारी रक्षा के लिये (इन्द्रः दुर्मतीनां परिवर्गे) राजा दुर्जनों के परिवर्जन में (स्वयशोभिः प्र प्र) अपने सामर्थ्य और प्रताप से सामर्थ्यवान् हो, शक्तिशाली हो। (दुर्मतीनां दरीमन्) दुर्मतिओं के विदारक ऐसे राजा के होने पर, (या अत्रैः नः उपेषे जूर्णिः क्षिप्ता) जो भक्षक-जनों ने—आततायिओं ने हमारे पर हमला करने के लिये सेना भेजी है, (रिषयध्यै) हमारे नाश के लिये प्रवृत्त यह सेना (स्वयं हता ईम् असत्) राजा के प्रताप से स्वयमेव पराभूत हो। (न वक्षति न वक्षति) वह सेना हम तक न पहुंचे, हमारे पर आक्रमण न करे।

अत्तीति अत्रिः, अत्रश्च।

२२. ओमना 'परिध्रंसमोमना वां वयोऽगात्'। पर्यगाद्धां ध्रंसमहरवनायान्नम्॥ ४॥

ओमन = अवन, 'सुपां सुलुक्' से चतुर्थी की जगह आकारादेश होने पर 'ओमना' 'अवनाय' अर्थ में प्रयुक्त है। 'अव' धातु से 'मन' प्रत्यय और 'व्' को 'ऊठ्'। उसी 'अव' से 'म' प्रत्यय करने पर 'ओम्' या 'ओ३म्' की सिद्धि होती है।

युवोः श्रियं परि योषा वृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् ।
यद्देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात् ॥ ७.६९.४

देवता—अश्विनौ । (युवोः श्रियं) हे अध्यापक तथा उपदेशक ! आपकी विद्या–लक्ष्मी और धर्म–लक्ष्मी को (परितक्म्यायां) अविद्यान्धकार के समय (योषा, सूरः, दुहिता परिवृणीत) स्त्री, पुरुष और पुत्रियें—सब ग्रहण करें । (यत् देवयन्तं शचीभिः अवथः) और यतः आप देवत्व की कामना करने वाले की उन सुमतियों से रक्षा करते हो, (वां ओमना घ्रंसं) अतः, आपकी तृप्ति के लिये प्रतिदिन (वयः पर्यगात्) उत्तम अन्न प्राप्त होता है । एवं, अध्यापकों तथा उपदेशकों का अन्नादिक से नित्यप्रति सत्कार करना गृहस्थियों का कर्तव्य है ।

'परितक्म्या' रात्रिवाचक है, अतः उपर्युक्त अर्थ किया गया है ॥ ४ ॥

* द्वितीय पाद *

२३. उपलप्रक्षिणी

उपलप्रक्षिण्युपलेषु प्रक्षिणाति, उपलप्रक्षेपिणी वा । (इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ, दुर्भिक्षे केन जीवतीति, तेषामेकः प्रत्युवाच—

शकटः शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम् ।
उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नववृत्तयः ॥

इति सा निगदव्याख्याता)

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना । नानाधियो
वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ९.११२.३

कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम् । ततो भिषक्, तत इति सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा । उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका नना, नमतेर्माता वा दुहिता वा । नानाधियो नानाकर्माणो वसूयवो वसुकामा अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम् । 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' इत्यध्येषणा ॥ १ । ५ ॥

उपलप्रक्षिणी = धान्य भूनने वाली, सक्तुकारिका । 'उपल' कहते हैं वालुका को, उन में भूनने वाली या भूनने के लिये उनमें फेंकने वाली । 'उपल' तथा 'प्र' पूर्वक हिंसार्थक 'क्षि' या प्रक्षेपणार्थक 'क्षिप्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय, (पा०३.२.७८) धातु के 'इ' या 'इप्' का लोप । उपलप्रक्षिण् ङीप् = उपल-प्रक्षिणी । सत्तु बनाने के लिये यवादिया का भूनना आवश्यक होता है, अतः 'उपलप्रक्षिणी' का अर्थ यास्क ने 'सक्तुकारिका' किया है ।

कोष्ठान्तर्गत पाठ का इस स्थल पर कोई संबन्ध नहीं । सायणाचार्य ने 'कारुरहं' मंत्र के व्याख्यान में कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं दिया, अन्य सब पाठ दिया है। एवं, दुर्गाचार्य ने भी अपनी निरुक्त–व्याख्या में इस पाठ का किंचिन्मात्र भी अर्थ नहीं किया । और, निरुक्त की कुछ पुस्तकों में यह पाठ है भी नहीं—अतः कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रक्षिप्त जान पड़ता है ।

शब्दकल्पद्रुम कोष के 'शकट' शब्द पर 'शकटः शाकिनी गावो' आदि श्लोक का उद्धरण देते हुए अन्त में 'इति भरतः' लिखा है। इससे पता लगता है कि संभवतः यह श्लोक भरत के नाट्यशास्त्र का है। उस में 'उदधिः' के स्थान पर 'अनूपः' पढ़ा हुआ है। 'शाकिनी' शब्द की व्याख्या में पुनः इसी श्लोक को दोहराते हुए आन्हिक–तत्त्व के अनुसार श्लोक के प्रत्येक पद का अर्थ दिया है ।

ऋग्वेद के ९ वे मण्डल के ११२ वे सूक्त में ४ मंत्र हैं, जिन में 'कारुरहं' तीसरा मंत्र है। इस सूक्त पर म० ग्रिफिथ और डा० सूर आदि पाश्चात्य लोग बड़ा आक्षेप करते हैं, अतः इस संपूर्ण सूक्त पर विचार करना आवश्यक है । 'कारुरहं' मंत्र का स्पष्टीकरण भी सारे सूक्त के दर्शाने से भलीप्रकार हो सकेगा। पाश्चात्य लोगों का यह मत है कि इस सूक्त के प्रत्येक मंत्र के अन्त में जो 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' वाक्य आता है, उसका मूल मंत्र के साथ कोई संबन्ध नहीं, अतः यह वाक्य पीछे से मिलाया गया है।

'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' वाक्य न केवल ११२ वे सूक्त के प्रत्येक मंत्र के अन्त में ही आता है, प्रत्युत ११३ और ११४ सूक्तों में भी उसी तरह प्रयुक्त है। ये तीनों सूक्त ९ वे मण्डल के अन्तिम सूक्त हैं। इन तीनों सूक्तों को इकट्ठा मिलाकर विचार करना आवश्यक है । अन्त के दोनों सूक्त सन्यास और मुक्ति का वर्णन करते हैं । ११३ वें सूक्त में "यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥" 'यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः' आदि मंत्र स्पष्टतया मुक्ति का वर्णन कर रहे हैं। एवं, प्रत्येक मंत्र के अन्त में सन्यासी 'इन्दु' अर्थात् ऐश्वर्यधाम प्रभु से इन्द्र

के लिए—अपने जीवात्मा के लिये—सर्वत्र प्राप्त होने की प्रार्थना करता है। एवं, इन दोनों सूक्तों में तो पारलौकिक ऐश्वर्य की प्रार्थना की है, और ११२ वे सूक्त में सांसारिक ऐश्वर्य की। सांसारिक ऐश्वर्य के पश्चात् ही पारलौकिक ऐश्वर्य की प्रार्थना करनी उचित थी।

मंत्र के ऋषि और देवता के परिज्ञान के विना मंत्र का अर्थ करना दुस्तर है—ऐसा सभी प्राचीन वेदज्ञ मानते हैं। आप इन सूक्तों के ऋषिओं की ओर ध्यान दें तो मेरा अभिप्राय और स्पष्ट हो जाता है। ११२ वे सूक्त का ऋषि 'शिशु' है, और अगले दोनों सूक्तों का 'कश्यप'। 'कश्यप' अर्थात् परमेश्वर का साक्षात्कर्ता योगी उन सूक्तों में प्रार्थना करता है। और ११२ वें सूक्त में बालक की न्याईं अभी पूर्ण तत्त्वज्ञान न होने के कारण सांसारिक मनुष्य सांसारिक ऐश्वर्य की याचना करता है।

तीनों सूक्तों का देवता 'पवमान सोम' है, जिसका अर्थ है 'पावक ऐश्वर्यशाली। अब आप क्रमशः मंत्र और उनका अर्थ देखिए—

नानानं वा उ नो धियो विव्रतानि जनानाम्। तक्षा
रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

(नः जनानां विव्रतानि, वा उ धियः नानानं) हम लोगों के विभिन्न कर्म हैं, और बुद्धियें भी भिन्न २ हैं। जैसे, (तक्षा रिष्टं) तरखान टूटे हुए पदार्थों को चाहता है, (भिषक् रुतं) वैद्य रोगी को चाहता है, (ब्रह्मा सुन्वन्तं इच्छति) और ब्राह्मण यज्ञकर्ता को चाहता है। (इन्दो! इन्द्राय परिस्रव) अतः, हे ऐश्वर्यधाम प्रभो ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए ऐश्वर्य की वर्षा कीजिए।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्। कार्मारो
अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

(जरतीभिः ओषधीभिः) परिपक्व ओषधिओं से दुकानदार, (शकुनानां पर्णेभिः) पक्षिओं के पंखों से कुशल कारीगर, (द्युभिः अश्मभिः कार्मारः) और चमकदार हीरों से सुनार (हिरण्यवन्तं इच्छति) धनाढ्य सेठ को चाहता है। (इन्दो! इन्द्राय परिस्रव) अतः, हे ऐश्वर्यधाम प्रभो! ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए ऐश्वर्य की वृष्टि कीजिए।

'कारुरहं ततो भिषक्' मंत्र का अर्थ यह है—

(अहं कारुः) मैं उत्तमोत्तम पदार्थों का निर्माण करने वाला शिल्पी हूं, (ततः भिषक्) पिता या पुत्र वैद्य है, (नना उपलप्रक्षिणी) और माता या पुत्री सक्तुकारिका है। (नानाधियः वसूयवः गाः इव अनुतस्थिम) धन

की इच्छा रखने वाले हम भिन्न २ कर्मों से युक्त होकर गौओं के तुल्य अनुष्ठान करते हैं। अर्थात् जैसे गायें दूध घी आदि के द्वारा लोक का बड़ा उपकार करती हैं, और उसके बदले में लोक उन गौओं की पालना करते हैं, एवं हम भी समाज की बड़ी सेवा करते हैं, और उसके बदले में हमें धन प्राप्त होजाता हैं। (इन्दो ! इन्द्राय परिस्रव) अतः, हे ऐश्वर्यधाम प्रभो ! ऐश्वर्य–प्राप्ति के लिए ऐश्वर्य की वृष्टि कीजिए।

धन कमाने की इच्छा क्यों है ? इस का उत्तर देते हैं—

अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः । शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

(वोढ़ा अश्वः सुखं रथं) जिस प्रकार रथ को खींचने वाला घोड़ा आराम देने वाले अच्छे रथ को चाहता है। (उपमंत्रिणः हसनां) निमंत्रण–दाता हास्य विनोद चाहते हैं, अर्थात् वे निमंत्रित पुरुष को किसी तरह कष्ट नहीं देना चाहते, (शेपः रोमण्वन्तौ भेदौ) सूर्य–रश्मि शरीरगत रोम–कूपों को खोलती है, (मण्डूकः-वाः इत् इच्छति) और मण्डूक जल की इच्छा करता है, इसीप्रकार हम सांसारिक मनुष्य भी बिना धन के जीवन व्यतीत नहीं कर सकते, अतः हम को धन की इच्छा रहती है। (इन्दो ! इन्द्राय परिस्रव) इसलिये हे ऐश्वर्यधाम प्रभो ! ऐश्वर्य–प्राप्ति के लिये ऐश्वर्य की वृष्टि कीजिए।

अब, पाठक इस सूक्त का भाव समझ गये होगें और पाश्चात्य विचारकों के विचार की परीक्षा भी स्वयं कर लेगें।

अब यास्क–भाष्य को देखिए—कारुः = कर्ता स्तोमानाम् = प्रशस्त पदार्थों का निर्माता शिल्पी। ततः = पिता, पुत्रः। तन्यते यः सः ततः पुत्रः, तन्यते यस्मात् सः ततः पिता। 'तनु' विस्तारे से कर्ता और अपादान में 'क्त' प्रत्यय। **नना** = माता, पुत्री। नमति अपत्यं यां सा नना माता, नमति या सा नना पुत्री। 'नम्' धातु से 'नक्' प्रत्यय। वसूयवः वसुकामाः। गाः = गावः। 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' यह प्रार्थना है ॥११५॥

२४. उपसि

'आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति' उपस्थे।

उपसि = उपस्थे = समीपस्थाने। उपस्थ—उपस्।

पत्तो जगार प्रत्यञ्चमत्ति शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम्। आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति न्यङ्ङुत्तानामन्वेति भूमिम् ॥१०.२७.१३

देवता—इन्द्रः। (पत्तः जगार) सूर्य पादस्थानीय भूमि से जल को ग्रहण

करता है, (प्रत्यञ्चं अत्ति) और प्रतिकूल जाते हुए उस जल को खा लेता है, अर्थात् नीचे की ओर गिरने से रोक कर अन्तरिक्ष में धारण करता है। (शीर्ष्णा शिरः प्रति) और फिर अपनी किरणों से मनुष्यों के सिरों की ओर, अर्थात् पृथ्वीतल पर (वरूथं दधौ) उत्तम जल को स्थापित करता है । (उपस्थि आसीनः) समीपवर्ती द्युलोक में स्थित सूर्य (उत्तानां भूमिं अन्वेति) जब विस्तृत भूमि के समीप आता है, (न्यङ्) तब नीचे की ओर, अर्थात् दक्षिणायन जाने के समय (ऊर्ध्वां क्षिणाति) उपरिस्थित वृष्टि को प्रच्युत करता है।

जब सूर्य दक्षिणायन होने लगता है, तभी वर्षा ऋतु का समय है—इसका 'न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते' इत्यादि शब्दों में आगे वर्णन करेंगे (७ अ० २४ ख०)। सूर्य को 'शिरस्' कह आये हैं (४.१४) अतः, यहां उसका रश्मि अर्थ किया गया है।

२५. प्रकलवित्

प्रकलविद्वणिग्भवति, कलाश्च वेद प्रकलाश्च । 'दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमानाः' इत्यपि निगमो भवति ।

प्रकलवित् = वणिक्, यह व्यवहार की कलाओं और उपकलाओं को जानने वाला होता है। जैसे 'प्रदिशा' का अर्थ 'उपदिशा' होता है, उसी प्रकार 'प्रकला' शब्द 'उपकला' का वाचक है । मंत्र (७.१८.१५) यह है—

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः ।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे ॥

देवता—इन्द्रः । (एते वेविषाणाः तृत्सवः) ये सारे राष्ट्र में फैले हुए दुष्टों के हिंसक क्षत्रिय लोग (इन्द्रेण) राजा के साथ मिलकर (दुर्मित्रासः) जो राज-द्रोही पुरुष हैं, उन्हें (सृष्टाः आपः न नीचीः अधवन्त) फेंके हुए जल की तरह नीचे पहुंचादें । (मिमानाः प्रकलवित्) और, तोलने वाले व्यापारी लोग (सुदासे) उत्तम दाता ब्राह्मणादिकों के लिए (विश्वानि भोजना जहुः) सब प्रकार के भोग्य पदार्थ प्रदान करें।

जहुः—'ओहाक्' त्यागे। तृत्सु = 'तृह' हिंसायाम् ।

२६. अभ्यर्द्धयज्वा

अभ्यर्द्धयज्वा ऽभ्यर्द्धयन्यजति । 'सिषक्ति पूषा अभ्यर्द्धयज्वा' इत्यपि निगमो भवति।

अभ्यर्द्धयज्वा—प्रवृद्ध यज्ञ करने वाला, प्रवृद्ध दाता।

मिम्यक्ष येषु रोदसी नु देवी सिषक्ति पूषा अभ्यर्द्धयज्वा।

श्रुत्वा हवं मरुतो यद्ध याथ भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते ॥६.५०.५

देवता—मरुतः। (येषु नु देवी रोदसी मिम्यक्ष) जिन में दिव्य गुण–संपन्ना रानी राज्य–कर्म जानती है, (अभ्यर्द्धयज्वा पूषा सिषक्ति) और प्रवृद्ध–सुख–प्रदाता पोषक राजा प्रजा की सेवा करता है, (मरुतः! हवं श्रुत्वा यत् ह याथ) तथा हे मनुष्यो! उपदेश का श्रवण करके जो तुम सब क्रियायें करते हो, (प्रविक्ते अध्वनि) तब जीवन–मार्ग के परिशुद्ध होने पर (भूमा रेजन्ते) बड़े २ शत्रु–सैन्य तुम से कांपते हैं।

रोदसी=रुद्रस्य पत्नी। 'मियक्ष' धातु गत्यर्थक निघण्टु–पठित है।

२७. ईक्षे — **ईक्ष ईशिषे। 'ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्' इत्यपि निगमो भवति।**

ईक्षे=ईशिषे, यहां 'इट्' का लोप होगया है।

नृवत्त इन्द्र नृतमाभिरूती वंसीमहि वामं श्रोमतेभिः।

ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्धा रत्नं महि स्थूरं बृहन्तम् ॥६.१६.१०

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र राजन्!) तेजस्विन् राजन्! (ते नृतमाभिः ऊती) आपकी प्रशस्त–मनुष्य बनाने वाली रक्षा से (श्रोमतेभिः) श्रवणीयतम उपदेशों के द्वारा (नृवत् वामं वंसीमहि) मनुष्योचित प्रशंसनीय कर्म का सेवन करें। (उभयस्य वस्वः हि ईक्षे) राजन्! आप विद्या–धन और सांसारिक–धन–दोनों धनो के मालिक हो, (महि रत्नं, बृहन्तं स्थूरं धाः) आप हमें महान् रत्नसमान विद्या–धन और प्रभूत सांसारिक स्थूल धन प्रदान कीजिए।

२८. क्षोणस्य — **क्षोणस्य क्षयणस्य। 'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय' इत्यपि निगमो भवति॥ २। ६॥**

क्षोण=क्षयण। यहां 'य' को 'उ' होगया है।

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय।

प्रवाच्यं तद्वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम् ॥१.११७.८

देवता—अश्विनौ। (अश्विना) हे राजा तथा राजपुरुषो! (युवं महः

क्षोणस्य श्यावाय) आप उत्तम निवास के प्रापक (कस्वाय) मेधावी पण्डित के लिए (इषतीं अदत्तम्) लक्ष्मी प्रदान कीजिए। (वृषणाः वां यत् प्रवाच्यं श्रवः कृतं) और हे बलवान् राजा तथा राजपुरुषो ! आप के जो वर्णनीय विद्याश्रवण और कर्म हैं, (तत् नार्षदाय अध्यस्थत्तम्) उस ज्ञान तथा कर्म की शिक्षा राज्य-कर्मचारियों की सन्तानों को विशेषतया दीजिए।

श्याव = प्रापक, 'श्यैङ्' गतौ, अतएव सविता सूर्य के किरणरूपी अश्वों को निघण्टु में 'श्यावा.' कहा गया है। नार्षद—नृषु नायकेषु सीदतीति नषदः, तस्यापत्यं नार्षदः ॥ २ । ६ ॥

२६. अस्मे 'अस्मे ते बन्धुः' वयमित्यर्थः। 'अस्मे यातं नासत्या सजोषाः' अस्मानित्यर्थः। 'अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः' अस्माभिरित्यर्थः। 'अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्' अस्मभ्यमित्यर्थः। 'अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु' अस्मदित्यर्थः। 'ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे' अस्माकमित्यर्थः। 'अस्मे धत्त वसवो वसूनि' अस्मास्वित्यर्थः।

अस्मे = वयं, अस्मान्, अस्माभिः, अस्मभ्यम्, अस्मत्, अस्माकम्, अस्मासु। 'सुपां सुलुक' से सब विभक्तियों में 'शे' आदेश हो गया है।

अब क्रमशः मंत्र देखिए—

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः॥ यजु०४,२२

(अदित्याः पृथिव्याः मूर्धन् देवयजने) अदीना मातृभूमि के उत्तम देवयजन स्थान में—उपासनालय में बैठकर (त्वा आजिघर्मि) हे जगदीश्वर ! मैं आप को अपने हृदय में प्रदीप्त करता हूं। (इडायाः पदं असि) तू पूजा का स्थान है। (स्वाहा घृतवत्) हे प्रभो ! आपकी कृपा से मेरे सुभाषित वचन तेजस्वी हों। (अस्मे रमस्व) हे परमात्मन् ! आप हमारे में रमण कीजिए। (अस्मे ते बन्धुः) हम आप के बन्धु हैं। (त्वे रायः मे रायः) आप का धन मेरा धन है। (वयं रायस्पोषेण मा वियौष्म) हम धनों की पुष्टि से—प्रचुर ऐश्वर्य से वियुक्त न हों, (तोतः रायः) परन्तु वृद्धि-प्रद ऐश्वर्य से सदा संयुक्त रहें।

तोत्—वृद्धयर्थक 'तु' धातु से क्विप्' और गुण।

आ श्येनस्य जवसा नूतनेनास्मे यातं नासत्या सजोषाः ।
हवे हि वामश्विना रातहव्यः शश्वत्तमाया उषसो व्युष्टौ ॥१.११८.११

देवता—अश्विनौ। (नासत्या अश्विनौ) हे सत्यकर्मा राजा तथा राजकर्मचारिन्! (सजोषाः शश्वत्तमायाः व्युष्टौ रातहव्यः) सब को मित्रवत् देखने वाला प्रजापुरुष सदा आनेवाली उषा के प्रादुर्भूत होने पर नैत्यिक अग्निहोत्र के पश्चात् (हि वां हवे) आप को न्याय के लिये पुकारता है, (श्येनस्य जवसा नूतनेन अस्मे आयातम्) आप श्येन-समान शीघ्र गति वाले नवीन रथ के द्वारा हमारी ओर आइए। अर्थात्, स्त्री पुरुष ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर आवश्यक कर्मों से निवृत्त हो, अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों को करें, और तत्पश्चात् राज्य-कर्म में प्रवृत्त हों।

भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः।
भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद्वशाम ॥ १.१६५.७

देवता—इन्द्रः! (इन्द्र। युज्येभिः समानेभिः अस्मे) हे राजन्! आप हम सहयोगिओं और समानचित्त वालों के साथ मिल कर (पौंस्यभिः) पुरुषार्थों के द्वारा (भूरि चकर्थ) बहुत उत्तम राज्य-पालन करते हो। (शविष्ठ! मरुतः यत् वशाम) और, इसी प्रकार हे पराक्रमी राजन्! हम प्रजाजन जिन कर्मों को करने की इच्छा रखते हैं, (भूरीणि क्रत्वा कृणवाम) उन सब को आप के सहयोग से पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण करते हैं।

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥३.३६.१०

देवता—इन्द्रः। (मघवन् ऋजीषिन् इन्द्र!) हे ऐश्वर्ययुक्त तथा सरल-स्वभाव वाले विद्वान्! (विश्ववारस्य भूरेः रायः) सर्वजनों के दुःखों के हटाने वाले महान् विद्या-धन को (अस्मे प्रयन्धि) हमें प्रदान कीजिए (अस्मे शतं शरदः जीवसे धाः) हमारे में सौ वर्ष का जीवन स्थापित कीजिए, (शिप्रिन्! अस्मे शश्वतः वीरान्) और हे सुन्दर मुख वाले! हमें सदा वीर सन्तान ही प्राप्त कराइए।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥६.४७.१३

देवता—इन्द्रः। (वयं तस्य यज्ञियस्य अपि) हम उसी पवित्र राजा की (सुमतौ भद्रे सौमनसे स्याम) सुमति और भद्रयुक्त कृपा में वर्तमान रहें।

(सः स्ववान् सुत्रामा इन्द्रः) वह अपने अधिकार में रहने वाला और उत्तम रक्षक राजा (आरात् चित् द्वेषः) दूर में वर्तमान शत्रुओं को भी (सनुतः अस्मे युयोतु) सदा हमारे से पृथक् करे।

आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तं नि ते देष्णस्य धीमहि प्ररेके।

ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे तमापृण वसुपते वसूनाम् ॥ ३.३०.१९

देवता—इन्द्रः (इन्द्र ! नः द्युमन्तं भगं आभर) हे राजन् ! हमें उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कीजिए। (ते देष्णस्य प्ररेके निदधीमहि) हम आप दाता के धन धान्य पूर्ण राज्य में रहते हुए उस ऐश्वर्य को निरन्तर धारण करें। (ऊर्वः इव अस्मे कामः पप्रथे) प्रचण्ड अग्नि की तरह तेजस्वी हमारे वैदिक काम्य कर्म विस्तृत हैं, (वसूनां वसुपते ! तं आपृण) हे धनों के मालिक राजन् ! आप उन्हें पूर्ण कीजिए।

'रिच्' धातु से बना हुआ 'रेक्णस्' शब्द धन के लिये प्रयुक्त होता है, उसी का रूपान्तर 'रेक' है।

'अस्मे धत्त वसवो' के मंत्र की व्याख्या आगे (१२. २९) की जावेगी।

३०. पाथः

पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्यातम्। 'श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः' इत्यपि निगमो भवति।

उदकमपि पाथ उच्यते, पानात्। 'आचष्ट आसां पाथो नदीनाम्' इत्यपि निगमो भवति।

अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव। 'देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान्' इत्यपि निगमो भवति।

पाथस् = (क) अन्तरिक्ष। इसकी व्याख्या 'पथिन्' के अनुसार समझ लेनी चाहिए (१६१पृ०)। यहां 'असुन्' प्रत्यय है।

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः।

प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः ॥७.६३.५

देवता–मित्रावरुणौ। (यत्र अमृताः अस्मै गातुं चक्रुः) जब सूर्य-रश्मियें इन मनुष्यों के लिए गमन करती हैं, (श्येनः न दीयन् पाथः अन्वेति) और और जब सूर्य श्येन की तरह बड़े वेग से गति करता हुआ अन्तरिक्ष में प्राप्त

होता है, (मित्रावरुणा! सूरे उदिते) तब सूर्योदय होने पर हे अध्यापक और उपदेशक! (वां नमोभिः) हम आप दोनों का नमस्कारों से (उत हव्यैः) और उत्तमोत्तम पदार्थों से (प्रतिविधेम) सत्कार करते हैं।

(ख) जल को भी 'पाथस्' कहा जाता है, क्योंकि इसका पान किया जाता है। पा अधुक्, थुक् का आगम।

आचष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः ॥ ३.३४. १०

देवता—विश्वेदेवाः। (सहस्रचक्षाः उग्रः वरुणः) हे राजन्! जैसे अनन्त प्रकाश वाला तेजस्वी सूर्य (आसां नदीनां पाथः) इन नदियों के जल को खींच कर फिर उन्हीं में बरसा देता है, उसी प्रकार अपने राज्य में सर्वत्र दृष्टि रखने वाले, प्रतापी और शविद्यान्धकार को दूर करने वाले आप इन प्रजाओं से कर लेकर उन्हीं में खर्च करने की (आचष्टे) आज्ञा देते हो।

(ग) अन्न को भी 'पाथस्' कहते हैं, क्योंकि यह खाया जाता है। **यहां 'पा' धातु भक्षणार्थक मानी गई है। पहले भी 'पात्रम्' की सिद्धि में यही अर्थ पाया गया है (५. ६)। पाठकों को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।**

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान्। स्वदाति देवः कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे ॥ १०.७०.१०

देवता—वनस्पतिः। (वनस्पते! विद्वान्) हे अग्ने! तू अपने कर्म को जानती हुई (देवानां पाथः रशनया नियूय) वायु, मेघ ओषधि आदि देवताओं के अन्न को अपनी ज्वाला से फाड़ कर (उपवक्षि) अन्तरिक्ष में ले जाती हो। (हवींषि कृणवत्) जिन हवियों को तुमने फाड़कर बनाया, (देवः स्वदाति) उसका सब से पूर्व वायुदेव आस्वादन करता है। (मे हवं द्यावापृथिवी अवताम्) एवं, मुझ यज्ञकर्ता के भोज्य पदार्थों को सूर्य और पृथिवीस्थानीय अग्नि—दोनों मिलकर प्रवृद्ध करें।

यहां 'अव' धातु का १९ वां अर्थ वृद्धि लिया गया है।

३१. सवीमनि

सवीमनि प्रसवे। 'देवस्य वयं सवितुः सवीमनि' इत्यपि निगमो भवति।

सवीमनि = प्रसवे = आज्ञा में, अनुशासन में, सृष्टि में, ऐश्वर्य में! प्रेरणा,

प्रसव या ऐश्वर्यार्थक 'षु' धातु से इमनिच्' प्रत्यय (उणा० ४.१४८)।

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने ।

यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ॥६.७१.२

देवता—सविता। (वयं देवस्य, वसुनः च दावने सवितुः) हे परमात्मन् ! हम सर्वप्रकाशक और सब प्रकार के धनों के दाता जगदुत्पादक आप की (श्रेष्ठे सवीमनि स्याम) सर्वश्रेष्ठ आज्ञा में वर्तमान रहें, (यः विश्वस्य द्विपदः) जो आप सब मनुष्यों (यः चतुष्पदः) और सब पशुओं के (निवेशने प्रसवे च) बसाने और उत्पन्न करने में (भूमनः असि) महान् हैं।

३२. सप्रथाः — सप्रथाः सर्वतः पृथुः । 'त्वमग्ने सप्रथा असि,' इत्यपि निगमो भवति ।

सप्रथस् = सर्वत्र विस्तृत । 'सर्वतः' पूर्वक 'प्रथ' धातु से 'असुन्' ।

त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः ।

त्वया यज्ञं वितन्वते ॥ ऋ० ५.१३.४

देवता—अग्निः । (अग्ने ! त्वं सप्रथाः, जुष्टः, होता वरेण्यः असि) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप सर्वत्र विस्तृत, सब मनुष्यों से सेवित, दाता और श्रेष्ठ हो । (त्वया यज्ञं वितन्वते) आप के साहाय्य से विद्वान् लोग शुभकर्मों का विस्तार करते हैं।

३३. विदथानि — विदथानि वेदनानि । 'विदथानि प्रचोदयन्' इत्यपि निगमो भवति ॥३।७॥

विदथ = वेदन = ज्ञान । 'विद्' धातु से 'अथ' प्रत्यय (उणा० ३.११५) ।

होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया ।

विदथानि प्रचोदयन् ॥ ऋ० ३.२७.७

देवता—अग्निः । (होता अमर्त्यः देवः) विद्यादाता तथा मृत्यु से न डरने वाला पूजनीय विद्वान् (विदथानि प्रचोदयन्) ज्ञानों को प्रदान करता हुआ (मायया पुरस्तात् एति) विद्या के कारण मुख्यता को पाता है ॥ ३ । ७॥

३४. आयन्तः आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रतिभागं न दीधिम ॥

समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते । अपिवोपमार्थे स्यात् , सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्ते । सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्षमाणाः, स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च । वयं तं भागमनुध्यायामौजसा बलेन । ओज ओजतेर्वा, उब्जतेर्वा ।

आयन्तः = समाश्रिताः । 'अयन्तः' के स्थान पर 'आयन्तः' प्रयोग है । उपर्युक्त मंत्र (८.९९.३) का देवता 'इन्द्र' है ।

(आयन्तः सूर्यं इव) परमात्मा के आश्रित मनुष्य उस सर्वप्रेरक परमेश्वर की उपासना करते हैं । अथवा, जैसे सूर्य के आश्रित रश्मियें सूर्य का उपस्थान करती हैं, एवं परमात्माश्रित तेजस्वी लोग इन्द्र अर्थात् परमेश्वर की उपासना करते हैं । (जाते जनमाने) हम उत्पन्न और आगे उत्पन्न होने वाले जगत् में (इन्द्रस्य विश्वा वसूनि भक्षत इत्) परमेश्वर के सब धनों का विभाग करने की इच्छा रखते हुए ही, अर्थात् जैसे जैसे परमेश्वर ने हमें धन बांटा है, तदनुसार अपने धन की ही आकांक्षा रखते हुए (ओजसा भागं न प्रतिदोधिम) पुरुषार्थ से उस अपने भाग का अनुचिन्तन करें । अर्थात् विना पुरुषार्थ के हमारा वह भाग भी हमें नहीं मिलेगा ।

यहां प्रथम अर्थ में 'इव' पदपूरक है, और दूसरे में उपमार्थक । **भक्षत** = विभक्षमानाः । यहां 'भक्षत' आख्यात नहीं प्रत्युत पचता (६.६५) की तरह नाम है, 'सुपां सुलुक्' से 'जस्' का लुक् होगया है । **न = अनु । ओजस्**—वृद्ध्यर्थक 'ओज' या आर्जवार्थक 'उब्ज' धातु से 'असुन्' ।

३५. आशीः आशीराश्रयणाद्वा, आश्रपणाद्वा । अथेयमितराशीराशास्तेः । 'इन्द्राय गाव आशिरम्' इत्यपि निगमो भवति । 'सा मे सत्याशीर्देवेषु' इति च ।

आशिर् = दूध, इसका सेवन किया जाता है, अथवा इसे पकाया जाता है—उबाला जाता है । 'आङ्' पूर्वक 'श्रिञ्' सेवायाम् या 'श्रीञ्' पाके धातु से 'क्विप्' । यह दूसरा 'आशिष्' शब्द 'आङ्' पूर्वक 'शासु' धातु से निष्पन्न होता है ।

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ऋ० ८.६९.६

देवता—इन्द्रः। (वज्रिणे इन्द्राय) वज्री राजा के लिए (गावः मधु आशिरं दुदुह्रे) गौएं मधुर दूध को दोहती हैं, (यत् सीम् उपह्वरे विदत्) जिसे वह सर्वदा समीप में लाभ करता है।

'सा मे सत्याशीर्देवेषु गम्यात् शृण्वन्तु ते समर्द्धयन्तु' आदि दुर्गाचार्य ने कहीं का वचन दिया है, पता नहीं वह कहां का है। (मे सा सत्या आशीः) मेरी वह सच्ची प्रार्थना (देवेषु गम्यात्) देवजनों में पहुंचे। (ते शृण्वन्तु) वे मेरी प्रार्थना को सुनें, (समर्द्धयन्तु) और उसे पूर्ण करें।

३६. अजीगः 'यदा ते मर्त्तो अनुभोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः'। यदा ते मर्त्तो भोगमन्वापत्, अथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीः। जिगर्त्तिर्गिरतिकर्मा वा, गृणातिकर्मा वा, गृह्णातिकर्मा वा।

अजीगः = यह 'गॄ' निगरणे 'गॄ' स्तुतौ या 'ग्रह' उपादाने धातु के 'लुङ्' में मध्यमपुरुष के एकवचन का रूप है।

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आपदे गोः। यदा ते मर्त्तो अनुभोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥१.१६३.७

देवता—अश्वोऽग्निः। (अत्र गोः आपदे) हे सूर्य! इस भूमिस्थल पर (इषः जिगीषमाणं) वृष्टि आदि के द्वारा अन्नों को प्राप्त कराने वाले (ते उत्तमं रूपं अपश्यम्) तेरे उत्तम स्वरूप को मैं देखता हूं। (यदा ग्रसिष्ठः मर्त्तः ते अनुभोगं आनट) जब बहुभक्षी मनुष्य तेरे से अनुकूल भोजन को—सात्विक पदार्थों को पाता है, (आत् इत् ओषधीः अजीगः) तब ही वह उन उत्तम ओषधिओं का भक्षण करता है या उन्हें ग्रहण करता है या उनका निरादर नहीं करता।

उत्तम अन्न के निरादर न करने का व्रत प्रत्येक मनुष्य को धारण करना चाहिए—ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् ने 'अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्' वाक्य में प्रदर्शित किया है। अतः, वह ही यहां ओषधिओं की स्तुति से अभिप्राय है।

३७. अमूरः 'मूरा अमूर न वयञ्चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से'। मूढा वयं स्मः, अमूढस्त्वमसि। न वयं

विद्वो महत्त्वमग्ने त्वं तु वेत्थ ।

अमूर = अमूढ । चिकित्वः = चेतनावान् = ज्ञानवान् ।
मंत्र की व्याख्या२०३ पृष्ठ पर देखिए ।

३८. शशमानः — शशमानः शंसमानः । 'यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति' इत्यपि निगमो भवति ।

शशमानः = शंसमानः । मंत्र (१.१५७.७) यह है—

यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति कविर्होता यजति मन्मसाधनः ।
उपाह तं गच्छथो वीथो अध्वरमच्छा गिरः सुमतिं गन्तमस्मयू ॥

देवता—मित्रावरुणौ । (यः कविः होता मन्मसाधनः) हे अध्यापक तथा उपदेशक ! जो बुद्धिमान्, दाता और विद्या-साधक मनुष्य (यज्ञैः यजति) पञ्चमहायज्ञों को करता है, (ह वां शशमानः दाशति , और आपका सत्कार करता हुआ भोज्यादि पदार्थों को देता है, (अह तं उपगच्छथः) उसके पास आप जाते हो, (अध्वरं वीथः) उसके यज्ञ में शामिल होते हो, (अस्मयू) और हमारे से प्रीति करते हुए (अच्छा गिरः सुमतिं गन्तम्) सुभाषित वचनों तथा सुमति को प्राप्त कराते हो ।

३९. देवाच्या कृपा — 'देवो देवाच्या कृपा' । देवो देवान् प्रत्यक्तया कृपा । कृप् कृपतेर्वा, कल्पतेर्वा ॥४।८॥

देवाची = देवान् प्रत्यक्ता, देवान् अञ्चिता देवाची, प्राची प्रतीची उदीची की तरह रूपसिद्धि । कृप् = कर्म, सामर्थ्य । 'कृप' कृपायां गतौ च या 'कृपू' सामर्थ्ये धातु से 'क्विप्' प्रत्यय ।

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषा जुह्वानस्य सर्पिषः ॥ १.१२७.१

देवता—अग्निः । (होतारं, दास्वन्तं, वसुं, सहसः सूनुं) मैं यज्ञकर्ता, दाता, निवासक, साहसी वीर के पुत्र, (जातवेदसम्) प्रजा के प्रत्येक सुख दुःख को जानने वाले (विप्रं न जातवेदसं) और ब्राह्मण के समान वेदज्ञ क्षत्रिय

को (अग्निं) अग्रणी अर्थात् राजा मानता हूं। (यः देवः देवाच्या ऊर्ध्वया कृपा स्वध्वरः) जो तेजस्वी राजा देवजनों की रक्षार्थ लगे हुए कर्म या सामर्थ्य से राज्य को भलीप्रकार पालने वाला है, (जुह्वानस्य सर्पिषः घृतस्य शोचिषा) और जो भलीप्रकार तपाकर स्वच्छ किये हुए आहूयमान घृत की दीप्ति से (विभ्राष्टिं अनुवष्टि) राज्य में तेजस्विता की कामना करता है ॥ ४।८॥

४०. विजामातुः

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्। अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्॥ १.१०९.२

अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वां विजामातुरसुसमाप्ताज्जामातुः। विजामातेति शश्वद्दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते। असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः। जामाता जा अपत्यं तन्निर्माता। उत वा घा स्यालात्—अपि च स्यालात्। स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः, स्याल्लाजानावपतीति वा। लाजा लाजतेः। स्यं शूर्पं भवति। शूर्पमशनपवनम्, शृणातेर्वा। अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यं नवतरम्।

विजामाता = क्रीता कन्या का पति। दाक्षिणात्य लोग यास्काचार्य के समय क्रीता-पति को अधिकतर विजामाता कहते थे। यह वर जामातृ-भाव से अपूर्ण सा है। यद्यपि यह क्रीतापति लड़की के पिता का दामाद तो है, परन्तु गुणरहित होने के कारण रुपये देकर कन्या को खरीदता है, अतः उसे जामातृभाव से विगत बतलाया गया है, पूर्ण या सच्चा जामाता नहीं कहा। एवं, 'विजामाता' शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कन्या को खरीद कर विवाह करना वैदिक आज्ञा के प्रतिकूल है। विगताः जामातृगुणाः यस्मात् सः विजामाता।

देवता—इन्द्राग्नी। (इन्द्राग्नी ! वां विजामातुः उत वा/ स्यालात्/घ) हे अध्यापक तथा उपदेशक! मैं आपको क्रीतापति और साले से भी (भूरिदावत्तरा हि अश्रवम्) अधिक दाता सुनता हूं। जिस प्रकार विजामाता लड़की खरीदने के लिए बहुत अधिक धन देता है, और साला अपने बहनोई या बहिन को सदा कुछ न कुछ देता ही रहता है, उनसे भी अधिक दान आप का है।

आप की शिक्षाओं और उपदेशों का दान अमूल्य है। अतएव मनु ने कहा है, **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'** अर्थात् सब दानों में विद्या का दान विशिष्ट है। (अथ सोमस्य प्रयती युवभ्यां) अतः, दुग्धादि उत्तमोत्तम पदार्थों के प्रदान से आप के लिए (नव्यं स्तोमं जनयामि) नया २ सत्कार भेंट करता हूं।

भूरिदावत्तरा = बहुदातृतरौ। दावत् = दातृ, इसीतरह का रूप दान अर्थ में 'दावन' है। जामातृ—यह 'जा' अर्थात् सन्तान का निर्माता होता है, जा + मातृ।

स्याल = (क) यह संबन्ध से समीप होता है, नज़दीकी संबन्ध वाला होता है—ऐसा निदानवेत्ता मानते हैं। 'सद्' धातु से 'ण्यत्' साद्य—स्याद—स्याल। (ख) यह भगिनी के विवाह-काल में लाजाहोम के समय 'स्य' अर्थात् छाज में से बहिन के हाथ में लाजाएं डालता है, अतः उसे स्याल कहा जाता है—ऐसा नैरुक्त मानते हैं। स्यात् लाजान् आवपतीति स्यालः।

लाजा—भर्जनार्थक 'लाज' धातु से 'घञ्'। भुने हुए चावलों को लाजा कहा जाता है। **स्य** = शूर्प = छाज, नाशनार्थक 'षो' धातु से 'अङ्' प्रत्यय, 'ओ' को 'ई' (पा०६.४.६६) और यणादेश। छाज से शोधकर मिट्टी तिनके आदि दूर किये जाते हैं। **शूर्प**—यह गेंहू आदि भोज्य पदार्थों को शुद्ध करने वाला है, 'अशु' भोजने + 'पूङ्' पवने। अथवा 'शॄ' धातु से 'प' प्रत्यय (उणा०३.२६)। प्रयती = प्रदानेन, 'सुपां सुलुक्' से 'टा' की जगह 'ई'।

४१ ओमासः

ओमास इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः॥ ६। ५॥

'ओमासः' की व्याख्या आगे (१२.२७) करेंगे।

ओम, ओमन्, ओ३म्—ये तीनों समान 'अव' धातु से बने हुए हैं॥ ५। ९॥

* तृतीय पाद *

४२. सोमानम्

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः॥ १.१८.१

सोमानां सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते! कक्षीवन्तम् इव य औशिजः। कक्षीवान् कक्ष्यावान्। औशिज उशिजः पुत्रः। उशिक् वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवा-

भिप्रेतः स्यात्, तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते ॥ १ । १० ॥

सोमन् = सोता = ऐश्वर्यों का संपादक, षुञ् मनिन् ।

देवता—ब्रह्मणस्पतिः । (ब्रह्मणस्पते !) हे वेदपति परमेश्वर ! (यः औशिजः) जो मैं आप कमनीय का सुपुत्र हूं, (कक्षीवन्तं) उस मुझ को उद्योगी पुरुष की तरह, अथवा मुझ मनुष्य को (सोमानं) ऐश्वर्य-संपादक (स्वरणं कृणुहि) और तेजस्वी कीजिए ।

स्वरणम् = प्रकाशनवन्तम्, 'स्वर्' से 'मतुप्' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय । **कक्षीवान्** = कक्ष्यावान् = उद्योगी । कक्ष्याभ्योऽङ्गुलिभ्यो जायन्ते इति कक्ष्याः क्रियाः, ताः प्रशस्ताः क्रियन्ते यस्य सः कक्ष्यावान् । अत एव 'कक्ष्या' का अर्थ अमरकोष की टीका में उद्योग भी दिया हुआ है । **औशिज**—कमनीय परमेश्वर का पुत्र अर्थात् उसका भक्त । 'शब्दकल्पद्रुम' ने उशिज् का अर्थ 'कमनीयं ब्रह्म' किया है । उशिज्—'वश' कान्तौ से 'इजि' । अथवा, 'कक्षावान्' से कक्षीवान् रूप बना है, जिस का अर्थ है बगलों से युक्त, अर्थात् मनुष्य ॥ १ । १० ॥

४३. अनवायम्
४४. किमीदिने

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव । ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ ७.१०४.२

इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम् । अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति । तपुस्तपतेः । चरुर्मृच्चयो भवति, चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः । ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यादे क्रव्यमदते, घोरचक्षसे घोरख्यानाय । क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः । द्वेषो धत्तमनवायम् अनवयवम्, यदन्ये न व्यवेयुरद्वेषस इति वा । किमीदिने किमिदानीमिति चरते, किमिदं किमिदमिति वा पिशुनाय चरते । पिशुनः पिंशतेर्विपिंशतीति ॥ २ । ११ ॥

अनवायम् = (क) संपूर्ण, न अवयवम् अनवयवम्—अनवायम् । (ख) यत् अन्ये न व्यवेयुः अद्वेषसः, धर्मात्मा पुरुष जिस को न रोकें, अर्थात् सज्जनों

से अनुमोदित । नास्ति व्यवायो यस्मै तत् अव्यवायम्—अनवायम् । **किमीदिन्**=कमीना । किम् इदानीमिति चरतीति किमीदी, अब क्या है अब क्या है—इस प्रकार पूछता हुआ जो विचरता है वह 'किमीदिन्' कहलाता है । किमिदानीम्–किमीदिन् । (ख) अथवा, यह क्या है ? यह क्या है ?— इस प्रकार जो पूछता रहता है, उसे 'किमीदिन्' कहा जाता है । किमिदम्—किमीदिन् ।

(इन्द्रासोमा) हे राजन् तथा न्यायाधीश ! (अघशंसं सम्) आप पापप्रशंसक को दण्डित करें, (अभ्यघं सम्) और पापी को सन्तप्त करें, (तपुः अग्निवान् चरुः इव ययस्तु) जिस से वह दण्डित हुआ २ आग में रखी हुई हण्डिया की तरह पक कर, शुद्ध होकर प्रयत्नशील हो जावे । (ब्रह्मद्विषे, क्रव्यादे, घोरचक्षसे) आप ब्राह्मणों के द्वेषी, मांसभक्षक, बुरी दृष्टि वाले (किमीदिने) और कमीने के लिए (अनवायं द्वेषः) पूर्णतया द्वेष को या सज्जनों से अनुमोदित द्वेष को (धत्तम्) धारण कीजिए ।

अघ—यह 'आङ्' पूर्वक 'हन्' से 'ड' प्रत्यय और उपसर्ग को ह्रस्व करने से सिद्ध होता है । पाप मनुष्य का नाश कर देता है । तपु—'तप' संतापे से 'उ' प्रत्यय । चरु=मिट्टी की हण्डिया, यह मृन्मय अर्थात् मिट्टी से बनाई जाती है । 'चिञ्' चयने से 'उ' । चयु—चरु । अथवा, हण्डिया को आग में रखने से, इस में से जल उड़ जाता है और पक जाती है, चर्+उ । ब्रह्मद्विषे=ब्राह्मणद्वेष्ट्रे । क्रव्याद—मांसभक्षक, क्रव्य+अद् । क्रव्य—यह शरीर को काटने से उत्पन्न होता है—ऐसा नैरुक्त मानते हैं । 'कृती' छेदने के असंप्रसारणरूप 'क्रती' से क्रव्य बनाया गया है । पिशुन=कमीना, दीपनार्थक 'पिश' धातु से 'उनन्' (उणा० ३.५५)। यह दूसरों की बातों को व्यर्थ में ही प्रकाशित करता रहता है, और एक के विरुद्ध दूसरे को चमकाता रहता है ॥ २ । ११ ॥

४५. अमवान् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन । तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ४.४.१

कुरुष्व पाजः । पाजः पालनात् । प्रसितिमिव पृथ्वीम् । प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा । याहि राजेवामात्यवान्, अभ्यमनवान्, स्ववान् वा, इराभृता गणेन गतभयेन हस्तिनेति वा । तृष्व्याऽनु प्रसित्या द्रूणानः । तृष्वीति क्षिप्रनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा । असिता

असि, विध्य रक्षसस्तपिष्ठैस्तप्ततमैः, तृप्ततमैः, प्रपिष्टतमैरिति वा।

अमवान् = (क) अमात्यवान् = अमात्यों के सहित। अम = अमात्य। (ख) अभ्यमनवान् = रोगभूत, 'अम' रोगे से 'घ' और फिर 'मतुप्'। (ग) स्ववान् = राजकर्मचारियों सहित। 'अमा' अव्यय 'सह' अर्थ में प्रयुक्त होता है, उस से 'मतुप्'।

देवता—अग्निः रक्षोहा। (पृथ्वीं प्रसितिं न पाजः कृणुष्व) हे सेनापते! तू फैले हुए फन्दे या जाल की तरह अपने में बल धारण कर, (अमवान् राजा इव) और अमात्यवान् रोगभूत या राज्यकर्मचारियों से परिवेष्टित राजा की न्याईं सैनिकों सहित (इभेन याहि) भोज्य पदार्थों वाले मनुष्य वर्ग के साथ अथवा भयरहित हाथी पर सवार होकर युद्ध में प्रयाण कर। (अस्ता असि) सेनापते! तू अस्त्र चलाने वाला है, (तृष्वीं प्रसितिं अनुद्रूणानः) अतः, तेज हमले से शत्रुओं का पीछा करता हुआ (रक्षसः तपिष्ठैः विध्य) उन राक्षसों को संतप्त गोलियों से, कार्यसिद्धि के कारण तृप्त अस्त्रों से या बारूदों से बींध दे।

पाजस = बल, इस से अपनी और दूसरे की पालना होती है। 'पाल' धातु से 'असुन्' (उणा० ४. २०३)। प्रसिति = फन्दा, जाल। प्र षिञ् क्तिन्। **इभ—(क)** इराभृत् गण = भोज्य पदार्थों को धारण करने वाला समूह। एवं, इभ या इराभृत् कमसरिएट विभाग के द्योतक हैं। इराभृत्—इभ। (ख) हाथी, यह गतभय अर्थात् निर्भय होता है। इत भय—इभ। तृष्वीं = तृष्व्या, प्रसितिं = प्रसित्या। 'प्रसिति' शब्द हमले के लिये प्रयुक्त होता है। द्रूणानः—'द्रुण' हिंसायाम् से 'शानच्'। **तृष्वी** = क्षिप्र, 'तृ' या 'त्वर' धातु से 'युक्' प्रत्यय, 'तृषु' से 'ङीप्'। 'तृषु' शब्द क्षिप्र अर्थ में निघण्टु-पठित है। **तपिष्ठ—(क)** तप्ततम = अत्यन्त संतप्त। (ख) तृप्ततम। (ग) प्रपिष्टतम = भलीप्रकार पिसा हुआ अर्थात् बारूद। प्रपिष्ट—तपिष्ठ।

४६. अमीवा

'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये'। अमीवाऽभ्यमनेन व्याख्यातः। दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति, क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः, क्रामतेर्वा।

अमीवा = रोगोत्पादक क्रिमि, 'अम' रोगे से 'वन्' प्रत्यय और 'टाप्'।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥१०.१६२.२

इस मंत्र का देवता 'गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्' है। अतः, इस में गर्भस्राव से रक्षा का उपाय बताया गया है। ऋषि 'रक्षोहा ब्रह्मा' है। 'विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः' (ऋ० १०.९७.६) में वैद्य को 'रक्षोहा विप्र' कहा है, अतः उपर्युक्त मंत्र में प्रयुक्त 'ब्रह्मणा' शब्द से वैद्य का ग्रहण करना उचित होगा। 'अग्नि' से क्या अभिप्राय है—इसे वैद्य ही ठीक २ बतला सकेगें। सामान्यतः, मंत्र का अर्थ यह होगा—(यः अमीवा दुर्णामा ते गर्भं योनिं आशये) जो रोगोत्पादक 'दुर्णामा' क्रिमि तेरे गर्भ–स्थान में वर्तमान है, (अग्निः तं क्रव्यादं ब्रह्मणा सह निरनीनशत्) अग्नि उस मांसस्नेही क्रिमि को वैद्य के साथ मिल कर निःशेषतया नष्ट करे।

कृमि, क्रिमि—यह मांस में बड़ा स्नेह रखता है, क्रव्य+मिद्। अथवा, सरणार्थक 'क्रम' या 'क्राम' धातु से 'इन्' प्रत्यय (उणा०४.१२२)।

४७. दुरितम्

'अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा'। अतिक्रममाणाः दुर्गतिगमनानि सर्वाणि।

दुरित=दुष्कृत, पाप, कष्ट। दुर्गतिरीयते प्राप्यते येन तत् दुरितम्, दुर् इण क्त। दुर्गाचार्य ने 'अतिक्रामन्तो दुरितानि' का संपूर्ण पाठ इसप्रकार दिया है, पता नहीं वह कहां का है—

वैश्वदेवीं सूनृतामारभध्वं शुद्धा भवन्तो यज्ञियासः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥

(वैश्वदेवीं सूनृतां आरभध्वम्) हे मनुष्यो ! विद्वानों से संसेवित प्रिय तथा सत्यवाणी का प्रारम्भ करो, (शुद्धाः भवन्तः) और एवं शुद्ध होते हुए (पावकाः यज्ञियासः) पावक यज्ञाधिकारी बनो। (विश्वा दुरितानि अतिक्रामन्तः) और, हम भी संपूर्ण दुष्कृत्यों को छोड़ कर (सर्ववीराः) सब के सब वीर होते हुए (शतं हिमाः मदेम) सौ वर्ष तक प्रसन्न रहें।

इसीप्रकार हम नित्यप्रति 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव' मंत्र से जगदीश की प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे दुष्कर्मों को दूर करे।

४८. अप्वे

अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते, व्याधिर्वा भयं वा। 'अप्वे परेहि' इत्यपि निगमो भवति।

अप्वा—इससे सताया हुआ मनुष्य नष्ट हो जाता है, अर्थात् व्याधि या भय। अप+'वा' गतिगन्धनयोः। 'अप्वे परेहि' के संपूर्ण मंत्र की व्याख्या

आगे (९.२७) करेंगें।

४९. अमतिः

अमतिरमामयीमतिरात्ममयी। 'ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युत्सवीमनि' इत्यपि निगमो भवति॥ ३। १२॥

अमति = अमामयी मति = आत्ममयी मति = स्वयं-सर्वज्ञता। यहां 'अमा' अव्यय 'आत्मा' (अपना) अर्थ में प्रयुक्त किया है, अमामति—अमति।

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधाम् अभिप्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः॥ साम० पू० आ० ५.२.३.८

(ओण्योः सवितारं) द्यावापृथिवी के उत्पादक, (कविक्रतुं सत्यसवं) सर्वद्रष्टा तथा सर्वकर्मा, सत्य की आज्ञा देने वाले, (रत्नधां अभिप्रियं) सूर्यादि रमणीय पदार्थों के दाता तथा धर्ता, सर्वप्रिय (मतिं त्यं देवं अभ्यर्चामि) और मतिमान् उस पूज्यदेव की मैं अभ्यर्चना करता हूं। (यस्य अमतिः भाः ऊर्ध्वा अदिद्युत्) जिस प्रभु की स्वयं-सर्वज्ञता की ज्योति सब से ऊपर देदीप्यमान हो रही है। (सवीमनि) और जिस के शासन में सब लोक लोकान्तर वर्तमान हैं, (हिरण्यपाणिः सुक्रतुः कृपा स्वः अमिमीत) उसी तेजस्वी हाथ वाले सुकर्मा परमेश्वर ने अपनी कृपा या सामर्थ्य से द्युलोक का निर्माण किया है॥ ३। १२॥

५०. श्रुष्टी
५१. पुरंधिः

श्रुष्टीति क्षिप्रनाम, आशु अष्टीति। 'ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्'। तानध्वरे यज्ञे उशतः कामयमानान् यजाग्ने श्रुष्टी भगं नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः, सत्यस्य प्रणेताराविव्याग्रायणः, नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। पुरन्धिर्बहुधीः। तत्कः? पुरन्धिर्भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरम्, स बहुकर्मतमः पुरां च दारयितृतमः। वरुण इत्यपरम्, तं प्रज्ञया स्तौति—'इमामू नु

कवितमस्य मायाम्' इत्यपि निगमो भवति ।

श्रुष्टी तथा पुरन्धि-दोनों का वेदमंत्र यह है—

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभिसन्ति देवाः ।
ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् ॥ ७.३९.४

देवता—विश्वेदेवाः । (तेहि यज्ञियासः ऊमाः) वे ही यज्ञाधिकारी तथा रक्षक (विश्वेदेवाः) देवजन (यज्ञेषु सधस्थं अभिसन्ति) यज्ञों में समान स्थान पर बैठते हैं । (अग्ने ! नासत्या पुरन्धिं भगं तान् उशतः) हे राजन् ! तू सब का सुख चाहने वाले सत्यशील अध्यापक तथा उपदेशक, और सर्वज्ञ भजनीय परमेश्वर या सेनापति या सर्वज्ञ परमेश्वर तथा भाग्यशाली मनुष्य—इन सब की (अध्वरे श्रुष्टी यक्षि) यज्ञ में शीघ्र पूजा या सत्कार कर ।

श्रुष्टी = शीघ्र, 'अशूङ्' व्याप्तौ क्तिन् ङीष्, श्रु (आशु) अष्टी—श्रुष्टी ।

नासत्या = नासत्यौ (क) न न सत्य, अर्थात सर्वदैव सच्चे—यह निर्वचन और्णवाभ करता है । (ख) सत्यस्य प्रणेतारौ = सत्य-नायक, सत्यप्रचारक । सत्यनायक—नायकसत्य—नासत्य, ऐसा आग्रायण मानता है । (ग) नासिका-प्रभवौ नासत्यौ—जिन की नासिकाओं में सामर्थ्य हो, प्राण का सञ्चार यथेष्ट हो सकता हो और प्राणशक्ति बड़ी तीक्ष्ण हो, उन्हें नासत्य कहा जावेगा । यास्काचार्य 'नासत्य' के भाव को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि नासिकाओं में समर्थ 'नासत्य' नामी दो विद्वान् हुए थे, उनका यह नाम उपर्युक्त तीसरे निर्वचन के अनुसार अन्वर्थक प्रसिद्ध था । नासिकाप्रभवौ नासिक्यौ—नासत्यौ ।

पुरन्धि कौन है ? (उत्तर) पुरन्धि का अर्थ है बहुधी, अर्थात् बहुत बुद्धिमान् । यह पूर्ववर्ती 'भग' का विशेषणरूप से पश्चात्कथन है—ऐसा एक मत है । दूसरा मत यह है कि पुरन्धि का अर्थ 'इन्द्र' है । सेनापति बड़ा उद्योगी और शत्रु के नगरों का विदारक होता है । पुरन्धि = बहुधी = बहुकर्मा, अथवा पुरं विदारयतीति पुरन्धिः । पुरन्दर तथा पुरन्धि शब्द समानार्थक हैं । तीसरा मत यह है कि पुरन्धि का अर्थ 'वरुण' परमेश्वर है, क्योंकि वह बहुधी, अर्थात् सर्वज्ञ है, जैसे कि वेद निम्न मंत्र में वरुण की प्रज्ञा से स्तुति करता है—

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरादधर्ष ।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥ ५.८५.६

देवता—वरुणः । (कवितमस्य देवस्य) सर्वद्रष्टा तथा सर्वप्रकाशक परमेश्वर

की (इमां महीं मायां उ नु नकिः आदधर्ष) इस महान् प्रज्ञा को कोई नहीं पहुँच सकता, (यत् आसिञ्चन्तीः एनीः अवनयः) जिस को, इतस्ततः भूमि को सींचती हुई नदिएं (उद्रा न एकं समुद्रं पृणन्ति) जैसे जल से एक समुद्र को पूर्ण करती हैं, एवं हमारी समस्त बुद्धियें प्राप्त होती हैं।

५२. रुशत् रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। 'समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः' इत्यपि निगमो भवति ॥ ४।१३ ॥

रुशत् = चमकीला वर्ण, 'रुच' दीप्तौ से 'अति' प्रत्यय।

अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमना प्रातरस्थात्।
समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान्देवस्तमसो निरमोचि ॥ ५.१.२

देवता—अग्निः। (सुमनाः होता) शुद्ध मन वाला यज्ञकर्ता (ऊर्ध्वः अग्निः) ऊपर की ओर गति करने वाली अग्नि के समान उन्नति की ओर जाता हुआ (यजथाय देवान् अबोधि) परमेश्वर-प्राप्ति के लिये दिव्य भावों को जानता है, (प्रातः अस्थात्) और प्रातःकाल परमेश्वर का उपस्थान करता है। (समिद्धस्य रुशत् पाजः अदर्शि) तब उस देदीप्यमान विद्वान् का तेजस्वी वर्ण और बल दिखाई पड़ता है, (महान् देवः तमसा निरमोचि) तथा यह श्रेष्ठ विद्वान् दुःख से छूट जाता है ॥ ४। १३ ॥

५३. रिशादसः 'अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्'। अस्ति हि वः समानजातिता रेशयदासिनो देवाः, अस्त्याप्यम्। आप्यमाप्नोतेः।

रिशादस्—दस्यु-नाशक, रेशयन्तम् अस्यति क्षिपतीति रिशादाः, अन्तर्भावी णिजन्त 'रिशत्' पूर्वक 'असु' धातु से 'क्विप्'। रिशदस्—रिशादस्।

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्।
प्र णः पूर्वस्मै सुविताय वोचत मक्षू सुम्नाय नव्यसे ॥ ८.२७.१०

देवता—विश्वेदेवाः। (रिशादसः देवासः!) हे पाप-नाशक देवजनो! (हि वः सजात्यं अस्ति) निश्चय से आपकी समानजातिता अर्थात् परस्पर में बन्धुत्व है, (आप्यम् अस्ति) और आप्तत्व है। (नः मक्षु पूर्वस्मै सुवि-

ताय) आप हमें शीघ्र श्रेष्ठ सुकर्म के लिए (नव्यसे सुम्नाय) और प्रशंसनीय सुख-प्राप्ति के लिए (प्रवोचत) उपदेश दीजिए । आप्य—आप् ण्यञ् ।

५४. सुदत्र: सुदत्रः कल्याणदानः । 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः' इत्यपि निगमो भवति ।

सुदत्र=कल्याण के लिए दान देने वाला । दत्र—दान, दा+त्रङ् ।

ता नो रासन् रातिषाचो वसून्या रोदसी वरुणानी शृणोतु ।
वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः ॥७.३४.२२

देवता—विश्वदेवाः । (रोदसी वरुणानी रातिषाचः) जैसे सूर्य और पृथिवी, तथा समुद्र हमें अनेकविध उत्तमोत्तम पदार्थों को देते हैं, वैसे कररूपी दान को सेवने वाले राजपुरुष (नः ता वसूनि आरासन्) हमें उन पदार्थों को भलीप्रकार प्रदान करें । (सुदत्रः त्वष्टा) इसी प्रकार कल्याण के लिए दान देने वाला राज्यकर्ता राजा (वरूत्रीभिः नः सुशरणः अस्तु) रक्षा करने वाली विद्याओं से हमारा आश्रयदाता हो, (रायः विदधातु) और हमें ऐश्वर्य प्रदान करे ।

वरुण=समुद्र, वरुणानी=बड़ा समुद्र ।

५५. सुविदत्रः सुविदत्रः कल्याणविद्यः । 'अग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ्' इत्यपि निगमो भवति ।

सुविदत्र=कल्याणकारी विद्या से युक्त । विद+अत्रङ् ।

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः । अग्ने
याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥१०.१५.९

देवता—पितरः । (ये देवत्रा जेहमानाः) जो देवभावों को प्राप्त करते हुए (होत्राविदः) यज्ञकर्मों को जानने वाले, (स्तोमतष्टासः) और प्रशंसित गुणों को धारण करने वाले गुरुजन (अर्कैः तातृषुः) वेदमंत्रों के द्वारा तर गये हैं, (अग्ने ! सुविदत्रेभिः) हे राजन् ! उन कल्याणकारी विद्याओं के ज्ञाता, (सत्यैः कव्यैः) सत्यवादी, कवियों में प्रशस्त (घर्मसद्भिः पितृभिः) और तपस्वी गुरुजनों के साथ (अर्वाङ् आयाहि) हमारे समीप आइए ।

५६. आनुषक् आनुषगिति नामानुपूर्वस्य, अनुषक्तं भवति । 'स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्' इत्यपि निगमो भवति ।

आनुषक्—यह अनुपूर्व, अर्थात् निरन्तर अथवा नियमपूर्वक का वाचक है। अनु+षच्+क्विप, यह अनुषद्ध होता है।

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।

येषामिन्द्रो युवा सखा॥ ८.४५. १

(ये घ अग्निं इन्धते) जो मनुष्य अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, यज्ञ करते हैं, (येषां युवा इन्द्रः सखा) और जिनका पुरुषार्थी ब्राह्मण मित्र है, (आनुषक् बर्हिः स्तृणन्ति) वे निरन्तर वृद्धि का विस्तार करते हैं।

५७. तुर्वणिः तुर्वणिस्तूर्णवनिः। 'स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये' इत्यपि निगमो भवति।

तुर्वणि=तूर्णवनि= क्षिप्रप्रदाता या शीघ्र भजने वाला। तूर्णवनि=तुर्वणि।

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः। येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि॥१.५६.३

देवता—इन्द्रः। (सः तुर्वणिः महान्) वह शीघ्रप्रदाता महात्मा तेजस्वी पुरुष (अरेणु पौंस्ये) अक्षीण यौवन में (गिरेः भृष्टिः न भ्राजते) पर्वत-शृङ्ग की तरह चमकता है। (आयसः दुध्रः) और वह लोहसमान दृढ शरीर वाला तथा विद्या से पूर्ण वर (मदे रामयत्) प्रसन्नता में रमण कराने वाले, (आभूषु) शोभायमान (तुजा शवः) तथा सब की पालना करने वाले बल को धारण करता है। (येन शुष्णं मायिनं) जिस से उस बलवान् और प्रज्ञावान् वर को स्त्री (दामनि नि) अपने प्रेमपाश में बांधती है।

किस प्रकार के वर से विवाह करना चाहिए—यह इस मंत्र में बतलाया गया है। पुंसः इदं पौंस्यं यौवनम्। दुध्र—'दुह' प्रपूरणे। अरेणु—नञ्+'री' गतिरेषणयोः+नु। तुजा=तुजम्।

५८. गिर्वणाः गिर्वणा देवो भवति, गीर्भिरेनं वनयन्ति। 'जुष्टं गिर्वणसे बृहत्' इत्यपि निगमो भवति॥५।१४॥

गिर्वणस्=वाणी से भजने योग्य पूज्य देव, गिर्+वन्+असुन्।

आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि।

घर्मं न सामन्तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत्॥ ८.८९.७

देवता—इन्द्रः। (आमासु पक्व ऐरय) हे परमेश्वर ! आप हमारे लाभ के लिये अपक्व ओषधियों में पक्व रस को डालते हो, (दिवि सूर्यं आरोहयः) और द्युलोक में सूर्य को उदित करते हो। (सामं घर्म न) संवत्सर में आने वाले घर्म दिनों की तरह (सुवृक्तिभिः तपत) हे मनुष्यो ! तुम कायिक वाचिक तथा मानसिक शुद्धियों के द्वारा तपश्चरण करो, (गिर्वणसे जुष्टं बृहत्) और पूज्य देव के लिये प्यारे तथा महान् साम को गावो।

सामं = समासु भवं सामम्। वृक्ति = शुद्धि, इससे मल दूर किये जाते हैं।

५६. असूर्त्ते सूर्त्ते 'असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि'। असुसमीरिताः सुसमीरिते वातसमीरिता माध्यमका देवगणाः, ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति। 'त आयजन्त' इत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम्।

असूर्त्ते = असुसमीरिताः = वातसमीरिताः माध्यमका देवगणाः = वायु से प्रेरित मेघ। असु ईर् क्त, 'इट्' का अभाव और 'ई' को पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश। 'असूर्त्ते' यहां प्रथमा के बहुवचन में सप्तमी है। सूर्त्ते = सुसमीरिते = विस्तीर्णे, सु ईर् क्त।

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूमना।
असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ १०.४२.४

देवता—विश्वकर्मा। (ये सूर्त्ते रजसि निषत्ते असूर्त्ताः) जो विद्वान् विस्तृत अन्तरिक्षलोक में स्थित मेघों की तरह (इमानि भूतानि समकृण्वन्) इन सब प्राणियों को सम्यक्तया सुखी करते हैं, (ते ऋषयः) वे ऋषिजन (पूर्वे जरितारः न) प्राचीन परमात्म-भक्तों के समान (भूमना) महान् तपश्चरण से (अस्मै द्रविणं समायजन्त) इस विश्वकर्मा जगदीश को भक्ति की भेंट प्रदान करते हैं।

द्रविण = भक्ति, जैसे कि 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' में हवि का प्रयोग है। यास्काचार्य 'असूर्त्ते सूर्त्ते' इस मंत्रार्ध के अर्थ को पूर्ण करने के लिये पूर्ववर्ती मंत्रार्ध के 'ते आयजन्त' इस वचन का निर्देश करते हुए कहते हैं कि 'ये' के प्रतियोगी 'ते' शब्द से युक्त 'ते आयजन्त' यह वचन पहले आचुका है।

६०. अम्यक् 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः'। अमाक्तेति वा, अभ्यक्तेति वा।

अम्यक्—(क) आत्म-ज्ञान को देने वाली विद्या, अमा आत्मानं अञ्चति यया सा अम्यक्, अमा अञ्चू क्विप् । (ख) अभ्यञ्चति आत्मानं यया सा अम्यक्, अभि अञ्चू क्विप् ।

अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति ।
अग्निश्चिद्धि स्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥ १.१६६.३

देवता—इन्द्रः । (इन्द्र ! ते सा अम्यक् ऋष्टिः अस्मे) हे विद्वान् ! आप की वह आत्म-ज्ञान देने वाली विद्या हमें प्राप्त हो,(मरुतः सनेमि अभ्वं जुनन्ति) जिससे मनुष्य सनातन तथा अजन्मा परमेश्वर को जानते हैं । (अतसे अग्निः चित् हि स्म शुशुक्वान्) हे विद्वान् ! आप अमृतत्व-प्राप्ति के लिये अग्नि की तरह अत्यन्त शुचि या तेजस्वी हो, (आपः द्वीपं न प्रयांसि दधति) और जैसे जल द्वीप को धारण करते हैं, वैसे उत्तम अन्न आपका धारण करते हैं ।

ऋष्टि = विद्या, इससे अज्ञानता और दुःखादिकों को नष्ट किया जाता है ।

६१. यादृश्मिन् 'यादृश्मिन्धायि तमपस्ययाविदत्' । यादृशेऽधायि, तमपस्ययाविदत् ।

यादृश्मिन् = यादृशे । इस का मंत्र (५.४४.८) यह है—

ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुना ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते ।
यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वयं वहते सो अरं करत् ॥

देवता = अग्निः । (अस्य यतुनस्य केतुना) जो इस यत्नशील गुरु के ज्ञान से (ज्यायांसं ऋषिस्वरं चरति) श्रेष्ठ ईश्वरोपदेश को प्राप्त करता है, (यासु ते नाम) और जिन ईश्वरोपपदिष्ट क्रियाओं में तेरी प्रवृत्ति है, तेरा झुकाव है, (यादृश्मिन् धायि) तथा जिस प्रकार के पदार्थ में मन लगाया (तम् अपस्यया विदत्) उसे जो साधु क्रिया से प्राप्त कर लेता है, (यः उ स्वयं वहते) और जो स्वयमेव उसे अन्यों को प्राप्त कराता है, (सः अरं करत्) वह विद्वान् उत्तम जीवन व्यतीत करता है ।

६२. जारयायि 'उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः' । उस्र इव गोपिताऽजायि यज्ञैः ॥ ६ । १५ ॥

जारयायि = अजायि = पैदा हुआ ।

सास्माकेभिरेतरी न शूषैरग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः । द्रून्नो

वन्वन्कत्वा नार्वो॑ऽस्मः पितेव जारयायि यज्ञैः ॥ ६. १२. ४

इस मंत्र का अर्थ मेरे लिए अस्पष्ट है, विद्वान् लोग विचार करें ॥६।१५॥

६३. अग्रिया

'प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः'। प्रास्थुर्वो जोषयमाणा अभवत सर्वेऽग्रगमनेनेति वा अग्रसम्पादिन इति वा। अपि वाऽग्रमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत।

अग्रिया = (क) अग्रगमनेन। अग्रे यानं अग्रियं तेन अग्रिया, अग्र या क, तृतीया विभक्ति की जगह 'आ' आदेश। (ख) अग्रसम्पादिनः। अग्रं सम्पादयन्ति इति अग्रियाः, 'अग्र' से संपादन अर्थ में 'घ' प्रत्यय और 'जस्' की जगह 'आ'। (ग) अथवा, 'अग्र' शब्द से स्वार्थ में 'घ' प्रत्यय। अग्रिय = श्रेष्ठ।

अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत्प्रदिवो दधिध्वे।
प्रवोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः॥ ४.३४.३

देवता—ऋभवः। (ऋभवः वः अयं यज्ञः अकारि) हे सत्यवादी ब्रह्मचारिओ! तुम्हारे लिए यह वेदारम्भ-यज्ञ किया गया है, (यं मनुष्वत प्रदिवः आदधिध्वे) जिस को तुम मननशील होकर जीवन के प्रारम्भिक दिनों में भली प्रकार धारण कर रहे हो। (वः अच्छ जुजुषाणासः प्रास्थुः) तुम्हारे से अच्छी तरह सेवित हुए गुरुजन उत्तमतया स्थित रहें। (उत विश्वे अग्रिया वाजाः अभूत) और तुम सब अग्रगति से ज्ञानी बनो। अथवा, (विश्वे अग्रिया उत वाजाः अभूत) तुम सब शीघ्र ज्ञान-संपादक या श्रेष्ठ और बलवान् बनो।

प्रदिवः = पूर्वेष्वहःसु (निरु०४.९)। जुजुषाणाः = जोषयमाणाः।

६४. चनः
६५. पचता

'अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्'। अद्धीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि, चनो दधिष्व। चन इत्यन्ननाम। पचतिर्नामीभूतः। 'तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्' इत्यपि निगमो भवति। अपित्वा मेदसश्च पशोश्च सात्त्वं द्विवचनं स्यात्। यत्र ह्येकवचनार्थः प्रसिद्धं तद्भवति। 'पुरोळा अग्ने पचतः' इति यथा।

चनस् = अन्न, भक्षणार्थक 'चमु' धातु से 'असुन्' और 'म' को 'न'। अथवा, कई भक्षणार्थक 'चनस्' धातु मानते हैं, उस से 'क्विप्'। **पचता** = पक्वम्, पक्वौ, पक्वानि। 'पच' धातु से 'अतच्' प्रत्यय (उणा०३.११०)। 'पक्वम्' अर्थ में 'पचतम्' की जगह 'सु' को 'आ' आदेश है। 'पचता'—यह नरा नासत्या की तरह द्विवचन में, और वना धना के समान बहुवचन में प्रयुक्त है।

अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्। प्रयस्वन्तः प्रतिहर्यामसि त्वा सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥१०.११६.८

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र! इमा पचता हवींषि प्रस्थिता) हे विद्वान्! ये परिपक्व फल उपस्थित हैं, (अद्धि इत्) भक्षण कीजिए। (चनः उत सोमं दधिष्व) अन्न और दुग्ध को ग्रहण कीजिए। (प्रयस्वन्तः त्वा प्रतिहर्यामसि) अन्नयुक्त हम आपकी कामना करते हैं, (यजमानस्य कामाः सत्याः सन्तु) जिस से मुझ गृहस्थ की अभिलाषायें सच्ची हों।

अन्न-दान से दाता की अनेक इच्छायें पूर्ण होती है—यह इस मण्डल के अगले ही ११७ वें दानसूक्त में दर्शाया गया है।

'पचता' को द्विवचनान्त दर्शाने के लिए यास्काचार्य 'तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्' मंत्रवाक्य देते हैं। 'अग्रभीष्टाम्' की जगह पर 'अग्रभीत्' पाठ-भेद के साथ शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय संहिता में (२८.२३) मंत्र इसप्रकार है—

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन्पक्तीः पचन्पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय छागम्। सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय छागेन अघत्तं मेदस्तः प्रतिपचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन त्वामद्य ऋषे॥

(अयं यजमानः पक्तीः पचन्) यह यजमान अनेक पाकों को पकाता हुआ (पुरोडाशं पचन्) पुरोडाश को पकाता हुआ (इन्द्राय छागं बध्नन्) और बल-प्राप्ति के लिए अनेक रोगों को दूर करने वाली बकरी को बांधता हुआ (अद्य होतारं अग्निं अवृणीत) आज ज्ञानप्रदाता विद्वान् की सेवा करता है। (वनस्पतिः देवः इन्द्राय छागेन अद्य सूपस्था अभवत्) और जैसे जलरक्षक देदीप्यमान सूर्य बल-प्रदान के लिए रोग-निवारक किरण-समूह से प्राणियों की सेवा करता है, एवं यह यजमान उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थों से विद्वान् की उत्तम सेवा करने वाला बना है। (मेदस्तः तं अघत्) घी से बनाये गये उस भोजन को विद्वान् भक्षण करे, (पचता प्रत्यग्रभीत्) और परिपक्व पुरोडाश को ग्रहण करे। (ऋषे! त्वां अद्य पुरोडाशेन अवीवृधत्) हे वेदज्ञ

ऋषि ! आप को आज यह यजमान पुरोडाश से तृप्त करता है।

एवं, यहां 'पचता' एकवचनान्त 'पक्वम्' अर्थ में। परन्तु पक्षान्तर में यास्काचार्य कहता है कि यह 'पचता' एकवचन नहीं, अपितु 'पचतौ=पक्वौ' अर्थ में द्विवचनान्त है। यहां एकवचन का अर्थ है, वहां स्पष्ट 'पचतः' का प्रयोग होता है, जिस के लिए 'पुरोडा अग्ने पचतः' उदाहरण दिया है।

दूसरे पक्ष में उपर्युक्त मंत्र के 'पचता प्रत्यग्रभीत्' का अर्थ यह होगा— और, घी में पके हुए भोज्य पदार्थ तथा पुरोडाश—इन दोनों पक्व पदार्थों को ग्रहण कर। एवं, इस अर्थ में (मेदसः पशोः च सात्वं द्विवचनम्) घी से बने पदार्थ और पुराडाश—इन दोनों का द्रव्य-विषयक द्विवचन है।

'पशुर्वै पुरोडाशः' आदि ब्राह्मण-वचनों में पशु शब्द पुरोडाश के लिये प्रयुक्त किया गया है, और प्रकरण के अनुसार भी यही अर्थ करना उचित जान पड़ता है। 'छाग' का निर्वचन स्वामी दयानन्द ने यह किया है—'छ्यन्ति छिनत्ति रोगान् येन तम् छागम्'। 'छो' छेदने का 'क्त' में 'छान' रूप बनता है, अतः 'छानरोग' का संक्षिप्त रूप 'छाग' है। सूपस्था=सूपस्थः, 'सुपां सुलुक्' से 'आ। पाली में इसी अर्थ में उपट्ठाक (उपस्थाक) प्रयुक्त होता है।

अब 'पचतः' के मंत्र को देखिए—

पुरोडा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा परिष्कृतः।
तं जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ३.२८.२

देवता—अग्निः। (यविष्ठ्य अग्ने ! पचतः पुरोडाः) हे युवा-समान बलिष्ठ विद्वान् ! पकाया हुआ पुरोडाश (तुभ्यं परिष्कृतः) आपके लिए संस्कृत किया गया है, (तं जुषस्व) उसका सेवन कीजिये।

६६. शुरुधः
६७. अमिनः

शुरुध आपो भवन्ति, शुचं संरुन्धन्ति। 'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः' इत्यपि निगमो भवति। अमिनोऽमितमात्रो महान् भवति, अभ्यमितो वा। 'अमिनः सहोभिः' इत्यपि निगमो भवति।

शुरुध् = जल, यह शुच् अर्थात् दीप्ति और शोक को रोकता है। मेघों के घिरने पर किस प्रकार अन्धेरा होजाता है, यह सभी देखते ही हैं। 'ऋतस्य हि शुरुधः' आदि मंत्र की व्याख्या आगे (५०. ४१) करेंगे।

अमिन—(क) अमित-अमिन, अर्थात् महान्। **(ख)** अहिंसित,

दुराधर्ष। नञ्+'मीञ्' हिंसायाम्+क्त।

महाँ इन्द्रो नृवदाचर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत॥ ६.१९.१

देवता—इन्द्रः (महान्, नृवत्, आचर्षणिप्राः) बड़ा, नायक, राजा की तरह सर्वत्र मनुष्यों की पालना करने वाला, (उत द्विबर्हाः, सहोभिः अमिनः) और द्युलोक तथा अन्तरिक्ष–दोनों स्थानों में अपनी रश्मियों के द्वारा फैला हुआ, स्वकीय तेज के कारण दुरधर्ष, (अस्मद्र्यक्) और हमें प्राप्त होने वाला (इन्द्रः वीर्याय वावृधे) सूर्य हमें बल प्रदान करने के लिए बढ़ रहा है। (उरुः, पृथुः, कर्तृभिः सुकृतः भूत) यह अन्धकार–निवारक और विस्तृत सूर्य कर्मकर्ता मनुष्यों से सुकृत हो। अर्थात्, सूर्योदय होने पर प्रतिक्षण मनुष्यों को उत्तमोत्तम कर्म करने चाहिएं जिस से कि सूर्य का निर्माण सफल हो।

६८. जज्झतीः जज्झतीरापो भवन्ति शब्दकारिण्यः। 'मरुतो जज्झतीरिव' इत्यपि निगमो भवति।

जज्झतीः = जल, नदी नालों में बहने वाले, या वृष्टि के जल का शब्द झज्झ जज्झ होता है, अतः उसे जज्झती कहा गया। 'जज्झतीः' में 'जस्' को पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होगया है।

आ रुक्मैरायुधा नर ऋष्वा ऋष्टीरसृक्षत। अन्वेनाँ अह
विद्युतो मरुतो जज्झतीरिव भानुरर्त्त त्मना दिवः॥ ५.५२.६

देवता—मरुतः। (ऋष्वाः नरः!) हे वड़े मनुष्यो! (रुक्मैः आयुधा ऋष्टीः) अपने प्रतापों से शस्त्र और अस्त्रों का (आ असृक्षत) निर्माण करो। (जज्झतीः इव) और जल की तरह (विद्युतः, मरुतः, दिवः भानुः) विद्युत्, वायुएं, और सूर्य का प्रकाश—(एनान् अह अनु अर्त्त) इन सबको अपने अनुकूल उपयोग में लावो। अर्त्त='ऋच्छ' गतौ।

६९. अप्रतिष्कुतः अप्रतिष्कुतोऽप्रतिष्कृतः, अप्रतिस्खलितो वा। 'अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः' इत्यपि निगमो भवति।

अप्रतिष्कुत—(क) अप्रतिष्कृत। जिस के उपकारों का प्रतीकार न हो सके उसे अप्रतिष्कुत कहते हैं। (ख) अप्रतिस्खलित=कभी भी स्खलित न होने वाला। अप्रतिस्खलित–अप्रतिष्कुत।

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपावृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ १.७.६

देवता—इन्द्रः । (नः वृषन् सत्रादावन् !) हमारे लिये सुख की वर्षा करने वाले सत्यज्ञान-प्रदाता परमेश्वर ! (अप्रतिष्कुतः) आपके महान् उपकारों का प्रतीकार किसी तरह भी नहीं हो सकता, अतः आप अप्रतिकुत हो, और आप के कार्यों में किसी तरह की भी त्रुटि नहीं पायी जाती, अतः आप अप्रतिस्खलित हो । (सः अस्मभ्यं अमुं चरुं अपावृधि) वह आप हमारे लिये उस सत्यज्ञान के ढकने को खोल दीजिए ।

इसी भाव का ईशोपनिषद् में 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये—इन शब्दों में प्रतिपादन किया है । सत्र = सत्य (निघण्टु) ।

७०. शाशदानः — शाशदानः शाशाद्यमानः । प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः' इत्यपि निगमो भवति ।।७।१६ ।।

शाशदान = शाशाद्यमान = बार बार दमन करता हुआ । यङ्लुगन्त 'शद्लृ' शातने से 'शानच्' ।

अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून्वि तिग्मेन वृषभेणा पुरः भेत् ।
सं वज्रेणासृजद्वृत्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः ॥ १.३३.१३

देवता—इन्द्रः । (अस्य सिध्मः शत्रून् अभ्यजिगात्) इस राजा का सधा हुआ सैन्यसमूह शत्रुओं पर आक्रमण करता है, (तिग्मेन वृषभेण पुरः वि अभेत्) तीक्ष्ण पराक्रम से शत्रु-दुर्गों को तोड़ता है, (वज्रेण वृत्रं समसृजत्) । और वज्र से पापी शत्रु को संयुक्त करता है । (शाशदानः इन्द्रः स्वां मतिं प्रातिरत्) एवं, बार बार शत्रु का दमन करता हुआ राजा अपनी रीति नीति को फैलाता है ॥ ७ । १६ ॥

* चतुर्थ पाद *

७१. सृप्रः
७२. सुशिप्रः

सृप्रः सर्पणात् । इदमपीतरत् सृप्रमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा । 'सृप्रकरस्नमूतये' इत्यपि निगमो भवति । करस्नौ बाहू ; कर्मणां प्रस्नातारौ । सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम् । 'वाजे सुशिप्र गोमति' इत्यपि

निगमो भवति। शिप्रे हनू नासिके वा । हनुर्हन्तेः, नासिका नसतेः। 'विष्यस्व शिप्रे विसृजस्व धेने' इत्यपि निगमो भवति। धेना दधातेः।

सृप्र=सर्पित, 'सृप्' धातु से 'रक्'। घी या तैल का वाचक 'सृप्र' शब्द भी इसी धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि ये द्रव होने से बहने वाले हैं। संपूर्ण मंत्र की व्याख्या ६.१३ में देखिए। करस्नौ=भुजाएं, ये कर्मों को ठीक तौर पर करती है।

सुशिप्र=सर्वत्र फैला हुआ, सु सृप्' रक्। अथवा, सु+शिप्र=सुशिप्र। 'वाजे सुशिप्र गोमति' के संपूर्ण मंत्र की व्याख्या ३६३ पृ० पर और 'सुशिप्र' की विशेष व्याख्या ३२६ पृ० पर देखिए।

हनु=कपोल, जबाड़ा। कपोलों पर थप्पड़ मारा जाता है, और जबाड़ों से चबाया जाता है। नासिका—'नस' धातु यास्काचार्य ने प्राप्त्यर्थक मानी है, (७.१७ ख०) उस से 'एवुल्' प्रत्यय। यह गन्ध को ग्रहण करती है।

उपर्युक्त अर्थ में 'शिप्रे' शब्द निम्न मंत्र में प्रयुक्त है—

मादयस्य हरिभिर्ये त इन्द्र विष्यस्व शिप्रे विसृजस्व धेने। आ त्वा सुशिप्र हरयो वहन्तूशन्हव्यानि प्रति नो जुषस्व॥ १.१०१.१०

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र ये ते) हे राजन्! जो तेरी विषयापहारिणी इन्द्रियें हैं, (हरिभिः मादयस्व) उन इन्द्रियों से प्रसन्नता-लाभ कर। (शिप्रे विष्यस्व) जबाड़ों को भलीप्रकार चबाने के लिये और नासिकाओं को शुद्ध वायु के लिये लगा। (धेने विसृजस्व) एवं, वाणी को उत्तम भाषण के लिये और सात्विक भोजन के खाने के लिये प्रयुक्त कर। (सुशिप्र) हे मुकुटधारिन्! (हरयः त्वा आवहन्तु) इस प्रकार इन्द्रियें तुझे सुख पहुंचावें। (उशन् नः हव्यानि प्रतिजुषस्व) और तू अभिलाषी होता हुआ हमारे पदार्थों का सेवन कर।

'धेना' निघण्टु में वाणीवाचक पठित है, और बृहदारण्यक उपनिषद् ने सप्तर्षि-प्रकरण में भोजन तथा वचन—इन दो कर्मों के भेद से दो वाणिएं मानकर आठ ऋषि भी बतलाये हैं।

७३. रंसु

रंसु रमणीयेषु, रमणात्। 'स चित्रेण चिकिते रंसु भासा' इत्यपि निगमो भवति।

रंसु=रमणीयेषु, रम् क्विप् सुप्।

आ यन्मे अभ्वं वनदः पनन्तोशिग्भ्यो नामिमीत वर्णम्।
स चित्रेण चिकिते रंसु भासा जुजुर्वान्यो मुहुरा युवा भूत्॥२.४.५

देवता—अग्निः। (वनदः ! यत् मे अभ्वं आपनन्त) हे प्रशस्त पदार्थों के दाता मनुष्यो ! यतः तुम मेरे से उपदिष्ट कर्मों में स्थित रहते हुए अपने से बड़े विद्वान् का सत्कार करते हो, (उशिग्भ्यः वर्णं न अमिमीत) अतः वह विद्वान् तुम इच्छुकों के वर को नहीं टालता। (यः जुजुर्वान्) और जो जीर्णावस्था को प्राप्त करता हुआ (मुहुः आ युवा भूत) फिर भी युवा की तरह पुरुषार्थी होता है, (सः चित्रेण भासा रंसु चिकिते) वह विद्वान् अद्भुत तेज के साथ रमणीय स्थानों में निवास करता है।

वनं वामं तस्य दातारः वनदः। चिकिते—'कित' निवासे।

७४. द्विबर्हाः — **द्विबर्हा द्वयोः स्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थान उत्तमे च। 'उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः' इत्यपि निगमो भवति।**

द्वयोः स्थानयोः परिवृढः द्विबर्हाः, जो अन्तरिक्ष और द्युलोक-इन दोनों स्थानों में बढ़ा हुआ हो, फैला हुआ हो उसे 'द्विबर्हस्' कहेंगे। 'द्वि' पूर्वक 'बृह' धातु से 'असुन्'। संपूर्ण मंत्र की व्याख्या ६.६७ में देखिए।

७५. अक्रः — **अक्र आक्रमणात्। 'अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्' इत्यपि निगमो भवति।**

अक्र=प्राकार, दुर्ग। युद्ध-काल में शत्रु इन पर आक्रमण करता है, आ क्रम् ड।

अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनां दिदृक्षेयः सूनवे भाऋजीकः।
उदुस्रिया जनिता यो जजानापां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः॥ ३.१.१२

देवता--अग्निः। (यः अग्निः जनिता उस्रिया उत् जजान) जिस विद्वान् पिता ने तेजस्विता को उत्पन्न किया है, (अपां गर्भः, नृतमः, यह्वः) जो सन्तानों को गर्भ की न्याईं धारण करने वाला पुरुषश्रेष्ठ और गुणों से महान् है, (सूनवे दिदृक्षेयः भाऋजीकः) और जो पुत्र के लिए दर्शनीय तथा विद्यार्दीप्ति को प्राप्त कराने वाला है, (महीनां समिथे) वह सेनाओं के संग्राम में (अक्रः न बभ्रिः) दुर्ग के समान सन्तानों का धारण पोषण करने वाला होता है।

७६. उराणः

उराण उरु कुर्वाणः । 'दूत ईयसे प्र दिवः उराणः' इत्यपि निगमो भवति ।

उराणः = उरु कुर्वाणः = बहुकर्मा । उरुकुर्वाण—उराण ।

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी सञ्चिकित्वान् ।
दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि ॥ ४.७.८

देवता—अग्निः । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (अध्वरस्य दूत्यानि वे·) आप यज्ञ के अनर्थ-निवारक कर्मों को जानते हो, (उभे रोदसी अन्तः विद्वान्) और दोनों द्यावापृथिवियों तथा दोनों के अन्तराल अन्तरिक्ष को जानते हो, (संचिकित्वान्) अतः, आप सर्वज्ञ हो । (दूतः, प्रदिवः, विदुष्टरः) अनर्थ-निवारक, सनातन, विश्वकर्मा और विद्वानों को तराने वाले आप (दिवः आरोध-नानि ईयसे) द्युलोक को नियम में रखने वाले कर्मों को प्राप्त किये हुए हो ।

७७. स्तियानाम्

स्तिया आपो भवन्ति, स्त्यायनात् । 'वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्' इत्यपि निगमो भवति ।

स्तिया = जल, संघातार्थक 'स्त्यै' धातु से 'विच्' प्रत्यय । स्त्या—स्तिया । जल में संसक्ति का गुण विशेष पाया जाता है ।

वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषभः सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् ।
वृष्णे त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय ॥ ६.४४.२१

देवता—इन्द्रः । (दिवः वृषा असि) हे विद्वान् ! तू सूर्य का वर्षक है (पृथिव्या वृषभः) पृथिवी का वर्षक है, (सिन्धूनां वृषभः) नदों तथा समुद्रों का वर्षक है, (स्तियानां वृषभः) और जलों का वर्षक है । (वृषभ ! ते वृष्णे वराय) हे वृष्टिकर्ता ! तेरे बलवान् और श्रेष्ठ के लिये (स्वादुः मधुपेयः इन्द्रः रसः) स्वादु, और मधुसमान पेय ऐश्वर्य-रस (पीपाय) सदा बढ़ता है ।

अर्थात्, जो मनुष्य पृथिव्यादिकों की विद्या को जानकर उन से उपयोग लेता हुआ उन्हें दोहता है, वह ऐश्वर्यशाली बनता है ।

७८. स्तिपाः

स्तिपाः स्तियापालनः, उपस्थितान् पालयतीति वा । 'स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः' इत्यपि

निगमो भवति ।

स्तिपा = (क) स्तियापालन = जलरक्षक समुद्र आदि । स्तियापालन— स्तिपा । (ख) उपस्थितों का पालक, उपस्थितपालन—स्थिपा—स्तिपा ।

यं त्वा पूर्वमीडितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व ।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे ॥१०.६९.४

देवता—अग्निः । (अग्ने ! यं त्वा ईड़ितः वध्यश्वः) हे राजन् ! जिस तुझ को पूजित जितेन्द्रिय गुरु ने (पूर्वं समीधे) पहले ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या से प्रकाशित किया है, (स इदं जुषस्व) वह तू इस राष्ट्र का सेवन कर । (सः नः स्तिपाः) और वह तू समुद्रादिक की तरह पालना करने वाला या न्यस्य के लिये उपस्थितों का रक्षक, (उत तनूपाः भव) और हमारे शरीरों की रक्षा करने वाला हो । (यत् इदं अस्मे दात्रं ते) और जो यह हमारा राष्ट्र रूपी दान तुझे दिया गया है, (रक्षस्व) उसकी रक्षा कर ।

७६. जबारु — **जबारु जवमानरोहि, जरमाणरोहि, गरमाणरोहीति वा । 'अग्रे रुप आरुपितं जबारु' इत्यपि निगमो भवति ।**

जबारु—(क) वेग से युक्त होकर आरूढ़, जव आ रुह् । (ख) निर्बलता तथा रोग आदिकों को नष्ट करता हुआ आरूढ, जॄ आ रुह् । (ग) रोग आदिकों को निगलता हुआ आरूढ, गॄ आ रुह ।

निम्न लिलिखित मंत्र में 'जबारु' शब्द ऊर्ध्वरेतस और आदित्यमण्डल के लिए प्रयुक्त है । दोनों अर्थों में उपर्युक्त तीनों निर्वचन संगत होते हैं ।

तमिन्न्वेव समाना समानमभि क्रत्वा पुनती धीतिरश्याः ।
ससस्य चर्मन्नधि चारु पृश्नेरग्रे रुप आरुपितं जबारु ॥ ४.५.७

(तम् नु एव समानं) उसी समान गुणकर्मों वाले पति को (समानम् क्रत्वा पुनती, धीतिः) समान गुण कर्मों वाली कन्या तू कर्म से अपने आप को पवित्र करती हुई और बुद्धिमती होती हुई (अभि अश्याः) प्राप्त कर, (ससस्य इत् चर्मन् अधि) जिस सोते हुए के भी शरीर पर (चारु जबारु आरुपितं) सुन्दर ऊर्ध्वरेतस्त्व आरोपित हो, अर्थात् उसका वीर्य ऐसा ऊर्ध्वस्तम्भित हो कि स्वप्नावस्था में भी, उस के शरीर पर नूर चमके,

स्वप्नदोष कभी न हो । (पृश्नेः अग्रे रूपः) जैसे द्युलोक में आरोपण-कर्ता परमात्मा का आदित्यमण्डल आरोपित है, एवं वीर्य उस के शरीर में ऊपर स्तम्भित हो ।

८०. जरूथम्

जरूथं गरूथं गृणातेः । 'जरूथं हन्यच्चि राये पुरन्धिम्' इत्यपि निगमो भवति ।

जरूथ = गरूथ = स्तुति या स्तोत्र । 'जॄ' धातु स्तुति अर्थ में वेद में ही प्रयुक्त होती है, उस से भाव या करण में 'ऊथञ्' प्रत्यय ।

त्वामग्ने समिधानो वसिष्ठो जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम् ।

पुरुणीथा जातवेदो जरस्व युयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७.९.६

देवता—अग्निः । (अग्ने समिधानः वसिष्ठः) हे हमारे नायक विद्वान् ! विद्या-ज्योति को प्रदीप्त करता हुआ धनाढ्य मनुष्य (त्वां पुरन्धिं) बहुत बुद्धि वाले आप के प्रति (जरूथं हन्) आदरभाव को पहुंचाता हुआ (राये यक्षि) धर्म-धन की प्राप्ति के लिए आप की संगति करता है (जातवेदः पुरुणीथा जरस्व) हे मनुष्यमात्र को शिक्षा देने वाले विद्वान् ! धर्म-नीति के द्वारा हमारे दुःखों को दूर कीजिए, (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) और एवं आप सब विद्वान् लोग स्वस्ति-वचनों से सदा हमारी रक्षा कीजिए ।

हन् = गमयन् । पुरू नयति यया सा पुरुनीथा ।

८१. कुलिशः

कुलिश इति वज्रनाम कूलशातनो भवति । 'स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः' । स्कन्धो वृक्षस्य, समास्कन्नो भवति । अयमपीतरः स्कन्ध एतस्मादेव, आस्कन्नं काये । अहिः शयत उपपर्चनः पृथिव्याः ॥ १। १७ ॥

कुलिश = कुल्हाड़ा, इसका कूल अर्थात् किनारा तीक्ष्ण होने के कारण काटने वाला होता है । कूल शद् ड ।

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेन महता वधेन ।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ १.३२.५

देवता—इन्द्रः । (इन्द्रः महता वधेन वज्रेण) राजा बड़ा वध करने वाले खड्ग

से (वृत्रतरं वृत्रं व्यंसं अहञ्ञ्) जब अत्यन्त पापी शत्रु की गर्दन काट देता है, (कुलिशेन विवृक्णा स्कन्धांसि इव) तब कुल्हाड़े से काटे हुए वृक्ष-स्कन्धों की तरह (अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते) वह शत्रु पृथिवी का संपर्क करता हुआ, अर्थात् पृथिवी पर पड़ा हुआ सदा के लिए सो जाता है।

व्यंसं अहन् = स्कन्धों को अलग करके मारना, अर्थात् गर्दन काटना, इस से कन्धे सिर से पृथक् हो जाते हैं। स्कन्ध = वृक्ष का तना, कन्धा। यह वृक्ष पर या शरीर पर लगा हुआ होता है। 'स्कन्द' धातु से 'घ' प्रत्यय ॥ ११७ ॥

८२. तुञ्जः

तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः—

तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १.७.७

दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः।

तुञ्ज = दान, निघण्टु में 'तुजि' धातु दानार्थक पढ़ी गई है, उस से भाव में 'घञ्'।

देवता—इन्द्रः। (तुञ्जे तुञ्जे) दान दान पर (अस्य वज्रिणः ये उत्तरे स्तोमाः) इस पराक्रमी परमेश्वर के जो उत्तरोत्तर अनेक गुण हैं, (अस्य सुस्तुतिं न विन्धे) उन से मैं उस की स्तुति की समाप्ति नहीं पाता।

अर्थात् परमेश्वर ने हमें इतने असंख्य उत्तमोत्तम दान दिए हुए हैं कि हम उन दानों के कारण अपने दाता की स्तुति का पार नहीं पासकते।

सु = समाप्ति = पूर्णता। विन्धे = विन्दामि। 'वीर्यं वै वज्रः' इस वचन में शतपथ ने (७. ४.२.२४) वीर्य को वज्र कहा है।

८३. बर्हणा

बर्हणा परिबर्हणा। 'वृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः' इत्यपि निगमो भवति ॥ २ । १८ ॥

बर्हणा = ब्रह्म या जगन्नाशक। वृद्ध्यर्थक या हिंसार्थक 'वृह्' धातु से 'ल्युट्' और 'सु' की जगह 'आ' आदेश।

अर्चा दिवे बृहते शूष्यं वचः स्वक्षत्रं यस्य धृषतो धृषन्मनः। बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि षः॥१.५४.२

देवता—इन्द्रः । (दिवे बृहते शूष्यं वचः अर्च) हे मनुष्य ! तू सर्व-प्रकाशक महान् परमेश्वर के लिये वीर्यशाली वचन का उच्चारण कर । अर्थात् जब हम परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करें, तब हमारे वचन ऐसे वीर्यशाली हों कि हमारी कामनायें शीघ्र पूर्ण हो सकें । (यस्य धृषतः मनः स्वक्षत्रं धृषत्) जिस दुष्टमर्दन परमेश्वर का मन स्वयंज्योति और स्थिर है, (सः बृहच्छ्रवाः, असुरः) वह महायशस्वी, प्राणदाता, (बर्हणा) महा या संहारक (वृषभः) और श्रेष्ठ प्रभु (हरिभ्यां पुरः कृतः) धारण तथा सहरण गुणों से पुरस्कृत अर्थात् सर्वाग्रगामी है, (रथः हि) और वह निश्चय से सब का रमण-स्थान है ॥ २ । १८ ॥

८४. ततनुष्टिः

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह । अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥ ५.३४.४

घ्रंस इत्यहर्नाम, ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः । गोरूध उद्धततरं भवति, उपोन्नद्धमिति वा । स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते । स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति, भवत्यह द्योतनवान् । अपोहत्यपोहति शक्रस्तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतम् अलङ्करिष्णुमयज्वानं तनूशुभ्रं तनूशोभयितारं मघवा, यः कवासखो यस्य कूपूयाः सखायः ।

ततनुष्टिम् = तितनिषुम् = धर्मसन्तानादपेतम् अलङ्करिष्णुम् अयज्वानम्, जो विषय-भोग-प्रधान होने के कारण जिस किसी भी प्रकार से धन का विस्तार करना चाहता है, परन्तु धर्मानुष्ठान से रहित है, और धर्म कर्म से बचा है—ऐसा मानने वाला है, उस अयज्वा को ततनुष्टि कहा जाता है । भृशं तननं वष्टीति ततनुष्टिः, 'तनु' विस्तारे के यङ्लुगन्त 'ततन्' और 'वश' कान्तौ से क्विप् प्रत्यय । ततन् + वश् + क्विप् ।

देवता—इन्द्रः । (यः अस्मै घ्रंसे उत वा यः ऊधनि सोमं सुनोति) जो मनुष्य इस परमेश्वर के लिये दिन में और जो रात्रि में भक्ति-रस का संपादन करता है, (अह द्युमान् भवति) वह निश्चय से तेजस्वी होता है । (शक्रः

मघवा) परन्तु सर्वशक्तिमान् और ऐश्वर्यवान् प्रभु (ततनुष्टिं तनूशुभ्रं) धर्म कर्म से रहित धन कमाने वाले और सदा शरीर की सजावट में लगे रहने वाले नीच मनुष्य को (अपोहति अप) नष्ट करता है, अवश्य नष्ट करता है। (यः कवासखः) और, जो कुसङ्गति में रहने वाला है, उसे भी नष्ट करता है।

अंस=दिन, इस में सूर्य द्वारा रस ग्रसित किये जाते हैं। ग्रस+घञ्। ऊधस्=गाय का ऊध (क) यह उद्धततर, अर्थात् समीपवर्ती स्थान की अपेक्षा उद्गत,—उठा हुआ—होता है। उत् हन् असुन्, डिद्वाव। (ख) यह उदर के समीप बंधा हुआ होता है। उत् नह् असुन्,। यह उधस् दुग्ध–रस को देता है, और 'रात्रि' ओस–रस को प्रदान करती है, अतः इस रस–प्रदान की समानता से रात्रि को भी 'ऊधस्' कहा जाता है। दोनों 'अप' उपसर्ग दो बार 'ऊहति' क्रिया के साथ संयुक्त होकर 'अपोहति अपोहति' अर्थ को देते हैं। तनूशुभ्रम्=तनूशोभयितारम्। कवासखः—यस्य कपूयाः सखायः सः कवासखः, जिस के कुत्सित मित्र हों, उसे 'कवासख' कहा गया है।

८५. इलीबिशः

'न्यविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा विशृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः'। निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि। व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्णमिन्द्रः ॥ ३। १९॥

इलीविश=इलाबिलशयन—भूमि की बिल में रहने वाला, भूमि के अन्दर कोठरी बनाकर उस में रहने वाला। 'इलाबिलशयन' का संक्षिप्त रूप इलाबिश—इलीबिश है।

न्यविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः।
यावत्तरो मघवन्यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् ॥ १. ३३.१२

देवता—इन्द्रः। (इन्द्रः इलीबिशस्य दृढा न्यविध्यत्) राजा भूमि के अन्दर दुर्ग बनाकर रहने वाले शत्रुओं के दृढ दुर्गों को तोड़े, (शृङ्गिणं शुष्णं व्यभिनत्) और ऊंचा सिर उठाये हुए बलवान् शत्रु को कुचले। (मघवन्! यावत् तरः यावत् ओजः) ऐश्वर्यवान् राजन्! जितना तेरा शारीरिक बल है, और जितना आत्मिक बल है, (वज्रेण) उतने पराक्रम के साथ (पृतन्युं शत्रुं अवधीः) सेना के साथ चढ़ाई करने वाले शत्रु का हनन कर।

'वीर्यं वै वज्रः' (शतपथ)। नि अविध्यत्=निरविध्यत्। नि=निर् ॥ ३।१९॥

८६. कियेधाः

अस्मा इदु प्रभरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः। गोर्न पर्व विरदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥ १.६१.१२।

अस्मै प्रहर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रमीशानः, कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा। गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्येष्यन्नर्णांस्यपां चरणाय।

कियेधा—(क) कियद्धा, कितने एक गुणों को धारण करने वाला। (ख) क्रममाणधा, सर्वोपरि होता हुआ उनका धारण करने वाला। क्रम धा विच्।

देवता—इन्द्रः। (तूतुजानः ईशानः कियेधाः) हे राजन्! आशुकारी, भूमिपति और कितने एक गुणों को धारण करने वाले आप (अस्मै वृत्राय) इस दुष्ट शत्रु के लिये (इत् उ) शीघ्र (वज्रं प्रहर) खड्ग का प्रहार कीजिए। (तिरश्चा इष्यन्) और तिरछी चाल से जाते हुए, (अपां अर्णांसि चरध्यै गोः पर्व न) जैसे सूर्य अन्तरिक्षस्थ जलों की प्राप्ति के लिये मेघ के जोड़ों को तोड़ देता है, एवं शत्रु की संघशक्ति को (विरद) छिन्न भिन्न कीजिए।

तूतुजान=त्वरमाण। गोः=मेघस्य। इत् उ—तूर्णम्। इष्यन्—'इष' गतौ।

८७. भृमिः

भृमिर्भ्राम्यतेः। 'भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्' इत्यपि निगमो भवति।

भृमि—भ्रमणशील या भ्रामक। 'भ्रमु' धातु के संप्रसारणरूप 'भृम्' से 'इन्' प्रत्यय।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्। आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्॥ १.३१.१६

देवता—अग्निः। ('अग्ने! नः इमां शरणिं मीमृषः) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आप हमारी इस मृत्यु को परिमार्जित करो, (इमं अध्वानं, यम् दूरात् अगाम) और इस संसार-मार्ग को, जिसे हमने आप से दूर होकर प्राप्त किया है, हम से हटाओ। (आपिः, पिता, प्रमतिः) प्रभो! आप प्राप्त हो, हमारे पिता हो, प्रकृष्ट बुद्धि वाले हो, (सोम्यानां मर्त्यानां ऋषिकृत्) सौम्य जनों को तत्त्वदर्शी बनाने वाले हो, (भृमिः असि) और संपूर्ण ब्रह्माण्ड के भ्रामक हो।

८८. विष्पितः

विष्पितो विप्राप्तः । 'पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्' इत्यपि निगमो भवति ॥४।२०॥

विष्पित = विप्राप्त = दुःख, यह त्रिविध प्रकार से प्राप्त होता है।

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वाँसो अचेतसं नयन्ति ।
प्रवाजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥७.६०.७

देवता—मित्रावरुणौ। (इमे चिकित्वाँसः) ये मित्र वरुण तथा अर्यमा विद्वान् प्रज्ञावान् होते हुए (दिवः पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीलोक की विद्या को (अनिमिषा अचेतसं नयन्ति) निरन्तर अशिक्षित विद्यार्थी को प्राप्त कराते हैं। (प्रवाजे चित् नद्यः गाधं अस्ति) और, जैसे नदी-मार्ग पर जहां नदी का गाध स्थान होता है, जहां जल थोड़ा होता है, वहां से मनुष्यों को पार निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार हमारे जीवन-यात्रा के मार्ग में (नः अस्य विष्पितस्य पारं पर्षन्) हमें ये विद्वान् लोग इस दुःख से पार उतारें। संसार में दुःख सर्वत्र व्याप्त है, कहीं बहुत अधिक है, और कहीं कम। ये लोग न्यून दुःख की ओर से हमें पार करें ॥ ४ । २० ॥

८९. तुरीपम्

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुवारं पुरुत्मना । त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभानो अस्मयुः ॥ १. १४२. १०

तन्नस्तूर्णापि महत्सम्भृतमात्मना त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यत्वित्यस्मयुरस्मान् कामयमानः ।

तुरीपम् = तूर्णापि—शीघ्र प्राप्त होने वाला।

देवता—त्वष्टा। (अस्मयुः नाभानः त्वष्टा) हमें चाहने वाला अतितेजस्वी विद्या से प्रदीप्त गुरु (नः तुरीपं) हमें शीघ्र प्राप्त होने वाले (अद्भुतं, पुरुवारं तत्) महान् और सर्व मनुष्यों से वरणीय उस सत्यज्ञान को (पुरुत्मना) अनेक रूप से (राये पोषाय विष्यतु) धर्म-धन और सांसारिक-धन की पुष्टि के लिए प्रदान करे।

अद्भुतम् = महत्। निघण्टु में 'अद्भुत' शब्द महद्वाची पठित है। महान् पदार्थ सम्यक्तया धारण किया जाता है। सम् भृ डुभृञ्, सम्भृत—अद्भुत।

त्मना = आत्मना। राये = धनस्य।

९०. रास्पिनः

रास्पिनो रास्पी, रपतेर्वा, रसतेर्वा। 'रास्पिनस्यायोः' इत्यपि निगमो भवति।

रास्पिन, रास्पिन्—ये दोनों शब्दार्थक 'रप' या 'रस' धातु से निष्पन्न होते हैं। राप और रास का अर्थ है शब्द, उन से 'मतुप्' अर्थ में 'इनिङ्' या 'इनि' प्रत्यय। रापिन् —रास्पिन्, रासिन्—रास्पिन्, सुट् या पुट् का आगम। एवं रास्पिन के अर्थ वक्ता उपदेशक गुरु इत्यादि हैं।

उत त्या मे यशसा श्वेतनायै व्यन्ता पान्तौशिजो हुवध्यै।
प्र वो नपातमपां कृणुध्वं प्र मातरा रास्पिनस्यायोः॥ १.१२२.४

देवता—विश्वेदेवाः। (उत त्या यशसा, व्यन्ता, पान्ता) और वे यशस्वी, तत्त्वदर्शी, रक्षक (मातरा) और माता की तरह स्नेह करने वाले अध्यापक और उपदेशक (मे वः श्वेतनायै) मेरे और तुम्हारे लिये प्रदीप्त विद्या को (हुवध्यै) देने के लिये (प्र) प्रवृत्त हों। (औशिजः) हे विद्याभिलाषी मनुष्यो! (रास्पिनस्य आयोः) वक्ता मनुष्य की (अपां नपातं) सन्तानों का संरक्षण (प्रकृणुध्वम्) तुम भली प्रकार करो। एवं, यह मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे अध्यापकों तथा उपदेशकों की सन्तानों की पालना का भार अपने ऊपर लें, जिस से उन्हें इसके लिये किसी तरह की चिन्ता न करनी पड़े।

यशो ऽस्यास्तीति यशसः। श्वेतना = दीप्ति

६१. ऋञ्जतिः ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। 'आ व ऋञ्जसे ऊर्जां व्युष्टिषु' इत्यपि निगमो भवति।

'ऋञ्जु' धातु सजाने अर्थ में वेद में प्रयुक्त होती है। निम्न मंत्र में उसी का 'ऋञ्जसे' रूप है। ऋञ्ज् असुन्।

आ व ऋञ्जसे ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन। उभे यथा नो अहनी सचाभुवा सदः सदो वरिवस्यात उद्भिदा॥१०.७६.१

देवता—ग्रावाणः। (मरुतः! ऊर्जां व्युष्टिषु) हे स्तुत्य विद्वान् पुरुषो! बलदायिनी उषाओं के प्रादुर्भूत होने पर (ऋञ्जसे) हृदय-मन्दिर को सजाने के लिए (वः इन्द्रं रोदसी आ अनक्तन) आप परमेश्वर और द्युलोक तथा पृथिवी लोक को विद्या द्वारा प्रकाशित कीजिए, (यथा नः उभे अहनी) जिस से हमारे दोनों दिन रात (सचाभुवा) हमारे अनुकूल होते हुए (उद्भिदा) अपने आविर्भाव से (सदः सदः वरिवस्यातः) हमारे प्रत्येक गृह को सुपूजित करें।

अर्थात् विद्वान् लोग हमें परमेश्वर तथा उस की रचना का सत्यज्ञान प्राप्त करावें, जिस से हम प्रतिदिन उषाकाल के आने पर अपने हृदय-मन्दिर को ऐसा सजा सकें कि परमपिता जगदीश्वर के बैठने के योग्य बन सके, और फिर इस उपासना से हमारे दिन और रात्रि निर्विघ्न समाप्त होवें।

६२. ऋजुनीती ऋजुरित्यप्यस्य भवति। 'ऋजुनीती नो वरुणः' इत्यपि निगमो भवति।

सत्यवाचक 'ऋजु' शब्द भी इसी 'ऋञ्ज' धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि सत्य सदा सुसज्जित रहता है। ऋजुनीति = सत्यनीत्या।

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान।

अर्यमा देवैः सजोषाः॥ १. ९०.१

देवता—विश्वेदेवाः। (देवैः सजोषाः) देव इन्द्रियों से संयुक्त (वरुणः मित्रः अर्यमा विद्वान्) श्रेष्ठ, उपकारी और न्यायकारी विद्वान् (नः ऋतुनीती नयतु) हमें सत्यमार्ग से ले जाये।

६३. प्रतद्वसू प्रतद्वसू प्राप्तवसू। 'हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर' इत्यपि निगमो भवति॥ ५। २१॥

प्रतद्वसू = प्राप्तवसू। प्राप्त—प्रत—प्रतद्। प्राप्तं वसु येन सः प्राप्तवसुः।

इह त्या सधमाद्या युजानः सोमपीतये।

हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर॥ ८. १३.२७

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र! सधमाद्या प्रतद्वसू त्या हरी युजानः) हे राजन्! साथ रहकर आनन्द देने वाले और धनों को प्राप्त कराने वाले उन पालन तथा संहार के दोनों गुणों को अपने में युक्त करता हुआ तू (सोमपीतये अभिस्वर) शान्ति-रक्षण के लिये राष्ट्र में सर्वत्र विचर।

'हरि' शब्द 'हृ' और 'भृ' दोनों धातुओं से निष्पन्न होता है, अतः हरण तथा भरण के दो गुणों के कारण द्विवचन 'हरी' का प्रयोग किया है। अथवा **'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डयोः'** के अनुसार प्रभाव और प्रताप को 'हरी' कहा जा सकता है॥ ५। २१॥

६४. हिनोत हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्। ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ १०.३०.११

प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै, प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सननाय।

ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे, याज्ञे शकट इति वा। शकटं शकृदितं भवति, शनकैस्तकतीति वा, शब्देन तकतीति वा। श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यम् आपः' सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः।

हिनोत = हिनुत, वेद में 'उ' को गुण हो गया है। 'हि' गतौ वृद्धौ च।

देवता—आपः। (आपः! देवयज्या नः अध्वरं हिनोत) हे आप्त देवियो! तुम देवपूजा के लिये हमारे यज्ञ में आवो, (धनानां सनये ब्रह्म हिनोत) धनों के लाभ के लिये वेद को जानो, (ऋतस्य योगे ऊधः विष्यध्वम्) यज्ञ के संबन्ध में अज्ञानता को छोड़ो, अथवा यज्ञसंबन्धी शकट के जोड़ने में रात्रि का त्याग करो (अस्मभ्यं श्रुष्टीवरीः भूतन) और हमारे लिये सुखकारिणी बनो।

एवं, स्त्रियों को चाहिए कि वे यज्ञों में सम्मिलित हों, वेदों का अध्ययन करें, यज्ञविषयक अज्ञानताओं को दूर करें, यज्ञ के लिये सामग्री एकत्रित करने के लिये रात्रि के समय शकट न भेजें, और पति आदि संबन्धियों के लिये सदा सुखकारिणी बनें। कर्मकाण्ड-विषयक अज्ञानता से स्त्रियों को बचने के लिए विशेष सावधान किया गया है, अन्यथा वर्तमान भारत की तरह अनेक कुरीतियें, कुसंस्कार आदि चल पड़ते हैं।

देवयज्या = देवयज्यायै। सनये = सननाय = लाभाय। ऋत = यज्ञ, याज्ञ शकट। 'योग' के संबन्ध से यहां आचार्य ने 'ऋत' का अर्थ याज्ञ शकट किया है। **शकट**—(क) यह बैल के गोबर से युक्त होता है, शकृत् इत—शकट। कई पुस्तकों में 'शकृदटं भवति' पाठ है, शकृत् 'अट' गतौ। (ख) यह शनैः २ चलता है, शनैः तक—शतक—शकत—शकट। 'तक' धातु गत्यर्थक है। (ग) अथवा यह शब्द के साथ चलता है, शब्द करता हुआ चलता है। शब्द तक—शकट। श्रुष्टीवरीः = सुखवत्यः। श्रुष्टी = सुख, शान्ति। भूतन = भवत। ऊधस = रात्रि, अज्ञानता।

> ९५. चोष्कूयमाणः
> ९६. चोष्कूयते

'चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्'। ददिन्द्र बहु वननीयम्। 'एधमानद्विडुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्'। व्युदस्यति, एधमानाद्द्विष्टचसुन्वतः, सुन्वतोऽभ्यादधाति। उभयस्य राजा दिव्यस्य च पार्थिवस्य च। चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेः, चर्करीतवृत्तम्।

'स्कुञ्' धातु दान तथा व्युदसन (नाश) अर्थ में यहां मानी गई है। 'चोष्कूयमाणः' और चोष्कूयते—ये दोनों 'चोष्कूय' नामधातु के रूप हैं, और ये दोनों (चर्करीतवृत्तम्) यङन्त पद हैं। प्रथम मंत्र में 'चोष्कूय' दानार्थक है, और द्वितीय मंत्र में नाशार्थक।

नि सर्वसेन इषुधींरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि ।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्धः ॥ १.३३.३

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र ! अर्यः गाः समजति) हे राजन्! जैसे वैश्य गौओं को रखता है, (सर्वसेनः इषुधीन् न्यसक्त) वैसे तुम अश्वारोही, गजारोही, और पदाति, सब प्रकार की सेनाओं से युक्त होते हुए शस्त्रास्त्रों को रखिए, (यस्य वष्टि) जिस को तुम चाहते हो। (अधिप्रवृद्धः) और अठतालीस वर्ष के ब्रह्मचारी होते हुए (त्वं अस्मत् भूरि वामं चोष्कूयमाणः) तुम हमें अतिप्रशस्त न्याय को देने वाले बनो, (पणिः मा भूः) तथा वैश्य मत होवो।

एवं, इस मंत्र से संक्षेपतः ये बातें बतलायी गई हैं—(१) वैश्य का काम पशुपालन है। (२) राजा का धर्म राज्यप्रबन्ध है। (३) राजा बड़ा वृद्ध अर्थात् ४८ वर्ष का ब्रह्मचारी होना चाहिए! (४) और वह किसी तरह का व्यापार-कार्य न करे। वैश्य राजा के होने से प्रजा नष्ट होजाती है।

शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमन्यमतिनेनीयमानः। एधमानद्विड्
उभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान् ॥ ६.४७.१६

देवता—इन्द्रः (वीरः इन्द्रः) पराक्रमी परमेश्वर (उग्रं उग्रं दमायन्) प्रत्येक क्रूर मनुष्य का दमन करता है, (अन्यं अन्यं अतिनेनीयमानः) और प्रत्येक श्रेष्ठ मनुष्य को अत्यन्त सुख की ओर ले जाता है। (उभयस्य राजा) वह परमेश्वर पारलौकिक तथा सांसारिक, दोनों प्रकार के सुखों का राजा है। (एधमानद्विड्) यह पाप से बढ़ते हुओं का अहर्निश शत्रु होता हुआ (विशः) पाप में प्रविष्ट हुए मनुष्यों को (चोष्कूयते) नष्ट करता है, (मनुष्यान्) और अन्य श्रेष्ठजनों को धारण करता है—(शृण्वे) ऐसा मैं सुनता हूं।

एधमानान् अहः अहर्निशं द्वेष्टीति एधमानद्विट्। विशः = असुन्वतः, धर्मामृत-रस के न संपादन करने वालों को। मनुष्यान् = सुन्वतः।

६७. सुमत्

सुमत् स्वयमित्यर्थः। 'उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म'। उपप्रैतु मां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि

यज्ञेन—इत्याश्वमेधिको मंत्रः ।

'सुमत्' निपात 'स्वयम्' अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उपवीतपृष्ठः । अन्वेनं
विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥१.१६२.७

देवता—अश्वः । (मे मन्म अधायि) मेरा मन जिस का ध्यान करता है, (सुमत् उपप्रागात्) वह अभिलषित पदार्थ जिस राष्ट्र-यज्ञ से स्वयं प्राप्त होजाता है, (वीतपृष्ठः) सत्य ज्ञान की गहराई तक पहुंचने वाला विद्वान् (देवानां आशाः उप) जिस राष्ट्र-यज्ञ से देवजनों की आशाओं को प्राप्त करता, है (एनं अनु विप्राः ऋषयः मदन्ति) और जिस राष्ट्र-यज्ञ को पाकर ब्राह्मण ऋषि लोग प्रसन्न रहते हैं, (देवानां पुष्टे) देवजनों के परिपुष्ट उस राष्ट्र में (सुबन्धुं चकृम) सब के साथ बन्धुवत् उत्तम व्यवहार करने वाले मनुष्य को हम राजा बनाते हैं।

मंत्र के प्रकरण को दर्शाने के लिए आचार्य ने 'इत्याश्वमेधिको मंत्रः' लिखा है । 'राष्ट्रमश्वमेधः' (शत० १३.२.२.१६) 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' (तैत्ति० ३.८.९.४) इत्यादि ब्राह्मण-वचनों के अनुसार अश्वमेध-यज्ञ का अर्थ राष्ट्र है ।

अधायि=अध्यायि । मन्मन्=मनस् । वीतपृष्ठ—जो विद्वान् ऊपर २ के ज्ञान से परे हो, और उस तत्त्व की गहराई तक पहुंचने वाला हो, उसे वीतपृष्ठ कहेगें ।

६८. दिविष्टिषु

दिविष्टिषु दिव एषणेषु ।'स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु' । स्थूरः समाश्रितमात्रो महान् भवति । अणुरनुस्थवीयांसम्, उपसर्गो लुप्तनामकरणो यथा सम्प्रति । कुरुङ्गो राजा बभूव कुरुगमनाद्वा, कुलगमनाद्वा । कुरुः कृन्ततेः । क्रूरमित्यप्यस्य भवति । कुलं कुष्णातेर्विकुषितं भवति ।

दिविष्टि—दिवः इष्टिर्प्राप्तिर्यया सा दिविष्टिः ।

स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु । राज्ञस्त्वेषस्य
सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि ॥ ८.४.१९

देवता—कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः । (कुरुङ्गस्य त्वेषस्य सुभगस्य राज्ञः) शत्रुओं पर चढ़ाई करने वाले तेजस्वी और सौभाग्यवान् राजा के (दिविष्टिषु रातिषु)

तेजस्विता तथा प्रसन्नता प्राप्त कराने वाले दानों में से (सुर्वशेषु शतास्वं राधः स्थूरं अमन्महि) प्रजाजनों में दिए गये प्रचुर पराक्रम-धन को हम बड़ा दान समझते हैं। अर्थात्, यदि राजा के उत्तम शासन से प्रजा में तेजस्विता ओजस्विता और साहसिकता के गुण आ जावें, तो समझना चाहिए कि राजा का यह दान सर्वश्रेष्ठ है।

'वीर्यं वा अश्वः' (शत० २. १. ४.२३) 'क्षत्रं वा अश्वः' (शत० ६. ४.४.१२) आदि वचनों में ब्राह्मण ने 'अश्व' का अर्थ पराक्रम किया है। **स्थूर** = बड़ा, महाश् पदार्थ समाश्रितमात्र, अर्थात् इकट्ठे आश्रय लिए हुए अवयवों वाला होता है, उसमें अनेक अवयव स्थित होते हैं। 'स्था' धातु से 'उरन्' प्रत्यय (उणा० ५.४)। **अणु** = सूक्ष्म, छोटा। स्थवीयांसम् अनु विद्यते इति अणुः, छोटा सदा मोटे के आधीन रहता है 'अनु' उपसर्ग से 'क्विप् प्रत्यय, जिसका लोप होगया है और नकार को 'ण'। इसी तरह 'सम् प्रति' उपसर्गों से 'अण्' करने पर 'साम्प्रतम्' की सिद्धि होती है।

कुरुङ्ग—राजा, कुरून् क्रूरान् शत्रून् गच्छतीति कुरुङ्गः, कुरून् गम् ड। अथवा, कुलं शत्रुकुलं प्रति गच्छतीति कुरुङ्गः, कुलम् गम् ड = कुलङ्ग—कुरुङ्ग। 'बभूव' प्रयोग के बारे में २५१ पृष्ठ देखिए। कुरु—'कृती' छेदने से 'उ' प्रत्यय और 'त' का लोप। क्रूर—'कृती' के संप्रसारणरूप 'क्रती' से 'उरन्' और डिद्भाव। कुल—'कुष' निष्कर्षे से 'क्ल' प्रत्यय और 'ष' का लोप। कुल बिखरा हुआ होता है।

९९. दूतः १००. जिन्वति

दूतो व्याख्यातः।

जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। 'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः' इत्यपि निगमो भवति ॥ ६।२२ ॥

दूत की व्याख्या कर चुके हैं (५ अ० ३ ख०)।

निघण्टु में दो स्थानों पर 'दूत' पढ़ा हुआ है, यह क्यों ? यह चिन्तनीय है। मैं समझता हूं शायद प्रथम स्थल पर (५.३) इस का पाठ नहीं होगा, 'वाहिष्ठः' के साथ उसी एक मंत्र में 'दूतः' का भी पाठ होने से किसी लेखक ने उसी स्थल पर तीसरा शब्द 'दूतः' मान लिया हो, और 'तूतुम्' तथा 'आकृषे'-इन दो पदों को एक मान कर (५. ७४) ८४ पदों की संख्या पूर्ण करली गई हो।

'जिवि' धातु प्रीणन या तर्पणार्थक है। 'भूमिं पर्जन्याः' के संपूर्ण मंत्र की व्याख्या आगे (७ अ० २३ ख०) करेंगे ॥ ६।२२ ॥

* पञ्चम पाद *

१०१. अमत्रः अमत्रो ऽमात्रो महान् भवति, अभ्यमितो वा। 'महाँ अमत्रो वृजने विरप्शि' इत्यपि निगमो भवति।

अमत्र = (क) अमात्र = महान्। (ख) अभ्यमित, अर्थात् अहिंसित दुराधर्ष. नञ् 'मीञ' हिंसायाम् त्रन्।

महाँ अमत्रो वृजने विरप्श्युग्रं शवः पत्यते धृष्ण्वोजः। नाह विव्याच पृथिवीचनैनं यत्सोमासो हर्यश्वममन्दन्॥ ३.३६.४

देवता—इन्द्रः। (महान्, अमत्रः, विरप्शी) पूजा के योग्य, दुराधर्ष और दुष्टों को रुलाने वाला राजा (वृजने उग्रं शवः, धृष्णु ओजः पत्यते) युद्ध में उग्र बल और प्रचण्ड पराक्रम को प्राप्त करता है। (यत् च हर्यश्वं सोमासः अमन्दन्) और यतः, उपर्युक्त बल पराक्रम रूपी 'हरि' नामक वीर्य से युक्त राजा को सब प्रकार के ऐश्वर्य प्रसन्न रखते हैं, अतः (एनं पृथिवीचन न अह विव्याच) इसको संपूर्ण पृथिवी में स्थित कोई भी नहीं छल सकता।

ऋषि दयानन्द अपने वेदभाष्य में स्थान २ पर जो 'हरी' का अर्थ बल पराक्रम करते हैं, उसका स्पष्टीकरण इस मंत्र से होता है।

'व्यच' व्याजीकरणे। पत्यते—यहां व्यत्यय से 'श्यन्' है।)

१०२. ऋचीषमः 'स्तवे वज्र्यृचीषमः'। 'स्तूयते' वज्री ऋचासमः।

ऋचीषम = ऋचासम। ऋचया समः ऋचासमः, जो स्तुति के अनुरूप हो, अथवा ऋचा के समान अर्थ-प्रकाशक हो, उसे ऋचीषम कहा जावेगा।

इह श्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य स्तवे वज्र्यृचीषमः।
मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या॥ १०.२२.२

देवता—इन्द्रः। (आ यः मित्रः न जनेषु असामि यशः आचक्रे) और जो विद्वान् मित्र की तरह मनुष्यों में पूर्ण यश को स्थापित करता है, (इह श्रुतः वज्री ऋचीषमः इन्द्रः) वह राष्ट्र में प्रख्यात, वीर्यवान और स्तुति के अनुरूप विद्वान् (अद्य अस्मे स्तवे) सर्वदा हमारे से प्रशंसित किया जाता है।

स्तवे = स्तूयते।

१०३. अनर्शरातिम्

अनर्शरातिमनश्लीलदानम् । अश्लीलं पापकम्, अश्रिमद्वा विषमम् । 'अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि' इत्यपि निगमो भवति ।

अनर्शराति = अनश्लीलदान—जिस का दान अविल है, श्री को हरण करने वाला नहीं, प्रत्युत कान्ति को बढाने वाला है, उस पुण्यदाता को अनर्शराति कहेंगे । अर्श = अश्लील = पापयुक्त, 'नञ्' पूर्वक 'श्रिञ्' सेवायाम् से 'अ' प्रत्यय और 'इ' का लोप, अश्र—अर्श । अश्लील = अश्रिमत्—विषम । 'अश्रि' का अर्थ है तीक्ष्ण धार, उससे जो युक्त हो, उसे 'अश्रिमत्' कहा जावेगा । जैसे खड्ग की तीक्ष्ण धार दूसरे को काट डालती है, एवं पाप मनुष्य का नाश कर देता है । 'अश्रि' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय, अश्रिर—अश्लील ।

अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः । यो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥ ८.९९.४

देवता—इन्द्रः । (अनर्शरातिं वसुदां उपस्तुहि) हे मनुष्य ! तू पुण्यदान देने वाले धनदाता भगवान् की स्तुति कर । (इन्द्रस्य रातयः भद्राः) इस परमेश्वर के दान कल्याणकारक ही हैं । (सः दानाय मनः चोदयन्) और वह परमेश्वर विशेष वरदान के लिये इच्छा रखता हुआ (अस्य विधतः कामं न रोषति) इस अपने सेवक भक्त की कामना को अपूर्ण नहीं करता ।

१०४. अनर्वा

अनर्वाऽप्रत्यृतोऽन्यस्मिन् । 'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्द्धया नव्यमर्कैः' । अनर्वम् अप्रत्यृतमन्यस्मिन् वृषभं मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वं मोदमानजिह्वमिति वा, बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैरर्चनीयैः स्तोमैः ।

अनर्वन्, अनर्व = स्वतन्त्र, स्वाश्रय, जो किसी अन्य के आधीन न हो । 'नञ् पूर्वक 'ऋ' गतौ से 'वनिप्' या 'व' प्रत्यय (देखिए २९९ पृ०) ।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः । गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्त्ताः ॥१.१९०.१

देवता—बृहस्पतिः । (यस्य गाथान्यः सुरुचः नवमानस्य) जिस वैदिक ज्ञान के प्रदाता, तेजस्वी और बहुमान्य विद्वान् के उपदेशों को (देवाः मर्त्ताः आशृण्वन्ति) दाता गृहस्थी लोग सदा सुनते हैं, (अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं)

हे गृहस्थ ! उस स्वाश्रय, श्रेष्ठ और प्रशंसित या आनन्दप्रद मधुर वाणी वाले (नव्यं बृहस्पतिं) स्तुत्य वेदज्ञ का (अर्कैः वर्धय) अन्नादिक से पोषण कर ।

गाथां वेदवाचं नयति प्रापयतीति गाथानीः । नवं नवं मानं यस्य सः नवमानः । देव—'दिव' धातु से 'इव' प्रत्यय (निरु० ७. १५) । अर्क=अर्चनीय स्तोम= श्रेष्ठ वचन, उत्तम भोज्य पदार्थ (देखिए ५.२४.अ०) । मन्द्रजिह्व—'मदि' धातु स्तुति तथा मोद, दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है, उस से 'रक्' प्रत्यय ।

१०५. असामि — असामि सामिप्रतिषिद्धम् । सामि स्यतेः । 'असाम्योजो बिभृथा सुदानवः' । असुसमाप्तं बलं बिभृत कल्याणदानाः ॥ १ । २३ ॥

सामि = समाप्त. असामि = असमाप्त = अनन्त, प्रचुर, । 'षो' अन्तकर्मणि से 'मि' प्रत्यय (उणा०४. ४३) ।

असाम्योजो बिभृथा सुदानवो ऽसामिधूतयः शवः ।
ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ॥ १.३९.१०

देवता—मरुतः । (सुदानवः धूतयः मरुतः ।) हे कल्याणदातर तथा शत्रुओं को कम्पायमान करने वाले मनुष्यो ! (असामि ओजः, असामि शवः बिभृयः) प्रभूत पराक्रम और प्रचुर बल को धारण करो । (परिमन्यवः) हे मन्यु-युक्त पुरुषो ! (ऋषिद्विषे) नास्तिक वेदनिन्दक या ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले राक्षस के लिये (इषुं न द्विषं सृजत) अप्रीतिरूपी इषु को फेंको । अर्थात्, उस मनुष्य से तुम प्रेम न करो प्रत्युत अपनी अत्यन्त नाराज़गी प्रकटित करो, वह दुर्जन स्वयमेव ठीक हो जावेगा ॥ १ । २३ ॥

१०६. गल्दया — मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा । भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥ ८.१.२०

मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहं गिरा गीत्या स्तुत्या, भूर्णिमिव मृगं न सवनेषु चुक्रुधम् । क ईशानं न याचिष्यत इति ।

गल्दा धमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते । 'आ त्वा विशन्त्विन्दव आगल्दा धमनीनाम्' । नानाविभक्ती त्वेते भवतः,

आगल्दा धमनीनामित्यत्रार्थः ॥ २ । २४ ॥

गल्दा—(क) गालन = आस्वादन आस्वादनार्थक 'गल' धातु से 'द' प्रत्यय और 'टाप्' । (ख) नाड़ी, ज्ञानतन्तु (Nerves) इन में गलन अर्थात् रस स्थापित किया जाता है । गलन धा-→गल्दा ।

देवता—इन्द्रः । (इन्द्र ! गिरा सदा याचन् अहं) हे परमेश्वर ! संगीति से सदा आप से वरदान की याचना करता हुआ मैं (सवनेषु सोमस्य गल्दया) यज्ञों में ऐश्वर्य के आस्वादन से (भूर्णिं) सब के धारण करने वाले आप को (मृगं न) सिंह के समान (मा चुक्रुधम्) क्रुद्ध न करूं । अर्थात् केवल प्रार्थनाओं से कुछ नहीं होगा, अपने आप को ऐश्वर्यशाली बनाते हुए ही प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए अन्यथा प्रार्थी पर जगदीश्वर का कोप अत्यधिक होता है । यदि ऐसा है तो प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—(कः ईशानं न याचिषत्) कौन अपने मालिक से याचना नहीं करता, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को जगदीश्वर से प्रार्थना करनी ही पड़ती है, अतः हमें अपने आप को प्रार्थनाओं के लिये अधिकारी बनाना चाहिए ।

गिरा = गीत्या = स्तुत्या ।

'गल्दा' को धमनिवाची सिद्ध करने के लिए जो यास्क ने 'आ त्वा विशन्तु' उदाहरण दिया है, वह पता नहीं कहां का है । दुर्गाचार्य को भी उसका पता नहीं लगा । ऋग्वेद (८.९२.२२) और सामवेद (पू०आ०३.१.१.४,उ०आ०८.२.२.१) में इसप्रकार मंत्र पाठ है—

आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः । न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥

अस्तु, यास्क द्वारा उद्धृत वचन का अर्थ देखिए । (धमनीनां आगल्दाः) नाड़ियों में जो ज्ञानतन्तु नाड़ियें हैं, उन में तुझे (इन्दवः आविशन्तु) रस प्राप्त हों ।

'गल्दाः' और 'धमनीनाम्'-ये दोनों भिन्न २ विभक्तियों के रूप हैं, अतः 'नाड़ियों में से ज्ञानतन्तु नासी नाड़ियें'—यह यहाँ अर्थ होगा ॥ २ । २४ ॥

१०७. जल्हवः

'न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः' ।
न पापा मन्यामहे,नाधनाः, न ज्वलनेन हीनाः ।
अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत् ॥३।२५॥

जल्हवः = ज्वलनेन हीनाः = अग्निहोत्रहीनाः । ज्वलनमग्निहोत्रं जहातीतिजल्हुः,

ज्वल् हा कु (उणा० १. ३७)।

न पापासो मनामहे नारायसो न जल्हवः।

यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥ ८.६१.११

देवता—इन्द्रः। परमेश्वर का साक्षात्कार करने वाला ऋषि कहता है—(न पापासः मनामहे) हम अपने आपको पापी नहीं समझते, (न अरायासः) न निर्धन हैं, (न जल्हवः) और न अग्निहोत्र से हीन हैं, प्रत्युत हमारे में ब्रह्मचर्य अध्ययन तप और दान आदि पुण्यकर्म विद्यमान हैं, और हम ऐश्वर्यवान् तथा आहिताग्नि हैं। (यत् इत्) इसी से हम (वृषणं इन्द्रं) बलवान् परमेश्वर को (सुते सचा सखायं) इस जन्म में साथ रहने वाला मित्र (नु कृणवामहै) शीघ्र बनाते हैं॥ ३। २५ ॥

१०८. बकुरः बकुरो भास्करो भयंकरो भासमानो द्रवतीति वा।

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।

अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ॥१.११७.२१

यवमिव वृकेनाश्विनौ निवपन्तौ। वृको लाङ्गलं भवति, विकर्त्तनात्। लाङ्गलम् लङ्गतेः, लांगुलवद्वा। लांगुलं लगतेः, लङ्गतेः, लम्बतेर्वा। अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयावभिधमन्तौ दस्युं बकुरेण ज्योतिषा वा, उदकेन वा, आर्य ईश्वरपुत्रः।

बकुर=ज्योति जल। (क) ज्योति प्रकाश करने वाली होती है, और जल प्राणी का जीवन होने से तेज-प्रदाता है, भास् कर—बकुर,। (ख) ताप और जल जब अपना रौद्ररूप धारण कर लेते हैं, तब ये ही भयङ्कर होते हैं। भयङ्कर—बकुर। (ग) ज्योति और जल दोनों भास्वान् होते हुए गति करते हैं। भास् द्रु अच्—भास् द्रुर—बकुर।

देवता—अश्विनौ। (दस्रा अश्विना) हे दर्शनीय राजा तथा राजपुरुषो! (यवं वृकेण/वपन्ता) तुम जौ की तरह हल के द्वारा, धान्यों बोते हुए (इषं दुहन्ता) और फिर अन्न को भरपूर पैदा करते हुए, (बकुरेण दस्युं अभिधमन्ता) तथा जैसे सूर्य अपनी प्रखर ज्योति से रोगों का नाश करता है या द्यावापृथिवी वर्षा-जल के द्वारा दुर्भिक्ष का विनाश करते हैं, एवं अपने प्रताप से दुष्टों का विध्वंस करते हुए (आर्याय मनुषाय) परमेश्वर के सुपुत्र श्रेष्ठ मनुष्य के लिये (उरु ज्योतिः चक्रथुः)

विस्तृत आनन्द-ज्योति का प्रकाश करे।

एवं, राजा का कर्त्तव्य है कि वह वैश्यों की रक्षा से कृषिकर्म को अत्युन्नत करे। और दुष्ट मनुष्यों को दण्ड देता हुआ आर्य लोगों के लिए राष्ट्र में आनन्द-ज्योति का प्रकाश करे।

वृक=लाङ्गल=हल, इस से भूमि को उखाड़ा जाता है, वि कृती छेदने। लाङ्गल—(क) गत्यर्थक 'लगि' धातु से 'कल' (उणा० १.१०८)। इसे चलाया जाता है। (ख) लांगूलवत्—लाङ्गल, यह पंछ वाला होता है। लांगूल-(क) 'लगे' संगे से 'उलच्'। पूंछ पीठ के नीचे लगी हुई होती है। (ख) 'लगि' से 'उलच्' (उणा० ४.९०)। पंछ बहुत हिलती है क्योंकि यह मच्छर आदिकों को हटाने के वास्ते बनाई गई है। (ग) लम्ब उलच्, यह लम्बी होती है। मनुष=मनुष्य। दस्र=दर्शनीय, 'दसि' धातु दर्शनार्थक भी है। आर्यः—ईश्वरपुत्रः अरिः ईश्वरस्तस्यापत्यम् आर्यः।

१०९. बेकनाटान् बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुणकारिणो वा, द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्त इति वा। 'इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि'। इन्द्रो यः सर्वान् बेकनाटान् अहर्दृशः सूर्यदृशः, यः इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा, अभिभवति कर्मणा, पणींश्च वणिजः॥४।२६॥

बेकनाट=कुसीदी=ब्याज लेने वाले व्यापारी। ये दुगना व्याज करते हैं, दुगने व्याज पर रुपये देते हैं, या दुगने व्याज की कामना करते हैं। 'नर' शब्द का निर्वचन यास्क ने 'नृतौ' नर्तने से किया है (देखिए ३०३ पृ०)। 'नट' धातु भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः 'नर' और 'नाट'–दोनों शब्द समानार्थक हुए। 'द्विगुण' का 'वि' और 'कृ' या 'कम्' का 'क' लेकर 'विक' बना। उसी का रूपान्तर 'बेक' है। उस के आगे नरवाची 'नाट' शब्द रखने से 'बेकनाट' सिद्ध होता है, जिस का शब्दार्थ है दुगना करने वाला या दुगना चाहने वाला मनुष्य। तीसरी सिद्धि 'द्विगुण' पूर्वक 'दा' धातु से की गई है, द्विगुणद–विकनद—बेकनाट।

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि॥ ८.६६.१०

देवता—इन्द्रः। (अस्य महीः अधृष्टाः तविषीः कत उ) इस राजा की बड़ी २

वीरसेनायें राष्ट्र के लिये सुखदायिनी हों। (वृत्रघ्नः अस्तृतं उ क्षत्र) और शत्रु-मर्दन राजा का अखण्ड बल भी सुखकारी हो। (इन्द्रः बेकनाटान्) और राजा दुगना ब्याज लेने वाले (उत अहर्दृशः) तथा वृष्टि के ही दिनों को देखने वाले (विश्वान् पणीन्) सब बनियों को (क्रत्वा अभि) न्यायकर्म के अनुसार दण्डित करे

'अहर्दृश' उन बनियों को कहते हैं जो सदा सूर्य को देखते रहते हैं कि अब वृष्टि न हो, वृष्टि यदि होगई तो अनाज सस्ता होजावेगा, और हम रुपये न कमा सकेंगे इत्यादि। अथवा, जो जिस किसी तरह भी—छल से, कपट से, धोखे से, या झूठ से—धन कमाने में लगे हुए हैं, और इसी जन्म का ध्यान रखते हैं, इस नीचवृत्ति के कारण परजन्म में किस प्रकार के दिन देखने पड़ेंगे, इसका तनिक भी विचार नहीं करते, वे 'अहर्दृश' कहलावेंगे।

एवं, इस मंत्र में इस प्रकार के अहर्दृशों और दुगना ब्याज लेने वाले वैश्यों के लिए राज-दण्ड की आज्ञा दी गई है। मनु ने 'कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता' (८. १५१) लिखते हुए दुगने ब्याज तक की आज्ञा दी है, परन्तु वेद दुगने ब्याज का सर्वथा निषेध करता है।

अहर् = सूर्य, दिन। अभि = अभिभवति ॥ ४ । २९ ॥

११०. अभिधेतन — जीवान्नो अभिधेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥ ८.६७.५

जीवतो नोऽभिधावतादित्याः पुरा हननात्, क नु स्थ ह्वानश्रुत इति।

मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते, माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा। जालं जलचरं भवति, जलेभवं वा, जलेशयं वा।

अभिधेतन = अभिधावत 'धेतन' में 'कुरुतन' की तरह 'न' का आगम है।

'जीवान्नो अभिधेतन' मंत्र का देवता 'आदित्याः' है। इस सूक्त (८.६७) में क्षत्रिय लोगों से राष्ट्र-रक्षा की प्रार्थना की गई है। प्रस्तुत मंत्र में मछिआरों से मछलियों की रक्षा करने का वर्णन है।

८.६७.१ में 'आदित्यान् क्षत्रियान्' कहा गया है, अतः ये आदित्य क्षत्रिय राज-पुरुष हैं। उन्हें मछलियें अपनी रक्षा के लिये पुकारती हैं

(हयनश्रुतः क्षत्रियासः !) हे प्रजा के सुख दुःख के कथन को सुनने वाले क्षत्रिय लोगो ! (क्व इह स्थ) आप कहां हो ? (अभिधेतन) दौड़िए, (हयात् पुरा नः जीवाय) मछियारे से मारे जाने के पूर्व ही हम जीवों की रक्षा कीजिए। एवं, इस मंत्र में मछलियों की भी रक्षा करना, राजपुरुषों का कर्तव्य बतलाया है, उन का भक्षण करना तो दूर रहा।

(एतत् आर्ष०) यह वेदवचन मछियारे के जाल में फंसी हुई मछलियों की उक्ति है—ऐसा वेदज्ञ बतलाते हैं। हय=हनन। हवन=ह्वान=पुकार। **मत्स्य—** (क) मछलियें मधु अर्थात् जल में विचरती हैं, मधु स्यन्द्। मधु=जल। (ख) अथवा, ये एक दूसरे के भक्षण के लिये प्रसन्न होती हैं। यह मात्स्य-न्याय लोक में बड़ा प्रसिद्ध ही है। मद्+भस्+य, 'भस्' धातु भक्षणार्थक है। **जाल—**'जल' शब्द से चरण, भव, या शयन अर्थ में 'अण्' प्रत्यय। यह जल में विचरता है, जल में होता है, या जल में रहता है।

१११. अंहुरः

अंहुरोंऽहस्वान्, अंहूरणमित्यप्यस्य भवति। 'कृण्वन्नंहूरणादुरु' इत्यपि निगमो भवति। 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात्'। सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुः, तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति—स्तेयं तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्यां, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यमिति ॥ ५ । २७ ॥

अंहुर अंहूरण और अंहस्वान्—ये तीनों शब्द पापी के वाचक हैं। अंहु और अंहस्—ये दोनों पापवाचक हैं (देखिए २९२पृ०)। 'अंहु' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' और 'उरण' प्रत्यय करने पर अंहुर तथा अंहूरण सिद्ध होते हैं। 'कृण्वन्नंहूरणादुरु' के संपूर्ण मंत्र की व्याख्या २५० पृ० पर देखिए। इस मंत्र में 'अंहूरण' शब्द प्रयुक्त है। अंहुर का प्रयोग निम्न मंत्र में है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ १०.५.६

देवता—अग्निः। (कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः) बुद्धिमानों ने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं, (तासां एकां इत् अभ्यगात्) उन में से जो कोई किसी एक भी मर्यादा को प्राप्त करता है, (अंहुरः) वह पापी कहलाता है। जो मनुष्य सातों

मर्यादाओं से वचता हुआ पाप का भागी नहीं बनता, वह (ह आयोः स्कम्भे) निश्चय से जीवन के स्तम्भ, (उपमस्य नीडे) उन्नतम शान्ति के धाम, (पथां विसर्गे) और जहां अनेक मार्गों की विसृष्टि नहीं, ऐसे सर्वाधार परमेश्वर में (धरुणेषु) तथा धारक शक्तियों में (तस्थौ) स्थित होता है।

वे सात मर्यादाएं, जिन से हमें सदा बचना चाहिए, यास्काचार्य ने इस प्रकार परिगणित की हैं—(१) स्तेय=चोरी। (२) तल्पारोहण=परस्त्री-गमन। (३) ब्रह्महत्या=वेदज्ञ ब्राह्मणों की हत्या। (४) भ्रूणहत्या=गर्भपात। (५) सुरापान—मद्यपान। (६) दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा=किसी बुरे काम को पुनः जानकर करना। (७) पातकेऽनृतोद्यम्=किसी पाप के छिपाने में झूठ बोलना॥ ५। २७॥

११२. बत

बत इति निपातः खेदानुकम्पयोः। बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयश्चाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥

बतो बलादतीतो भवति,दुर्बलो बतासि। यम नैव ते मनो हृदयञ्च विजानीमः। अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम्। लिबुजा व्रततिर्भवति, लीयते विभजन्तीति। व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च तननाच्च।

'बत' निपात खेद और अनुकम्पा अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'बत' नाम भी है, जिसका अर्थ दुर्बल है। बलात् अतीतः बतः, बलातीत—बत। एवं, जो बल से दूर गया हुआ है, बल से रहित है, उस दुर्बल को 'बत' कहा है।

'बतो बतासि' मंत्र (१०.१०.१३) यमयमी-सूक्त का है। इसकी व्याख्या दैवतकाण्ड के अन्त में यमयमी-सूक्त में करेंगे।

११३. वाताप्यम्

वाताप्यमुदकं भवति,वात एतदाप्याययति। 'पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम्' इत्यपि निगमो भवति।

वाताप्य=जल, वायु इसे बढ़ाती है। पुरोवात (मानसून) वायु के चलने पर वृष्टि होती है। वात आ प्यायी ड।

नू नो रयिमुपमास्व नृवन्तं पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् ।
प्र वन्दितुरिन्दो तार्यायुः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ ९.९३.५

देवता—पवमानः सोमः । (पुनानः) हे जगदुत्पादक प्रभो ! हमें पवित्र करते हुए आप (नः नृवन्तं रयिं) हमारे लिये प्रशस्त मनुष्यों से युक्त धन (विश्वश्चन्द्रं वाताप्यं) और सब के आह्लादक वृष्टिजल का (नु उपमास्व) शीघ्र निर्माण कीजिए । (इन्दो ! वन्दितुः आयुः प्रतारि) तेजस्विन् ! अपने भक्तकी आयु को बढ़ाइए । (धियावसुः प्रातः मक्षु जगम्यात्) इस आयुवृद्धि के लिये मनुष्य कर्मधनी और ज्ञानधनी होता हुआ प्रातःकाल शीघ्र जगदीश्वर की उपासना करे ।

११४. चाकन्

'वने न वायो न्यधायि चाकन्' । वन इव वायो वेः पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा । वेति च य इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् असुसमाप्तश्चार्थः ।

चाकन्, = चायन्, कामयमानः । 'चक' धातु निघण्टु में इच्छार्थक पठित है, उससे 'शतृ' में 'चकन्' रूप बनेगा, उसी का रूपान्तर 'चाकन्' है । चायन्—चाकन्, यहां 'य' को 'क' हो गया है (देखिए ४.१५. ग०) ।

वने न वायो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् ॥ १०.२९.१

देवता—इन्द्रः । (भुरणौ !) हे सब की पालना करने वाले या आशुकारी स्त्रीपुरुषो ! (चाकन् वायः/वने/न/न्यधायि) जैसे इतस्ततः देखने वाला या भोजनादिक की इच्छा रखने वाला पक्षि-शिशु किसी वन में रखा हुआ होता है, (शुचिः स्तोमः वां अजीगः) एवं, सुपर्ण परमेश्वर का पुत्र पवित्र वेद तुम्हें वन में स्थापित किया हुआ प्राप्त होता है, (यस्य नृणां नृतमः नर्यः) जिस वेद का, नायकों में श्रेष्ठतम नायक, मनुष्यों के लिये कल्याणकारी (क्षपावान् इन्द्रः इत्) और प्रलयरात्रि को करने वाला परमेश्वर ही (पुरुदिनेषु होता) बहुत दिनों के व्यतीत हो जाने पर प्रलय के पश्चात् प्रदाता है ।

एवं, इस मंत्र में 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है'—इसे बड़े सुन्दर शब्दों में दर्शाया गया है । और साथ ही 'उपह्वरे गिरीणाम्' के अनुसार यह भी बतलाया है कि वेद की प्राप्ति किसी जंगल में ही हो सकती है नगरों में नहीं ।

वायः = 'वि' अर्थात् पक्षी का पुत्र ।

यास्काचार्य यहां ऋग्वेद के पदकार शाकल्य की आलोचना करते हुए कहते हैं कि शाकल्य ने 'वायः' का 'वा' और 'यः' पदच्छेद किया है, यह ठीक नहीं—(१) ऐसा करने से 'न्यधायि' आख्यात उदात्त हो जावेगा । यद्वृत्तान्नित्यम् (८.१.६६) पाणिनि-सूत्र है । जिन पदों में 'यत्' शब्द वर्तमान हो, उसे 'यद्वृत्त' कहते हैं । उस यद्वृत्त से परे तिङन्त नित्य अनुदात्त नहीं होता, अर्थात् सदा उदात्त होता है । 'वा' 'यः' पदच्छेद करने से 'यत्' शब्द वर्तमान है, अतः 'न्यधायि' आख्यात उदात्त हो जावेगा । परन्तु यह है अनुदात्त, अतः 'वा' 'यः' पदच्छेद ठीक नहीं । (२) शाकल्य के मत में दूसरा दोष यह आता है कि मंत्र का अर्थ अधूरा रहता है, मंत्र की संगति ठीक २ नहीं लगती । अतः, 'वायः' पदच्छेद ही ठीक है, 'वा' 'यः' नहीं ।

१२५. रथर्यति — रथर्यतीति सिद्धस्तत्प्रेप्सुः, रथं कामयत इति वा । 'एष देवो रथर्यति' इत्यपि निगमो भवति ।

रथर्यति—(क) 'रथर्यति' का रथाभिलाषी अर्थ प्रसिद्ध है । रथं हर्यति रथर्यति, 'सुपां सुलुक्' से 'सु' का लुक् है । हर्यतिः प्रेप्साकर्मा (निरु० ७. १७ ख०) । इसी प्रकार नाम० पू० १.६. ५ में 'देवयति' शब्द देवकाम के लिए प्रयुक्त है । (ख) रथं कामयते रथीयति—रथर्यति । एवं, प्रथम निर्वचन में 'रथर्यति' नाम है और दूसरे में आख्यात ।

एष देवो रथर्यति पवमानो दशस्यति ।
आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ९. ३.५

देवता—पवमानः सोमः । (एषः रथर्यति पवमानः देवः) यह रमणस्थान परमेश्वर की कामना वाला पवित्र तथा तेजस्वी शान्त विद्वान् (दशस्यति) सुख प्रदान करता है, (वग्वनुं आविष्कृणोति) और वेदवाणी से संभजनीय ज्ञान को प्रकाशित करता है ।

वग्=वाच्, पाली में 'वची' प्रयुक्त होता है ।

११६. असक्राम् — 'धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्' । असंक्रमणीम् ॥६।२८॥

असक्रा = असंक्रमणी = वियुक्त न होने वाली । नञ् सम् क्रम् ड, स्त्रीलिङ्ग में टाप् ।

पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णं धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्। स्तुतश्च वां माध्वी सुष्टुतिश्च रसाश्च ये वामनुरातिमग्मन् ॥६.६३.८

देवता—अश्विना। (पुरुभुजा वां हि देष्णं पुरु) हे बहुपालक राजा तथा राजपुरुषो! निश्चय से तुम्हारा दान प्रजा की इच्छाओं को पूर्ण करने वाला हो, (असक्रां धेनुं न इषं पिन्वतम्) तुम हमारे से कभी दूर न होने वाले गोदुग्ध तुल्य अन्न का सिंचन करो। (वां स्तुतः च, माध्वी सुष्टुतिः च, ये वां रसाः च) तुम्हारा प्रशंसित कर्मचारीवर्ग और मधुर वाणी तथा जो तुम्हारे अन्नादि रस हैं, (अनुरातिं अग्मन्) वे सब हमें दान में प्राप्त हों॥ ६।२८॥

※ षष्ठ पाद ※

११७. आधवः — आधव आधवनात्। 'मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्' इत्यपि निगमो भवति।

आधव—प्रेरक, स्थिरीकर्ता। 'धूञ्' कम्पने, या 'धु' गतिस्थैर्ययोः से 'अच'।

मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन्।
मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् ॥ १०.२६.४

देवता—पूषा। (देव पूषन्!) हे पूज्य पोषक प्रभो! (वयं त्वा अस्माकं मतीनां च साधनं) हम आप को अपनी बुद्धियों के साधक (विप्राणां च आधवं) और ब्राह्मणों के प्रेरक, या उन को स्थिरता देने वाला (मंसीमहि) मानते हैं।

११८. अनवब्रवः — अनवब्रवोऽनवक्षिप्तवचनः। 'विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः' इत्यपि निगमो भवति॥१।२६॥

अनवब्रव = अनवक्षिप्तवचन = अवक्षिप्त अर्थात निरर्थक वचनों से रहित। ब्रव = वचन, अवब्रव = अवक्षिप्त वचन ॥१।२९॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ १०.८४.५

देवता—मन्युः। (मन्यो विजेषकृत्) हे मन्यु! तू विजयकर्ता है, (इन्द्रः इव अनवब्रवः) और राजा की तरह निरर्थक उन्मत्त वचन बोलने वाला नहीं। (इह अस्माकं अधिपाः भवः) तू यहां हमारे अन्दर हमारा अधिपति हो। (सहुरे! ते प्रियं नाम गृणीमसि) हे सहन शक्ति को देने वाले! तेरे प्रिय अवस्थान की हम स्तुति करते हैं। (यतः आबभूथ, तं उत्सं विद्म) हे मन्यु! तुम जहां से पैदा होते हो, हम उस मन्यु के कूप परमेश्वर को जानते हैं।

'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' में परमेश्वर को मन्युस्वरूप समझते हुए, उससे मन्यु की प्रार्थना करते हैं। मन्यु-क्रोध की पहिचान यह है-(१) मन्यु-वान् मनुष्य विजयी होता है। (२) कोई अवलिप्त वचन नहीं बोलता। (३) उसकी सहनशीलता नष्ट नहीं होती। (४) और मन्यु सब के लिये प्रिय है। क्रोध में ये बातें नहीं पायी जातीं ॥११२९॥

११९. सदान्वे
१२०. शिरिम्बिठः

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥

अदायिनि काणे विकटे। काणोऽविक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः, कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः। कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यते अनुकणतीति। मात्राणूभावात्कणः, दर्शनाणूभावात्काणः। विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः, कुटतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकुटितो भवति। गिरिं गच्छ सदानोनुवे शब्दकारिके। शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः—शिरिम्बिठो मेघः, शीर्यते बिठे। बिठम् अन्तरिक्षम्, बिठं वीरिटेन व्याख्यातम्। तस्य सत्त्वरुदकैरिति स्यात्, तैस्त्वा चातयामः। अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतोऽलक्ष्मीनिर्णाशयाञ्चकार तस्य सत्त्वैः कर्मभिरिति स्यात्, तैस्त्वा चातयामः। चातयतिर्नाशने।

उपर्युक्त मंत्र का देवता 'अलक्ष्मीघ्न' है। इस संपूर्ण सूक्त में (१०.१५५) दुष्काल-नाश के उपाय बतलाये गये हैं। प्रस्तुत मंत्र में दो उपाय कहे हैं—(१) वृष्टि के लिए यत्न किया जाये। वृष्टि के होने पर दुष्काल का नाश होजाता है। अन्यत्र स्थल पर इसके लिए 'वर्षकामेष्टि' यज्ञ का विधान किया गया है (देखिए १२७ पृ०)। (२) राज्य की ओर से अन्न बांटा जावे।

अब आप मंत्रार्थ देखिए—

(अरायि काणे) हे कृपण, विकृत (विकटे सदान्वे) भयङ्कर रूप वाली तथा मुद्दा मनाने वाली अलक्ष्मी! (गिरिं गच्छ) तू निर्जन स्थान में भाग जा। (तेभिः शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः) हम यत्न से निर्मित उन अन्तरिक्ष के जलों से

(त्वा चातयामसि) तुझे नष्ट करते हैं। अथवा, हम दस्यु-नाशक राजा के उन कर्मों से तुझे दूर करते हैं।

अरायि = अदायिनि। काण—(क) विक्रान्तं विगतं दर्शनं चक्षुः यस्य सः काणः। एवं, 'क्रम्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके क्राम—काण की सिद्धि औपमन्यव करता है। (ख) अथवा, स्वल्पार्थक 'कण' धातु से 'घञ्'। 'कण' धातु प्रायः शब्द के अणुभाव में बोली जाती है, जैसे अनुकणति—धीरे २ बोलता है। परन्तु, सामान्यतः अणुभाव मात्र में इस का प्रयोग दीखता है। स्वल्प मात्रा वाला होने से 'कण' कहा जाता है, और स्वल्प दृष्टि के होने से 'काण' का प्रयोग है। विकट—(क) 'वि' पूर्वक 'कटी' गतौ से 'घञ् प्रत्यय। भयंकर वस्तु की निराली गति होती है। यह निर्वचन औपमन्यव करता है। (ख) अथवा, 'वि' पूर्वक विपरीतार्थक, 'कुट' कौटिल्ये धातु से 'घञ्'। भयङ्कर वस्तु कुरूप होती है। सदान्वे = सदानोनुवे! शब्दकारिके! यहां 'नु' धातु शब्दार्थक मानी गई है। 'सदा' पूर्वक यङ्लुगन्त 'नु' धातु से 'अच' गुणाभाव और 'टाप'। 'सदान्वा' का संबोधन 'सदान्वे' है।

शिरिम्बिठ—(क) मेघ. 'बिठ' अन्तरिक्षवाची है। बिठे शीर्यते इति शिरिम्बिठः, अन्तरिक्ष में इस मेघ का हनन किया जाता है। 'शिरि-हनन, 'शॄ' हिंसायाम् से 'इ' प्रत्यय (उणा० ४. १४३)। शिरिः बिठे यस्य सः शिरि-बिठः—शिरिम्बिठः। 'बिठ' का निर्वचन 'बीरिट' के अनुसार कीजिए (निरु० ५. ७७)। यहां 'इटन्' के स्थान पर 'ठ' प्रत्यय है, केवल इतना ही भेद है। (ख) राजा। बीरिट का दूसरा अर्थ 'गण' है, उसीप्रकार 'बिठ' भी गणवाची हुआ। शिरिः बिठस्य शत्रुगणस्य येन सः शिरिम्बिठः। राजा प्रभूत अन्न को धारण करने वाला होता है, अतः उसे भरद्वाज (भरत्+वाज) या भार-द्वाज कहा जाता है। 'कालकर्ण' शब्द दुर्भिक्ष का वाचक है। पालीभाषा में 'कालकण्णी' शब्द अलक्ष्मी के लिये प्रयुक्त होता है। कालं सुकालं कन्तति नाशयतीति कालकर्णः, कान्त कृन्ती क्त। प्रचुर अन्न को धारण किए हुये दस्यु-नाशक राजा ने दुष्काल से युक्त होने पर राज्य की ओर से प्रजा में धन बांट कर दुर्भिक्षों को नाश किया था, उन्हीं कर्मों से हे अलक्ष्मी! हम तेरा नाश करते हैं। एवं, द्वितीय अर्थ में 'तेभिः' के भाव को स्पष्ट करने के लिए यास्क ने 'भारद्वाजः......निर्णाशयाञ्चकार' यह लिखा है। अर्थात्, यह दुष्काल-नाशन-कर्म भूत वर्तमान और भविष्यत् में, सदा राजाओं को पालना चाहिए। सत्त्व = जल, कर्म। चुरादि-गणी 'चत' धातु नाशनार्थक मानी गई है।

१२२. पराशरः

पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे । 'पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः' इत्यपि निगमो भवति । इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते, पराशातयिता यातूनाम् । 'इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः' इत्यपि निगमो भवति ।

पराशर = अठतालीस वर्ष के आदित्य ब्रह्मचारी का पुत्र । पराशीर्ण = वसिष्ठ = स्थविर, उसका पुत्र पराशर कहलावेगा । जो तीसरे दर्जे तक ब्रह्मचर्य-वास करता है, वह वसिष्ठ है, अत एव 'वसु' से 'इष्ठन्' प्रत्यय किया हुआ है । परा शॄ अच्—पराशर, अपत्य-प्रत्यय का लोप । 'जज्ञे' में भूतकाल का प्रयोग क्यों है ? इसके लिये २५१ पृ० देखिए ।

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः । न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् ॥७.१८.२१

देवता—इन्द्रः । (पराशरः, शतयातुः, वसिष्ठः) हे राजन् ! ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी का पुत्र, सब दुर्गुणों का नाशक और आदित्य ब्रह्मचारी–ये सब महात्मा जन (त्वाया) यदि तेरी नीति के कारण (गृहात् अममदुः) गृहस्थाश्रम को पाकर अत्यन्त प्रसन्न रहें, (ते भोजस्य सख्यं न मृषन्त) तो वे तुझ राष्ट्र-पालक के सख्य को नहीं छोड़ते । (अध) और उन विद्वानों के साथ मित्रता के होने पर (सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्) उन विद्वानों के संग से सदा उत्तम दिन आते हैं ।

गृहात् = गृहं प्राप्य, 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' से पञ्चमी विभक्ति है ।

'इन्द्र को भी पराशर कहा जाता है, क्योंकि वह शत्रुओं का बड़ा दमन करता है । परा शद् रक्, 'द्' का लोप ।

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम् । अभीदु शक्रः परशुर्यथा वन पात्रेव भिन्दन्सत एति रक्षसः॥७.१०४.२१

देवता—इन्द्रः । (इन्द्रः) राजा (हविर्मथीनां) यज्ञ-विध्वंसक,(अभ्याविवासतां) और धर्म कर्म का निर्वासन करने वाले (यातूनां) आततायिओं का (पराशरः अभवत्) संपूर्णतया दमन करने वाला हो । (इत् उ शक्रः) और शक्तिशाली राजा, (यथा परशुः वनं) जैसे कुल्हाड़ा वृक्ष को काट डालता है, (पात्रा इव) और जैसे मुद्गर मट्टी के पात्रों को तोड़ देता है, (सतः रक्षसः भिन्दन् अभ्येति) एवं,प्राप्त राक्षसों का नाश करता हुआ सुखसम्पत्ति को पाता है ।

१२२. क्रिविर्दती

क्रिविर्दती विकर्त्तनदन्ती। 'यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती' इत्यपि निगमो भवति ॥२।३०॥

क्रिविर्दती = विकर्त्तनदन्ती = काटने वाले दांतों से युक्त। विकृन्त्—कृवि-क्रिवि, क्रिविर्दन्ती—क्रिविर्दती।

यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुनारिष्टग्रामाः सुमतिं पिपर्त्तन। यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती रिणाति पश्वः सुधितेव बर्हणा ॥ १.१६६.६

देवता—मरुतः। (अरिष्टग्रामाः उग्राः मरुतः) सङ्घशक्ति से सम्पन्न तेजस्वी विद्वानो! (यूयं नः सुमतिं सुचेतुना पिपर्त्तन) आप हमारी शिक्षा को विज्ञान से परिपूर्ण कीजिए। (यत्र वः क्रिविर्दती दिद्युत् रदति) जिस विज्ञान में तुम्हारी काटने वाले दांतों वाली विद्युत् खोदने का काम करती है, (बर्हणा सुधिता) तथा बहुत मात्रा में सुस्थापित की हुई (पश्वः इव रिणाति) पशुओं के समान ले जाती है।

एवं, इस मंत्र में Eengraving तथा यानों का कार्य विद्युत् से लेने की शिक्षा दी गई है। यहां विद्युत् की नोकीली धाराओं को काटने वाले दांत कहा गया है ॥ २। ३० ॥

१२३. करूळती

करूळती कृत्तदती। अपि वा देवं कश्चित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वेवमवक्ष्यत्।

वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती ॥ ४.३०.२४

वामं वननीयं भवति। आदुरिरादरणात्। तत्कः करूळती? भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। पूषेत्यपरम्, सोऽदन्तकः। 'अदन्तकः पूषा' इति च ब्राह्मणम्।

करूळती = कृत्तदती = कटे हुए दांतों वाला, अर्थात् अहिंसक शान्त। कृत्ती कृ, दती के 'द' को 'ळ'। पाली में भी कहीं २ 'द' को 'ळ' हो जाता है, जैसे उळार (उदार) वेळुरिय (वैदूर्य) आळाहन (आदाहन) इत्यादि।

देवता—इन्द्रः। (आदुरे) हे आदरणीय राजन्! (ते देवः अर्यमा वामं वामं ददातु) तेरा तेजस्वी न्यायाधीश प्रशस्त न्याय प्रदान करे, (करूळती

पूषा वामं) शान्त अर्थसचिव प्रशस्त धन दे, (देवः भगः वामं) और तेजस्वी शिक्षामंत्री प्रशस्त ज्ञान प्रदान करे, (वामं) एवं, सब राजकर्मचारी प्रशस्त पदार्थ का ही प्रदान करें।

'करूळती' भग का विशेषण है या पूषा का, इस में मतभेद है। कई इसे 'भग' का विशेषण मानते हैं, क्योंकि इसका पाठ 'भग' के समीप है। और, दूसरे पूषा का विशेषण समझते हैं, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण ने 'अदन्तकः पूषा' (८.७.३) लिखते हुए पूषा को अदन्तक कहा है।

वाम—यह संभजनीय होता है, वन् + मक्। आदुरि—आ दृ इ।

१२४. दनः 'दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः' । दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृदुवाचः कुरु।

दनः—दानमनसः। 'दानमनस्' का संक्षिप्त रूप 'दनस्' है, और 'सुपां सुलुक्' से 'शस्' का लुक्।

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्।
ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः ॥ १.१७४.२

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र! दनः विशः मृध्रवाचः) हे राजन्! कर-प्रदाता प्रजा को शिक्षा द्वारा मधुरवाणी वाली बनाइए, (शारदीः) शरत् आदि छहों ऋतुओं के अनुकूल (सप्त यत्पुरः) विस्तृत प्रयत्नसाध्य-नगरिओं को (शर्म दर्त्) सुखप्रद बनाइए। (अवनद्य!) तथा हे पापरहित राजन्! (यूने पुरुकुत्साय) आप पुरुषार्थी कृषकों के लिए (अर्णाः अपः ऋणोः) नहरों के जल पहुंचाइएं। (वृत्रं रन्धीः) एवं, इन साधनों से क्लेश का नाश कीजिए, तथा ऐश्वर्य को प्राप्त कीजिए।

एवं, इस मंत्र में कर देने वाले मनुष्यों के लाभार्थ तीन राज-कर्तव्य बतलाये गये हैं—(१) शिक्षा-प्रदान। (२) छहों ऋतुओं के अनुकूल नगर बसाना, जिस से सदा सुख मिले। (३) और, कृषकों के लिये नहरों के द्वारा जल पहुंचाना।

मृध्रवाचः = मधुरवाचः। अर्णाः = नद्यः (निघण्टु) पुरुकुत्स—सब कृषक, कृषकमात्र, पृथिवीं कृन्ततीति कुत्सः। वृत्र = दुःख, धन (निघण्टु)। रन्धीः—'रध' हिंसायाम्, रध्यतिर्वशगमने (निरु० १.१२७ग०)।

१२५. शरारुः 'अत्रीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते'। अत्ताम् इव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशारिपुः।

शरारु = संशिशरिषु = जिघांसु. 'शॄ' धातु से ताच्छील्य अर्थ में 'आरु' प्रत्यय विहित है, (पा०३.२.१७३) परन्तु यहां इच्छा अर्थ में किया गया है।

अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते । उताहमस्मि

वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १०.८६.८

देवता—इन्द्रः । (अयं शरारुः मां अवीरां इव अभिमन्यते) यह मुझे मारने की इच्छा रखने वाला मूर्ख मनुष्य मुझे अवीरा सी समझता है। (उत अहं वीरिणी अस्मि) परन्तु मैं वीराङ्गना हूं, (इन्द्रपत्नी) अपने आत्मा की रक्षा करने वाली हूं, (मरुत्सखा) और प्राण अपान आदि वायुएं मेरे मित्र हैं, (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) तथा मेरा आत्मा संपूर्ण प्राकृतिक जगत् से ऊपर उठा हुआ है।

'उत्तर' की विशेष व्याख्या २४ पृ० पर देखिए।

१२६. इदंयुः

इदंयुरिदं कामयमानः । अथापि तद्वदर्थे भाष्यते, 'वसूयुरिन्द्रः' वसुमानित्यत्रार्थः । 'अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः' इत्यपि निगमो भवति ॥ ३ । ३१ ॥

इदंयु—(क) 'इदम्' से वाञ्छित वस्तु का निर्देश किया गया है। उस वस्तु-वाची शब्द से कामना अर्थ में 'यु' प्रत्यय होता है। जैसे अध्वर्यु, वसूयु इत्यादि। कामना अर्थ में 'यु' प्रत्ययान्त अध्वर्यु (४२ पृ०) और वसूयु (६.२३ श०) का उदाहरण यास्काचार्य दे चुके हैं, अतः कामना अर्थ में यहां कोई उदाहरण नहीं दिया। (ख) 'मतुप्' अर्थ में भी 'यु' प्रत्यय होता है, जैसे निम्न मंत्र में 'इन्द्र' को वसूयु, अर्थात् वसुमान् कहा है।

इन्द्रो अश्रायि सुध्यो निरेके पज्रेषु स्तोमो दुर्यो न यूपः ।

अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्र इद्रायः क्षयति प्रयन्ता ॥ १.५१.१४.

देवता—इन्द्रः । (इन्द्रः निरेके सुध्यः अश्रायि) राजा संदेहस्थल में बुद्धिमानों का आश्रय ले। अर्थात्, बुद्धिमानों से पूछ कर संदेह-निवृत्ति करे। (पज्रेषु स्तोमः) तथा उपार्जन-कर्मों में प्रशस्त, (दुर्यः न यूपः) द्वारस्थ स्तम्भ की तरह राष्ट्र-स्तम्भ, (अश्वयुः गव्युः रथयुः वसूयुः) और घोड़ों गौओं रथों तथा धनों से युक्त होकर (इत् प्रयन्ता इन्द्रः) ही नियामक राजा (रायः क्षयति) समग्र ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है ॥ ३।३१ ॥

१२७. कीकटेषु

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् । आ नो भर प्रमगन्दस्य

वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥ ३.५३.१४

कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः । कीकटाः किंकृताः, किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा । नैव चाशिरं दुहे न तपन्ति घर्मं हर्म्यम् । आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि । मगन्दः कुसीदी माङ्गदः, मामागमिष्यतीति च ददाति, तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः, प्रमदको वा, योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः, पण्डको वा । पण्डकः पण्डगः, प्रार्दको वा, प्रार्दयत्याण्डौ । आण्डौ, आणी इव व्रीडयति तत्स्तम्भे । नैचाशाखं नीचाशाखो नीचैःशाखः । शाखाः शक्नोतेः । आणिररणात् । तन्नो मघवन् रन्धयेति, रध्यतिर्वशगमने ॥ ४ । ३२ ॥

कीकटाः—अनार्यदेश, कीकट = अनार्य । (क) किंकृत, इन के कर्मों से स्वयं इन्हें या अन्य मनुष्यों को कुछ सुख नहीं मिलता, किं कृतैरेषाम् इति किंकृताः । (ख) अथवा, कृत अर्थात् वैदिक कर्मों से क्या होता है—ऐसे जिन के अभिप्राय हैं, उन्हें 'किंकृत' कहेंगें । किंकृत का ही रूपान्तर 'कीकट' है । पत्नी में भी यहां 'कीकट' रूप होता है ।

देवता—इन्द्रः । (कीकटेषु गावः ते किं कृण्वन्ति) हे राजन् ! अनार्य-देशों में गौएं आपका क्या उपकार करती हैं ? कुछ नहीं, क्योंकि वहां वे लोग (न आशिरं दुह्र) न दूध को दोहते हैं, (न घर्मं तपन्ति) और नाही अग्नि-कुण्ड को सन्तप्त करते हैं, अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञ करते हैं । (प्रमगन्दस्य वेदः नः आभर) अतः, हे राजन् ! उन प्रमादियों का, अथवा उन का और ब्याज-खोरों का, अथवा उनका और नपुंसक जनों का धन उन से छीन कर हमें प्रदान कीजिए । (मघवन् नः नैचाशाखं रन्धय) एवं, हे मघवन् ! हमारे में से अवनत वंश को चलाने वाले अनार्य को सब तरह से अपने वश में कीजिए ।

ब्याजखोरों को दण्ड देने का विधान 'इन्द्रो विश्वान्बेकनाटान्' मंत्र में पहले भी (६. १०९ प्र०) दिखला आये हैं ।

घर्म = हर्म्य = अग्निकुण्ड । वेदः = धनानि । प्रमगन्द—(क) मगन्द कहते हैं कुसीदी को, क्योंकि मुझे प्रचुर धन प्राप्त होगा—ऐसा सोच कर यह ब्याज पर रुपए देता है । माम् आगमिष्यतीति च ददाति सः माङ्गदः मगन्दः । मगन्द

का अपत्य 'प्रमगन्द' कहलावेगा, अर्थात् अत्यन्त कुसीदिकुलीन। (ख) प्रमादी, प्रमदक-प्रमकद-प्रमगन्द। यह ही जन्म है, परजन्म कोई नहीं—जो इसप्रकार के विचार वाला है, उसे प्रमगन्द कहेंगे। (ग) पण्डक = नपुंसक, पण्डक—पण्डग—पमगण्ड—प्रमगन्द। पण्डक—(क) पण्डं निष्फलत्वं गच्छति प्राप्नोतीति पण्डगः—पण्डकः। (ख) प्रार्दक—पण्डक, हिजड़ा मनुष्य हस्तक्रिया से अण्डकोषों को हिलाता है। अर्दन—लगातार हिलाना। आण्डौ कैसे? आणी इव व्रीडयति तस्तम्भे एतौ इति आण्डौ, आणि व्रीड-आण्ड। 'आणि' से यहां क्या अभिप्राय है, यह चिन्तनीय है। नैचाशाख = नीचाशाख = नीचैःशाख। शाखा—यह 'शक्ल' धातु से सिद्ध होता है (देखिए २८ पृ०) जैसे वृक्ष की शाखाएं फैली हुई होती हैं, एवं यह वंश है॥४। ३२॥

१२८. बुन्दः बुन्द इषुर्भवति, भिन्दो वा भयदो वा भासमानो द्रवतीति वा।

तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा॥ ८.७७.११

तुविक्षं बहुविक्षेपं, महाविक्षेपं वा ते सुकृतं सूमयं सुसुखं धनुः। साधयिता ते बुन्दो हिरण्ययः। उभौ ते बाहू रण्यौ रमणीयौ सांग्राम्यौ वा, ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ वा, मर्मण्यर्दनवेधिनौ गमनवेधिनौ वा।

बुन्द = बाण। (क) भिन्दः, ये शत्रु को चीरते हैं, 'भिदिर्' विदारणे से 'घञ्' भिन्द—बुन्द। (ख) भयदः, इन से शत्रु भयभीत होता है। भियं ददातीति भिदः—बुन्दः। (ग) ये बड़े तेजस्वी वेग से जाते हैं, भास् द्रव—बुन्द।

देवता—इन्द्रः। (ते सुकृतं सूमयं धनुः तुविक्षं) हे राजन्! तेरा सधा हुआ तथा प्रजा को सुख देने वाला धनुष बहुत बाणों के फेंकने वाला है, या बड़ी दूर तक बाण छोड़ने वाला है, (हिरण्ययः बुन्दः साधुः) तेजस्वी बाण अभीष्ट-सिद्धि कराने वाला है, (उभा ते बाहू रण्या) और तेरी दोनों भुजाएं रमणीय तथा संग्राम के योग्य हैं। (सुसंस्कृते) ये तेरी बाहुएं सधी हुई, (ऋदूपे) निरन्तर गति से शस्त्रास्त्र चलाने वालीं, (चित् ऋदु-

वृधा) और शत्रु के मर्मस्थल में पहुंचकर उन्हें बींधने वाली हैं।

तुविक्ष = बहुविक्षेप, महाविक्षेप । सुमय = सुसुख, मय = सुख । साधु = साधयिता । रण्य = रमणीय, सांग्राम्य । ऋदूपे—अर्दनपातिनी = गमनपातिनी। अर्द् पत् ड और 'ऊ' का आगम । चित् = मर्मणि, 'सुपा सुलुक्' से सप्तमी का लुक् । ऋदूवृधा = अर्दनवेधिनी = गमनवेधिनी । यहां 'वृध' धातु वेधनार्थक मानी गई है ।

निराविध्यद् गिरिभ्य आधारयत्पक्वमोदनम् ।
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ॥ ८.७७.६

निरविध्यद् गिरिभ्य आधारयत्पक्वमोदनम् उदकदानं मेघम् इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ॥ ५ । ३३ ॥

देवता—इन्द्रः । (इन्द्रः बुन्दं स्वाततं) सूर्य अपने रश्मि-बाण को फैलाकर (गिरिभ्यः पक्वं ओदनं) मेघों में से पके हुए मेघ को (निराविध्यत्) बींधता है (आधारयत्) और अन्य मेघों को धारण करता है ।

ओदनम् = उदकदानं मेघम्, उदकदान—ओदन ॥ ५ । ३३ ॥

१२९. वृन्दम्
१३०. किः

वृन्दं बुन्देन व्याख्यातम्, वृन्दारकश्च ।

वृन्द और वृन्दारक, समूहवाची हैं, उनकी व्याख्या भी 'बुन्द' के समान समझ लेनी चाहिए। संघ शत्रु का विदारण करता है, उसे भयभीत करता है, और उसकी गतिओं में तेजस्विता है ।

'वृन्द' से स्वार्थ में 'आरक' प्रत्यय करने पर 'वृन्दारक' सिद्ध होता है ।

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः ।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥ १०.५२.३

अयं यो होता कर्ता स यमस्य कमप्यन्नम् अभिवहति यत् समश्नुवन्ति देवाः । अहरहर्जायते मासे मासे, अर्द्धमासे ऽर्द्धमासे वा । अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम् ॥ ६ । ३४ ॥

किः = कर्ता, 'कृ' धातु से 'इस' प्रत्यय और 'ऋ' का लोप ।

देवता—अग्निः । (यः अयं होता, सः यमस्य किः उ) यह जो हवन-साधक अग्नि है, वह शुद्ध वायु का कर्ता है । (कम् अपि ऊहे) यह अग्नि सुखकार्थ अन्न

को भी प्राप्त कराती है, (यत् देवाः समञ्जन्ति) जिसे आर्य लोग प्राप्त करते हैं। (अहः अहः जायते, मासि मासि) यह यज्ञाग्नि प्रतिदिन, प्रतिमास और प्रतिपक्ष में पैदा होती है। (अथ देवाः हव्यवाहं दधिरे) एवं, आर्यलोग हव्यवाह यज्ञाग्नि को सदा धारण करते है। एवं, इस मंत्र में प्रतिदिन के हवन, और पाक्षिक तथा मासिक इष्टियों का विधान है

क = अन्न । ऊह = अभिवहति । समञ्जन्ति = समश्नुवन्ति । मास = मास, पक्ष ॥ ६ । ३४ ॥

१३१. उल्बम्

उल्बमूर्णोतेः, वृणोतेर्वा। 'महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्' इत्यपि निगमो भवति ॥ ७ । ३५ ॥

उल्ब = आवरण, आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' या 'वृञ्' धातु से 'व' प्रत्यय।

महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः ॥ १०.५१.१

देवता—अग्निः। (जातवेदः अग्ने!) हे सर्व पदार्थों में विद्यमान विद्युत्! (तत् उल्बं महत्, तत् स्थविरं आसीत्) वह आवरण महत्परिमाण वाला और चिरन्तन है (येन आविष्टितः आपः प्रविवेशिथ) जिस से घिरे हुए तुम जलों में प्रविष्ट हो। (ते विश्वाः तन्वः) तेरे संपूर्ण शरीरों को (एकः देवः बहुधा अपश्यत्) कोई बड़ा वैज्ञानिक अनेक साधनों से देखता है ॥७।३५॥

१३२. ऋबीसम्

ऋबीसम् अपचितभासम्, अपगतभासम्, अपहृतभासम्, गतभासं वा।

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥

हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथाम्, अन्नवतीं चास्मा ऊर्जमधत्तमग्नये। योऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरोषधिवनस्पतिष्वप्सु, तमुन्निन्यथुः। सर्वगणं सर्वनामानम्। गणो गणनाद्‌ गुणश्च। यद्‌ वृष्ट ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनोः रूपं, तेनैतौ स्तौति स्तौति ॥ ८ । ३६ ॥

ऋबीस = पृथिवी । (१) अपचितभासम्, अपचित+भास—ऋभास—ऋबीस । (२) अपगतभासम्, अप ऋत+भास—ऋबीस । (३) अपहृतभासम्, अपहृ भास—हृभास—ऋबीस । (४) अन्तर्हितभास—ऋबीस । (५) गतभासम्, ऋत भास—ऋबीस । पृथिवी में प्रकाश सूर्य से पृथक् करके चिना हुआ है, सूर्य से पृथक् होकर गया हुआ है और सूर्य से आहरण किया हुआ है, तथा यह प्रकाश पृथिवी के अन्दर रखा गया है या पृथिवी में गया हुआ है। एवं, इन निर्वचनों से सिद्ध होता है कि पृथिवी स्वयं प्रकाशमान नहीं। 'अपीच्यम्' के निर्वचनों से इन की तुलना कीजिए (२९० पृ०) ।

उपर्युक्त मंत्र (१.११६.८) का देवता 'अश्विनौ' है। मंत्रार्थ देखिए—

(अश्विनौ) हे सूर्य तथा पृथिवी ! (हिमेन अग्निं घ्रंसं अवारयेथाम्) तुम ग्रीष्मान्त में जल के द्वारा अग्नि की तरह दाहक गर्मी के दिनों को दूर करते हो, (ऋबीसे अवनीतं अत्रिं उन्निन्यथुः) पृथिवी के अन्दर गई हुई अग्नि को ऊपर निकाल देते हो, (अस्मै पितुमतीं ऊर्जं अधत्तम्) और इस अग्नि-होत्री प्रजावर्ग के लिये प्रशस्त अन्न से संयुक्त बल को प्रदान करते हो। (सर्वगणं स्वस्ति) तब सर्व प्राणिओं का कल्याण होता है।

इस मंत्र में ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु का वर्णन है। ग्रीष्म के दिन बड़े तीक्ष्ण और ताप देने वाले होते हैं। पृथिवी के भीतर इतना ताप रहता है कि उस 'अत्रि' नामी ताप से सब ओषधि वनस्पतिएं दग्ध हो जाती हैं। फिर, वर्षा काल में वृष्टि होती है, दिन ठंडे हो जाते हैं, पृथिवी का ताप निकल जाता है ओषधि वनस्पति क्षेत्रों में वनों में सर्वत्र लहलहाने लगती हैं, और प्राणिओं को सुख मिलता है।

हिम = उदक। ऋबीसे अत्रिम् = योऽयं पृथिव्याम् अग्निः अन्तरौषधिवनस्पतिषु अप्सु, तम्। 'अत्तीति अत्रिः' निर्वचन से 'अत्रि' शब्द पृथिवीस्थ अग्नि का नाम है। सर्वगणम् = सर्वनामानम् = सब नाम वालों को = सब प्राणिओं को। गण तथा गुण, दोनों शब्द संख्यानार्थक 'गण' धातु से निष्पन्न होते हैं, ये दोनों गणनीय होते हैं।

मंत्र का संक्षिप्त अर्थ यास्काचार्य 'यद् वृष्टे ओषधयः' आदि से बतलाते हैं कि वृष्टि के होने पर जो पृथिवी पर ओषधियें और प्राणी उत्पन्न होते हैं—यह सूर्य तथा पृथिवी की ही महिमा है। इस महिमा से उन अश्विओं की वेद स्तुति करता है।

स्तौति ... [illegible] समाप्ति के कारण किया गया है।

डा. चन्द्रमणि विद्यालंकार